एम.ए. (संस्कृत) पूर्वार्द्ध — सैमेस्टर-I

प्रश्नपत्र : 101 – वैदिक वाङ्मय : ऋक संहिता एवं निरुक्त

भाग 'ग' – निरुक्त

अध्ययन सामग्री : 2(1–10)

मुक्त शिक्षा विद्यालय
(मुक्त शिक्षा परिसर)
दिल्ली विश्वविद्यालय

संस्कृत-विभाग
सम्पादिका : डॉ. रमा जैन

स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम

वैदिक वाड्मय : ऋक संहिता एंव निरुक्त

विषय सूची

भाग - ग

सम्पादिकाः
डॉ. रमा जैन

मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

पाठ १

यास्क का भाषा चिन्तन और पूर्ववर्ती आचार्य

विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ विश्व के क्षितिज पर सर्वप्रथम भाषा का दिव्य प्रकाश फैला था और उसने सारी मानव जाति को अभिभूत कर दिया था। 'इयं' या परमेष्ठिनी वाक् देवी ब्रह्मसंशिता' (अथर्ववेद)। इस भाषा के चमत्कार ने मानवीय सम्वेदनाओं को एक दूसरे तक पहुँचाने का सुगम एवं सरल उपाय प्रस्तुत किया। 'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके' (निरुक्त)। फिर प्रारम्भ हुआ भाषा पर सर्वतोमुखी चिन्तन। कभी 'अर्थ' पर, तो कभी पद-विभाजन पर विचार हुए। निर्वचनों एवं व्याकरणगत संस्कारों पर आचार्यों ने अपने मन्तव्य प्रस्तुत किए। वेदों से प्रारम्भ कर आधुनिक युग तक भारतीय मनीषी भाषा की गहन परतों को उद्घाटित करने में लगे हुए हैं। विशेषता भारत की यह रही है कि जब सारा विश्व अज्ञान के अन्धकार में सोया था, तब हमारे ऋषि एवं आचार्य भाषा के विविध पक्षों पर चिन्तन प्रारम्भ कर चुके थे।

मानुषावाक या लोकभाषा

प्राचीनतमकाल में आर्य (सज्जन) और विद्वान् (ब्राह्मण), ऋषि आदि दो प्रकार की भाषा बोलते थे—दैवी और मानुषी वाक्। स्वयं यास्काचार्य ने किसी ब्राह्मण ग्रन्थ से उद्धृत किया है कि ब्राह्मण(विद्वान्) दैवी और मानुषी वाक् बोलता है—'तस्मात् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति। या च देवानां या च मनुष्याणाम्, (निरुक्त ३-८)।

अन्यत्र भी लिखा मिलता है—तस्माद् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति दैवीं मानुषीं च।' (काठक सं० १४१५)। मानुषी वाक् या लोकभाषा में शब्दराशि वही थी जो अतिभाषा या वेदवाक् में थी, केवल वह संकुचित थी तथा शब्दानुपूर्वी में अन्तर था। इसी तथ्य को भरतमुनि ने (नाट्यशास्त्र १७-१८-२९) और पतंजलि ने लिखा है कि यह मानुषी लोकभाषा सप्तद्वीपा वसुमती (पृथ्वी) पर फैल गई—

अतिभाषा तु देवानामार्य-भाषा तु भूभुजाम्।
संस्कारपाठ्यसंयुक्ता सप्तद्वीपप्रतिष्ठिता॥

'सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः' (महाभाष्य)। लोकभाषा या मानुषीवाक् का संस्कृत नाम अति प्राचीन था। व्याकरणसम्मत शुद्ध भाषा की संज्ञा ही संस्कृत थी। इसके लिए संस्कृत नाम का प्राचीनतम उल्लेख वाल्मीकि रामायण में मिलता है—'वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।'

प्राचीनकाल में इसको लोकभाषा या लौकिकी या मानुषीवाक् ही अधिकतर कहा जाता था। यथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र में—

'लौकिक्या वाचा व्यावर्तते ब्रह्म।' (११-३-६-८)

'मानुषाद् दैव्यमुपेमि (आ० श्रौतसूत्र ५-२-८-१) इसी को यास्क और पाणिनि 'भाषा' कहते हैं। इसी को यास्क ने व्यावहारिकी भाषा कहा है।(निरुक्त ३-९), शब्द की मूल प्रकृति ही साधु या शुद्ध शब्द है और अन्यत्र प्रयोग ही अपशब्द होते हैं। यथा अंग्रेजी में 'स्टेशन' शब्द साधु है, अस्टेशन इसका अशुद्ध रूप या म्लेच्छ रूप है, परन्तु इसकी मूल प्रकृति संस्कृत का 'स्थाम' शब्द है।

विद्वान (शिक्षित) को म्लेच्छ या अपशब्द नहीं बोलना चाहिए।

नाम (संज्ञा) पद

सत्व या द्रव्य (वस्तु) का अभिधान नाम या संज्ञा पद होते हैं, जैसे गौ अश्व, पुरुष, हस्ती। इसी को पाणिनि सुबन्त पद कहता है।

आख्यात

क्रिया (धातु) की संज्ञा आख्यात है जैसे करोति, अस्ति, व्रजति शेते, अगच्छत्, इत्यादि क्रियाएं प्रसिद्ध हैं। व्रज्या, गमन, पचन इत्यादि भाववाचक संज्ञाएं भी आख्यात से उत्पन्न हुईं और आख्यातवत् हैं।

नित्य शब्द

आचार्य यास्क ने औदुम्बरायणाचार्य के मत को यहाँ उद्धृत किया है—

"इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।"

औदुम्बरायण के मत से शब्द या वचन नित्य है और उसका अर्थ के साथ सम्बन्ध भी नित्य है। पाणिनि से पूर्ववर्ती अथवा समकालीन आचार्य व्याडि ने संग्रह नामक लक्ष श्लोकात्मक ग्रन्थ में शब्द के नित्यानित्यत्व पर विस्तार से विचार किया था। उनका मत आचार्य पतञ्जलि 'स्वर और वर्ण से हीन अशुद्ध उच्चारण अपने अभीष्ट विवक्षित अर्थ को नहीं कहता। यह वाणी रूप वज्र यजमान को मार देता है। जिस प्रकार इन्द्र शत्रु-वृत्रासुर स्वरापराध के कारण मारा गया"।

एक-एक शब्द के अपभ्रंश या असाधु शब्द अनेक होते हैं, जैसे गौ शब्द के गावी, गौणी, गोता, गोपोतलिका और इसी प्रकार गाय (Cow) इत्यादि अंग्रेजी या हिन्दी में अपभ्रंश या म्लेच्छ शब्द हैं, शुद्ध या साधु पद केवल 'गौ' है।

शुद्ध शब्द प्रयोग की महिमा आचार्यों ने गाई है। यास्क ने इस सम्बन्ध में वेदमन्त्रों को उद्धृत किया है—

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत"

चलनी से सत्तु के समान विद्वान् मन से वाणी (भाषा) को शुद्ध करते हैं।"

'अर्धेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्। अकल्याणकारी माया का वह आचरण करता है जो फल और पुष्प (शब्दार्थ) हीन वाक् का प्रयोग करता है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत
त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

"कोई मनुष्य देखकर भी भाषा को नहीं देख सकता और कोई सुनकर भी नहीं सुनता।"

लिंग, वचन, काल और कारक आदि का अन्यथा प्रयोग अपशब्द या म्लेच्छ कहलाता है।

पतञ्जलि ने संक्षेप में उल्लिखित किया है—"किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित्कार्यः। संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्। नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति।...तत्र त्वेष निर्णय,—यद्येव नित्यः अथापि कार्यः, उभयथा लक्षणं प्रवर्त्यमिति।"

"शब्द नित्य है अथवा अनित्य ? संग्रह ग्रन्थ में इस पर प्रमुख रूप से विचार किया गया है। वहाँ दोष और प्रयोजन कहे गए हैं। वहाँ निर्णय किया है कि शब्द नित्य भी है एवं अनित्य भी है। पाणिनि आचार्य के मत से शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है—'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे।' सिद्ध शब्द नित्य का पर्यायवाची है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है—व्याडि का मत व्याकरण ग्रन्थों में उद्धृत मिलता है—

सम्बन्धस्य न कर्त्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्॥

'लोक और वेद में शब्दार्थों के सम्बन्ध का कोई पुरुष प्रवर्तक या कर्ता नहीं है। शब्दों द्वारा शब्दों का सम्बन्ध कैसे स्थापित होगा, इसमें अनवस्था दोष होगा।

जैमिनि भी शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानता था, परन्तु अक्षपाद गौतम के मत में शब्दार्थ सम्बन्ध सामयिक या सांकेतिक है। शब्द को इन्द्रियनित्य मानने पर पदों का 'चतुष्ट्य विभाग' उत्पन्न नहीं होता एवं अयुगपत् उत्पन्न शब्दों का एक दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्ध भी नहीं बनता, और शब्दशास्त्रकृत योग नहीं बनता, अतः यास्काचार्य के मत में व्यवहारकाल में शब्द अनित्य और व्याप्तिमान् है और अत्यन्त सूक्ष्म होने से नाम और आख्यातादि की संज्ञाएं लोक में प्रवृत्त हुईं, क्योंकि इनके बिना लोकव्यवहार उत्पन्न नहीं होता।

यास्क के मत में पुरुष विद्या अनित्य है और वेदमन्त्र पदानुपूर्वी नित्य है—'पुरुष विद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।'

कुछ विद्वानों के मत में 'इन्द्रिय नित्यं वचनमौदुम्बरायणः' का अर्थ है, 'शब्द जब तक इन्द्रिय में स्थित है, अर्थात्

उच्चार्यमाणकाल में ही नित्य है, इससे पूर्व या पश्चात् उसका अस्तित्व नहीं, वस्तुतः अनित्य है, अतः इस दृष्टि से पद-चतुष्ट्य विभाग सिद्धान्त अलीक सिद्ध होता है, तदनुसार व्याकरणशास्त्र कृत धातुप्रत्ययविभाग आदि भी अनुचित है।

अन्य मत में 'प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या' सिद्धान्त के अनुसार समस्त पदों को परमात्मा से एक ही काल (युगपत्) में उत्पन्न मानकर उनको नित्य मानते हैं। इस सम्बन्ध में पतञ्जलि के प्रमाण से व्याडि का मत पूर्व लिखा जा चुका है कि शब्द नित्य भी है और अनित्य भी। इस दृष्टि को ही मानकर यास्काचार्य ने लिखा है—'व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य।' क्योंकि शब्द 'व्याप्तिमान्' है, अतः पदविभाग उचित है। शब्द नित्य है और अनित्य भी है। पद या शब्द की ध्वनि प्रत्यक्ष में तो क्षणिक ही है, किन्तु उसकी आकृति (जाति) नित्य है, वस्तुतः आधुनिक विज्ञान से ध्वनि भी नित्य है, वह शाश्वत है और कभी नष्ट नहीं होती।

भाषा के शब्द जीवजन्तु या वृक्ष की भांति नवीन रूप से उत्पन्न नहीं होते, वे शाश्वत और नित्य हैं तथा उनका अर्थ भी नित्य है, शब्दार्थ—सम्बन्ध भी नित्य है। अतः श्रूयमाण और उच्चार्यमाण अवस्था की दृष्टि से शब्द या पद अनित्य हैं या इन्द्रियनित्य है। शब्दस्फोट, अर्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से शब्द नित्य है, वह नष्ट नहीं होता।

अतः औदुम्बरायण और यास्क के मत इस सम्बन्ध में विभिन्न थे जैसा कि भर्तृहरि ने औदुम्बरायण और वार्तांक्ष का मत लिखा है—

> क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्वप्रधानता।
> चत्वारि पदजातानि सर्वमेतद् विरुध्यते॥
> वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थं योगं च लौकिकम्।
> दृष्ट्वा चतुष्ट्यं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ॥ (वाक्यपदीय २।३४१-४३)

'आख्यात क्रिया प्रधान होता है, सत्व प्रधान (द्रव्य प्रधान) नाम या संज्ञा है, पद चतुष्ट्य विभाग अनुपपन्न है, क्योंकि शब्द इन्द्रिय (बुद्धि) में ही स्थित है। अर्थ लोकव्यवहार से ज्ञात होता है, अतः वार्ताक्ष और औदुम्बरायण के मत में पदविभाग-चतुष्ट्य अनुचित है।'

यास्क का मत लिखा जा चुका है कि वे पदचतुष्ट्य विभाग में पूर्ण विश्वास करते थे। श्रुति नित्य है—'छन्दांसि नित्यानि'। इस सिद्धान्त को पतञ्जलि भी मानते थे। अतः यास्क, व्याडि, पाणिनि और पतञ्जलि जैसे भाषाशास्त्री पद को नित्य मानकर पदचतुष्ट्य सिद्धान्त को मानते थे।

पूर्वाचार्य

इस समय केवल यास्ककृत निरुक्तशास्त्र इस विषय का एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ प्राप्य है। परन्तु स्वयं यास्कीय निरुक्त एवं अन्य प्राचीन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यास्क सहित कम-से-कम १४ निरुक्ताचार्यों ने निरुक्तशास्त्र लिखे थे। आचार्य दुर्ग ने लिखा है—'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम् निरुक्तं चतुर्दशधा इति'।' (निरुक्तवृत्ति १-१३, १-२०)।

यास्क ने निरुक्त में १३ निरुक्ताचार्यों का उल्लेख किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) शाकटायन, (२) शाकपूणि, (३) गार्ग्य, (४) औदुम्बरायण, (५) औपमन्यव, (६) वार्ष्यायणि, (७) आग्रहायण, (८) और्णनाभ, (९) तैटीकि, (१०) गालव, (११) स्थौलाष्ठीवि, (१२) क्रौष्टुकि, (१३) कात्थक्य और अन्तिम चौदहवें और सर्वश्रेष्ठ आचार्य स्वयं यास्क हुए। इन सभी पूर्वाचार्यों के मतों का यास्काचार्य ने स्थान-स्थान पर निर्देश किया है, अतः सभी ये यास्क से पूर्व हुए। इन सबका यहाँ संक्षेप में परिचय लिखा जा रहा है।

(१) शाकटायन

यास्क ने निरुक्त में अनेकशः शाकटायन के मतों का उल्लेख किया है, यथा दो मत द्रष्टव्य हैं—

१. "तत्र नामान्याख्यातजानीति नैरुक्तसमयश्च"।"

"शाकटायन एवं अन्य नैरुक्ताचार्यों का सिद्धान्त है कि समस्त नाम (संज्ञाएं) धातुज (आख्यातज) हैं।'

(२) पदेभ्यः—पदेतरार्धान्त्सञ्चस्कारेति शाकटायनः।

"धातु के अर्थ भागों में शाकटायन ने संस्कार किया है।"

शाकटायन के पिता या पूर्वज का नाम शकट था अतः वे शाकटायन कहलाये। इनका वास्तविक नाम अज्ञात है। 'ऋक्तन्त्र' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ भी शाकटायन की रचना है। अनुमान है कि शाकटायन यास्क से कई शती पूर्व हुए।

(२) गार्ग्य

यह भी गोत्र नाम है, वास्तविक नाम इनका भी अज्ञात है, ये शाकटायन और यास्क के मध्यकाल में हुए। पाणिनि ने भी गार्ग्य के वैयाकरणिक मतों का उल्लेख किया है, अतः गार्ग्य नैरुक्ताचार्य और वैयाकरण दोनों ही थे। गार्ग्य और कुछ अन्य वैयाकरण सभी शब्दों को धातुज नहीं मानते—

'न सर्वाणीति गार्ग्यो वयाकरणानां चैके'।" (नि० १-१२)

(३) औदुम्बरायण

यास्क ने केवल एक बार इनके मत का नामतः उल्लेख किया है—'इन्द्रिय नित्यं वचनमौदुम्बरायणः' (नित्य १११)। यह उदुम्बर का पौत्र था, इसका पिता था—'औदुम्बरि'। औदुम्बरायण 'शब्द' को विभाग-रहित अर्थात् अखण्ड मानता था, अतः इन्द्रिय नित्यवचन मात्र कथन से यह नहीं समझना चाहिए कि आचार्य शब्द को नित्य नहीं मानते थे। यास्क ने औदुम्बरायण का अन्य कोई मत उद्धृत नहीं किया है।

(४) औपमन्यव

भारत युद्ध से पूर्व आयोदधौम्य आचार्य के तीन प्रसिद्ध शिष्य थे—'उपमन्यु, आरुणि और वेद'। आयोद धौम्य शिष्य उपमन्यु के पुत्र ही औपमन्यव प्रसिद्ध नैरुक्ताचार्य थे। ये यास्क के पूर्वकालीन आचार्य थे।

इसने यास्क और शाकपूणि के समान निश्चयपूर्वक एक 'निरुक्तशास्त्र' का प्रणयन किया था। यास्क ने १२ स्थलों पर औपमन्यव के निरुक्त से मत उद्धृत किये हैं, इन सब मतों को उद्धृत करना आवश्यक नहीं है, केवल एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण द्रष्टव्य है—काक। 'वचक इति शब्दानुकृतिः। तदिदं शकुनिषु बहुलम्। न शब्दानुकृतिर्यत इत्यौपमन्यवः। (नि० ३-१८)।

'काक' (पक्षी) के बोलने की ध्वनि का अनुकरण है। यह पक्षिनामों में बहुधा पाई जाती है। औपमन्यव के मत में 'काक' शब्द में भी शब्दानुकृति नहीं है। पञ्चजन शब्द के सम्बन्ध में आचार्य शौनक ने यास्क तथा औपमन्यव का मत उद्धृत किया है—

"यस्कौपमन्यवावेतान् आहतुः पञ्च वै जनान्।"

यास्क ने लिखा है—

'चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः।" (नि० ३-८)

(५) वार्ष्यायणि

वसिष्ठ गोत्र के अन्तर्गत वृष या वृषगण आचार्य हुए। वृषगण के पुत्र या वंशज असित वार्षगण प्रसिद्ध सांख्याचार्य थे जो नारद और व्यास के तुल्य लोकसम्पूजित ऋषि थे। इन्हीं वृष के वंश में आचार्य वार्ष्यायणि हुए। इनके धर्म सम्बन्धी मत आपस्तम्ब ने उद्धृत किए हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने बड़े आदर से आचार्य वार्ष्यायणि को 'भगवान्' कहा है—"षड् भावविकारा इति स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः।" प्रायः ऐसा ही लेख यास्काचार्य ने लिखा—"षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः"। आचार्य वार्ष्यायणि के निरुक्तशास्त्र का इस समय कोई संकेत नहीं मिलता।

(६) आग्रयण

इनका मत यास्क ने इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल एक बार किया है। आग्रयण के अनुसार इन्द्र शब्द की निरुक्ति कृ धातु से इस प्रकार है—इदम्+कृ=इदङ्करः=इदंः इदं करणादिति आग्रयणः।

(७) और्णनाभ

यास्क ने निरुक्त में पाँच स्थलों पर उल्लेख किया है—उर्वी नासत्य, होतृ अश्विनौ" और 'प्रेद्धाभिवद्धे पवम्' मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में इनका मत उल्लिखित है। और्णनाभ निश्चय ही नैरुक्त आचार्य थे।

(८) तैटीकि

यकृत (४-३) पर और बिरिट (नि ५-२८) की व्याख्या के सम्बन्ध में तैटीकि आचार्य का मत यास्क ने लिखा है—'श्यामतो यकृत इति तैटीकिः (नि. ४-३) और बीरिट तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह'।

(९) गालव

आचार्य गालव पाञ्चाल देश निवासी थे और बभ्रु के पुत्र थे। अतः इन्हें बाभ्रव्य पाञ्चाल भी कहते हैं। ये पाञ्चालराज ब्रह्मदत्त के मन्त्री भी थे, जो भीष्म के पितामह प्रतीप के समकालीन हुए। अतः गालव का समय पाराशर्य व्यास से कम-से-कम दो शती पूर्व था। आचार्य गालव को ऋग्वेद के क्रमपाठ का कर्त्ता एवं शिक्षा का निर्माता कहा गया है। इनके मतों का उल्लेख निरुक्त के अतिरिक्त ऋक् प्रातिशाख्य, बृहद्देवता और अष्टाध्यायी में भी मिलता है। गालव दीर्घजीवी ऋषि थे जो युधिष्ठिर की सभा में उपस्थित हुए थे—

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते।
पवित्रपाणिः सावर्णी मालुकिर्गालवस्तथा॥ —'महाभारत'

(१०) स्थौलाष्ठीवि

यास्क ने 'वायु' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में इनका मत लिखा है—

"एतेरिति स्थौलाष्ठीविः' अनर्थको वकारः।" (नि० १०-११)

वायु इण् के 'एति' रूप से बना है, ऐसा स्थौलाष्ठीवि का मत है। वकार अनर्थक है। यह निर्वचन विचित्र होते हुए भी सार्थक है। द्वितीय स्थल पर भी इनका नामोल्लेख है।

(११) क्रौष्टुकि

इनका उल्लेख निरुक्त में इन्द्र के पर्याय 'द्रविणोदाः' पद की व्याख्या के प्रसंग में किया गया है। इन्द्र अग्नि का भी एक नाम था।

(१२) कात्थक्य

यास्क ने दैवतविज्ञानसम्बन्धी इनके मत उद्धृत किए हैं। इन्होंने निश्चय ही निरुक्त का प्रणयन किया, जिसमें देवताविज्ञान का विशिष्ट वर्णन होगा। इनके कुछ मत द्रष्टव्य हैं—

'यज्ञेध्म इति कात्थक्यः' (नि० ८।५)
'तनूनपात् आज्यमिति कात्थक्यः' (नि० ८।५)
'नाराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः' (नि० ८।६)
'गृहद्वार इति कात्थक्यः' (नि० ८।१०)

इन वचनों से कात्थक्यः नैरुक्ताचार्य सिद्ध होते हैं।

(१३) शाकपूणि

जिस प्रकार पाणिनि के व्याकरण पर आपिशलि के व्याकरण का सर्वाधिक प्रभाव था, उसी प्रकार यास्क पर शाकपूणि का प्रभाव था। शाकपूणि के पिता का नाम था 'शाकपूण'। अतः यह एक अपत्य नाम था। पुराणों में 'रथीतर' नाम से शाकपूणि का उल्लेख है। शाकपूणि रचित निरुक्तशास्त्र भी यास्क के समान नैघण्टुक और दैवतवृत्तों से पूर्ण था। यास्कीयनिरुक्त के समान शाकपूणि निरुक्त का प्रारम्भ भी पृथिवी के 'गौः' आदि इक्कीस नामों से होता था, ऐसा दुर्गाचार्य ने संकेत किया है—'शाकपूणिस्तु पृथिवीनामन्य एवोपक्रम्ये स्वयमेव सर्वत्र क्रमप्रयोजनमाह'। पं० भगवद्दत्त ने स्पष्ट किया है, 'हिरण्यगर्भ से सूर्य आदि की अपेक्षा भूमि पहले पृथक् हुई थी। अतः निघण्टु का आरम्भ पृथिवी के नामों से हुआ। उसका सारा क्रम भी कारण विशेष रखता है। अतः शाकपूणि ने यास्क के समान निघण्टु और निरुक्त रचे थे। आचार्य शाकपूणि दैवतविज्ञान के विशेषज्ञ थे, जैसाकि यास्क के निम्न कथन से प्रकट होता है—शाकपूणिः संकल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति तस्मै देवतोभयलिंगा प्रादुर्बभूव। तां न जज्ञे। तां पप्रच्छ। विविदिषाणि त्वेति पास्मा एतामृचमादिदेश।'(नि० २-८)

शाकपूणि ने संकल्प किया कि मैं सब देवताओं को जानूं। उसके लिए देवता उभयलिंग प्रकट हुई। वह देवता का स्वरूप नहीं जान सका, तब उसने कहा—हे देवता ! मैं तुम्हें जानना चाहता हूँ। तब देवता ने उसे ऋचा का निर्देश किया। भाव यह है कि देवता का स्वरूप ऋचा से ही ज्ञात होता है तथा शाकपूणीय निरुक्त में दैवतविज्ञान का विशिष्ट वर्णन था।

यास्क ने शाकपूणि के मतों का चौबीस बार उल्लेख किया है जिनमें ग्यारह मत दैवतविज्ञान से सम्बन्धित हैं और शेष तेरह भाषा विज्ञान से। यथा—'अग्निः' की निरुक्ति के सम्बन्ध में शाकपूणि का मत द्रष्टव्य है—'त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते इति शाकपूणिः। इतात्। अक्ताद्। दग्धाद्वा नीतात् 'शाकपूणि इण्' (गति), 'अञ्ज्'(या दह्) और 'नी' (ले जाने) से 'अग्निः' शब्द की व्युत्पत्ति मानता है।

अग्नि देवता सम्बन्धी शाकपूणि का मत द्रष्टव्य है—तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः।' (नि० ७-२८)

अग्नि के तीन रूप हैं—पृथिवी पर (साधारण), अग्नि, अन्तरिक्ष में (विद्युत) और द्युलोक में (सूर्य) रूप।' इसी प्रकार मत और द्रष्टव्य हैं—

'नाराशंस अग्निरिति शाकपूणिः। नरैः प्रशस्यो भवति।' (नि० ८-६)

इत्यादि यास्कोक्त शाकपूणि-मत द्रष्टव्य हैं।

कुलपति शौनकाचार्य

शौनक नाम के अनेक आचार्य थे, क्योंकि यह एक प्राचीन भार्गववंशान्तर्गत गोत्रनाम था। यह आचार्य बह्वृच और कुलपति था, जिसने बृहद्देवता आदि दश ऋक् परिशिष्ट ग्रन्थ लिखे। आश्वलायन और कात्यायन इसी के शिष्य थे। इसी आचार्य को 'कुलपति' संज्ञा से विभूषित किया गया, क्योंकि इन्होंने अनेक दीर्घसत्र किए थे। इनका अन्तिम दीर्घसत्र पाण्डववंशीय राजा अधिसीमकृष्ण के समय (२८०० वि० पू०) हुआ—

'अधिसीमकृष्ण विक्रान्ते राजन्येऽनुपमत्विषि।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रं तु ईजिरे॥' (वायुपुराण ११।३।।५)

शौनक का एक यज्ञ जनमेजय परीक्षित (८० कलिसम्वत्) के समय में भी हुआ। यदि दोनों शौनक एक ही हैं तो शौनक (कुलपति) को दीर्घजीवी (न्यूनतम ३०० वर्ष) मानना पड़ेगा। अन्यथा शौनकवंश में इस नाम के अनेक आचार्य थे ही।

कुलपति शौनक यद्यपि यास्काचार्य से उत्तरवर्ती थे, परन्तु बृहद्देवता ग्रन्थ में इनके निर्वचनविद्यासम्बन्धि निदर्शन हैं, अतः इनका नैरुक्ताचार्यों के साथ उल्लेख अनिवार्य है। यास्क के अनन्तर शौनक वेदविद्या के सबसे बड़े स्तम्भ थे। यास्क से शौनक के समय का एक या डेढ़ शती का अन्तर था। आधुनिक ग्रन्थों में प्रायः कुलपति शौनक का इतिवृत्त नहीं लिखा जाता।

पाठ २

निरुक्त की उपादेयता

आचार्य यास्क का निरुक्त एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। निरुक्त शब्द का प्रयोग केवल शब्दशास्त्र विषयक ग्रन्थ के रूप में नहीं होता था। प्रमुखतः निरुक्त के दो कार्य हैं—(१) शब्दों का भाषाशास्त्रीय निर्वचन, तथा (२) वैदिक देवताओं का स्पष्टीकरण। निरुक्त के प्रथम छः अध्यायों में शब्दों का निर्वचन किया गया है तथा बाद के छः अध्यायों एवं परिशिष्टों में भी देवतापरक विवेचना हुई है तथा कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि निर्वचन-विद्या की अपेक्षा देवविद्या को अधिक महत्त्व दिया गया है।

निरुक्त के प्रणेता यास्क हैं, इसका प्राचीनतम प्रमाण मिलता है शौनक के बृहद्देवता नामक ग्रन्थ में। यास्क का नाम लेकर निरुक्त के कई स्थलों को उद्धृत किया गया है और यास्क के सिद्धान्तों का समर्थन, खण्डन एवं समालोचन किया है। शतपथ ब्राह्मण में भी यास्क के नाम का कई बार उल्लेख हुआ है जो सम्भवतः 'निरुक्तकार' यास्क का ही उल्लेख है। इस निरुक्तशास्त्र की क्या उपादेयता है? तथा भाषा के किन पक्षों पर यास्क ने चिन्तन प्रस्तुत किया है? यही इस पाठ में देखना है। निरुक्त के प्रथम अध्याय में यास्क ने बहुत सारे विषयों पर विवेचन किया है जो आज भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

निरुक्त के प्रथम अध्याय में जिन बातों का वर्णन है, वे ये हैं—(१) निघण्टु का लक्षण, (२) पदों के भेद, (३) भाव के विकार, (४) शब्दों का धातुज सिद्धान्त, और (५) निरुक्त की उपयोगिता। अब हम क्रमशः इन पर विचार करेंगे।

निरुक्त का आरम्भ यास्क ने 'समाम्नायः समाम्नातः' से किया है। समाम्नाय का साधारण अर्थ है संग्रह। वैदिक संहिताओं को आम्नाय कहते हैं। इस प्रकार 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग से अर्थ होगा वैदिक संहिताओं (या साहित्य) से लेकर किया गया संग्रह, चाहे वह अक्षरों का हो या शब्दों का हो। यही वाक्य निघण्टु और निरुक्त की अविच्छिन्नता का द्योतक है। किन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि दोनों यास्क के ही बनाये हैं, क्योंकि आगे यास्क कहते हैं—'इमं समाम्नायं' 'निघण्टवः आचक्षते' अर्थात् इस समाम्नाय को लोग 'निघण्टु' कहकर पुकारते हैं। इससे पता लगता है कि निघण्टु उस समय तक प्रचलित शब्द था। 'निघण्टु' का व्युत्पत्तिजनित अर्थ है, 'अर्थ का द्योतक', 'वेदों से चुनकर जमा किया हुआ' या 'एक साथ कहा गया'।

निघण्टु की आन्तरिक रूपरेखा बतलाकर यास्क इसकी बाह्य-रूपरेखा अध्याय के अन्त में (१।२०) देते हैं। यह लक्षण तर्कशास्त्र की कसौटी पर कसा जाने लायक नहीं किन्तु निघण्टु के विभागों का वर्णन इसमें अत्यन्त स्पष्टता से किया गया है। निघण्टु में पाँच विभाग होने चाहिएँ—(१) समानार्थक धातुओं का संग्रह, (२) एक ही अर्थ वाले भिन्न-भिन्न शब्दों का संग्रह, (३) कई अर्थों वाले शब्दों का संग्रह, (४) देवताओं के मुख्य नामों का संग्रह, (५) देवताओं के गौण नामों का संग्रह। जिसमें केवल देवताओं के मुख्य नामों का संग्रह हो, उसे 'दैवत' कहते हैं।

इसके बाद पद-भेदों का वर्णन होता है। पद चार प्रकार के हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन्हीं चारों भेदों को वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है, भले ही पद के नाम पर पाणिनि ने दो ही भेद—सुबन्त और तिङन्त—माने हैं। निरुक्त के वाक्यों से मालूम पड़ता है कि ये भेद यास्क के समय काफी प्रचलित थे। नाम और आख्यात के लक्षणों में यास्क ने क्रमशः सत्व और भाव की चर्चा की है। दोनों शब्दों की उत्पत्ति समानार्थक धातुओं (अस् और भू) से हुई है। अतएव यह दिखलाने की चेष्टा हुई है कि नाम और आख्यात में मौलिक अन्तर नहीं, केवल अवस्था (डिग्री) का ही अन्तर है। जबतक क्रिया का क्रम चल रहा है, तब तक उसे 'भाव' ही कहते हैं किन्तु पूर्ण हो जाने पर क्रिया 'सत्व' नाम से पुकारी जाती है। पढ़ने का काम होते समय तो हम 'पठति' कहते हैं किन्तु काम के अन्त में 'पाठ' नाम रखते हैं। पाणिनि के व्याकरण में क्रिया की दोनों ही अवस्थाओं को 'भाव' कहते हैं जिसके स्वतः दो भेद हो जाते हैं—साध्यावस्थापन्न भाव, जिसे निरुक्तकार 'भाव' कहते हैं तथा सिद्धावस्थापन्न भाव जिसे निरुक्तकार 'सत्व' कहते हैं। साहित्य-शास्त्र में केवल अंतिम अवस्था को ही

भाव कहते हैं—भावः अन्तिमो विकारः। यास्क के अनुसार आख्यात और नाम के उदाहरण क्रमशः 'गच्छति' और 'गतिः' है।

उपसर्गों और निपातों का निश्चित लक्षण न तो यास्क ही दे पाए हैं और न पाणिनि ही। दोनों ने ही 'प्रतिपद-पाठ' करना ही सुगम समझा है। उपसर्ग पाणिनि के मत से २२ और यास्क के मत से २० हैं, क्योंकि पाणिनि ने निस्, निर् और दुस्, दुर् को अलग-अलग माना है। पाणिनि के मत से उपसर्ग द्योतक ही हैं, अकेले उनका कोई अर्थ नहीं। यास्क ने शाकटायन का मत उल्लेख करके इतना अवश्य किया है कि उपसर्गों के लगने से नाम और आख्यात में अर्थ का क्या परिवर्तन होता है—इसे स्पष्ट कर दिया है। यह संदर्भ उपसर्गों के अर्थ और इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

निपातों के तीन भेद माने गये हैं—उपमार्थक, कर्मोपसंग्रह और पदपूरण। इन सभी के उदाहरण वैदिक-साहित्य से, विशेषतया ऋग्वेद से, दिए गए हैं। इन भेदों का कोई नियमित विभाग नहीं। उपमार्थक निपात पद-पूरण भी हो सकते हैं। उनका मुख्य अर्थ देखकर ही निर्धारण किया जाता है कि अमुक शब्द क्या है। कर्मोपसंग्रह का लक्षण बहुत कुछ अस्पष्ट है। मेरा विचार है किसी लिपिकार के प्रमादवश कुछ शब्द इसमें बढ़ा दिये गये हैं। डा० गुणे इसका अनुवाद करते हैं—"जिसके आगमन (अर्थात् प्रयोग) से अर्थों (विचारों) की पृथकता सचमुच जानी जाए, किन्तु जो पृथक् स्थान या स्वतन्त्र उल्लेख के कारण साधारण गणना की तरह न हो, वही कर्मोपसंग्रह अर्थात् अर्थों या विचारों का योग करना या एकत्रीकरण कहलाता है।" गुणे की आलोचना डा० लक्ष्मणस्वरूप और प्रो० राजवाड़े ने की है। संभवतः डा० स्वरूप तथ्य के अधिक निकट पहुँच सके हैं, "जिसके योग से विचारों का वस्तुतः पार्थक्य जानें किन्तु गणना के समान का (पार्थक्य) नहीं (अर्थात् अलग-अलग कर देने से होनेवाला पार्थक्य) वही कर्मोपसंग्रह है"। यास्क ने निपात गिनाए हैं और प्रत्येक की पुष्टि प्रयोग द्वारा की है। पदपूरण का अर्थ है निरर्थक शब्द जो छन्द की पूर्ति के लिए आते हैं। इस स्थान पर यास्क ने गद्य को अमिताक्षर ग्रन्थ कहा है। गद्य में यदि पदपूरण के शब्द आएँ तो उन्हें वाक्यपूरण कहा जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ये अधिकता से पाये जाते हैं। निपातों के विषय में पाणिनि के सूत्र हैं—प्राग्रीश्वरान्निपाताः, चादयो सत्त्वे, प्रादयः (१।४।५६-५८)।

पद-भेद के सम्बन्ध में यास्क एक विवाद उठाते हैं कि शब्द नित्य है या अनित्य। यह विवाद केवल निरुक्त में ही नहीं, व्याकरण, न्याय तथा पूर्वमीमांसा के ग्रन्थों में भी उठाया गया है, किन्तु इनमें से प्रत्येक अपने सिद्धान्त पर अटल हैं। भिन्न-भिन्न तर्क देने पर भी वैयाकरण और मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, निरुक्तकार (औदुम्बरायण) और नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं। औदुम्बरायण का कहना है कि शब्दों की सत्ता केवल इंद्रियों तक ही है अर्थात् ये अनित्य (अस्थायी) हैं। ऐसा मानने पर पदों का भेद या प्रकृति-प्रत्यय का संयोग भी असिद्ध हो जाएगा क्योंकि भिन्न-भिन्न कालों में उत्पन्न अक्षरों का योग असम्भव है। पतंजलि भी ऐसी ही युक्ति से कार्य शब्द की व्याख्या करते हैं—शब्द अलग-अलग ध्वनियों से ही बनता है। हम दो ध्वनियों को एक साथ उत्पन्न नहीं कर सकते। 'गौः' शब्द में गकार, औकार और विसर्ग के उच्चारण भिन्न-भिन्न कालों में होते हैं। इसलिए ध्वनियाँ निश्चित रूप से नाशवान हैं।

अनित्य होने पर भी शब्दों से ही वस्तुओं का नामकरण होता है क्योंकि ये व्यापक हैं तथा वस्तुबोध कराने के अन्य सभी साधनों की अपेक्षा सरलतर हैं। यदि हम वस्तुओं को दिखाकर या हाथ-पैर से इशारा करके उन वस्तुओं का बोध कराएं तो कठिनाई होगी किन्तु शब्दों के द्वारा बोध कराने में कोई भी कठिनाई नहीं। लेकिन व्यवहार के लिए ही शब्दों का आश्रय लिया जाता है। पतञ्जलि ने 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' वार्तिक पर विचार करते हुए कहा है कि शब्द और उसके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु का सम्बन्ध नित्य है। शब्दों की वस्तुबोधक शक्ति तो स्वाभाविक है, किसी की उत्पन्न की हुई नहीं। वस्तुएँ भी नित्य हैं। संक्षेप में यह कहें कि शब्द, अर्थ और उन दोनों का सम्बन्ध—ये सभी सिद्ध (नित्य) हैं। यह नित्यता हमें लौकिक व्यवहार से ज्ञात होती है। वस्तुओं को देखकर लोग उनके बोध के लिए शब्द का प्रयोग करते हैं। शब्द-रचना में परिश्रम नहीं करना पड़ता। परिश्रम तो केवल अनित्य वस्तुओं की रचना में करना पड़ता है। जैसे घड़े की जरूरत होने पर हमें कुम्भकार के घर जाकर कहना पड़ता है—'घड़ा बनाओ, मुझे जरूरत है'। लेकिन शब्द का प्रयोग करने के लिए हम वैयाकरण के पास जाकर कभी नहीं कहते हैं कि शब्द बनाइये, हमें प्रयोग करना है। लोग वस्तुओं को देखते हैं तथा उनका बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग आरम्भ कर देते हैं। यही भाषा की उत्पत्ति का सिद्धान्त है।

वैयाकरण लोग अर्थबोध कराने के लिए 'स्फोट' स्वीकार करते हैं। कोई शब्द कई अक्षरों से बनता है जो क्षणिक होने के कारण न तो मिलकर ही अर्थबोध करा सकते हैं और न अलग-अलग ही, इसलिए उन्हें अर्थ का स्फोटक (प्रकाशक) 'स्फोट' स्वीकार करना पड़ता है। इसे ही भर्तृहरि ने, 'नित्य शब्द ब्रह्म' कहा है जिसका विवर्त रूप ही संसार के समस्त

व्यवहार है। इस स्फोट (नित्य शब्द) का ही प्रतिनिधित्व करने वाला एक कार्य (कामचलाऊ) शब्द होता है जिसकी सत्ता केवल व्यावहारिक दशा (Practical World) में है, पारमार्थिक या वास्तविक दशा (World of Reality) या (Transcendental World) में नहीं। इसे ही यास्क भी स्वीकार करते हैं। सारांश यह है कि शब्द परमार्थतः नित्य है किन्तु व्यवहारतः कार्य है। पाली में लिखे बौद्ध ग्रन्थों में भी 'सद्'(शब्द) के स्वभाव का विचार किया गया है जो स्फोट से मिलता-जुलता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि स्फोटवाद का सिद्धान्त यास्क और बुद्ध के समय प्रचलित था।

मीमांसा-दर्शन में दूसरी युक्तियों से शब्द की नित्यता स्वीकार की गई है। शब्दों का उच्चारण शब्द मात्र के लिए नहीं, प्रत्युत अर्थबोध के लिए होता है। यदि शब्द नश्वर हो तो अर्थबोध हो ही नहीं सकता। शब्दों का सार्वजनिक अनुभव होता है। एक ही शब्द का कई बार प्रयोग होने पर उसकी समानता या स्थिरता का भी अनुभव हम करते हैं। इसलिए शब्द नित्य है। डा० लक्ष्मणस्वरूप ने औदुम्बरायण के मत की तुलना प्लेटो के शब्द-क्षणिकवाद से की हैं। प्लेटो ने अपनी पुस्तक क्रेटिलस में कहा है--'क्रेटिलस। हम तर्कपूर्वक यह भी नहीं कह सकते कि वस्तुतः ज्ञान है, जबकि सभी वस्तुएँ परिवर्तन की दशा में हैं और कोई भी चीज स्थिर नहीं है।' सारांश यही है कि औदुम्बरायण शब्द को नित्य नहीं मानते जबकि यास्क कार्य (व्यवहार) के लिए शब्द की नित्यता स्वीकार करते हैं जो स्फोटवाद की ओर संकेत है।'

इस विचार के ही प्रसंग में यास्क एक आश्चर्यजनक बात बतलाते हैं कि किसी वस्तु का बोध जिस नाम से मनुष्यों में होता है, उसी नाम से देवता लोग भी उन्हें समझते हैं। इन वाक्यों में मनुष्य की प्रधानता दिखलाई गई है। इससे पता लगता है कि यास्क भाषा की उत्पत्ति को दैवी नहीं मानते हैं। इसके विपरीत प्लेटो कहते हैं कि 'देवताओं के द्वारा दिया गया नाम ही उचित और स्वाभाविक है'। देवताओं और मनुष्यों के बीच शब्द-साम्य होने पर भी मनुष्यों का ज्ञान अनित्य है, इसलिए कर्म का सम्पादन करने वाले मन्त्र वेदों में उल्लिखित हैं। यास्क ने जिस शैली में—'पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' लिखा है, उसे सूत्र-शैली कह सकते हैं। यास्क के समय सूत्रात्मक शैली का प्रचलन आरम्भ हो गया था।

इसके बाद यास्क ने 'भाव' का दार्शनिक विश्लेषण किया है। क्रिया की उत्पत्ति से लेकर फल प्राप्ति तक जो अवस्थाएँ (स्टेजिस) आती हैं, उन्हें भाव का विकार कहा जाता है। ये छः हैं—उत्पत्ति, सत्ता, परिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश। इन सब को अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। भाव के विकारों का यह आत्यन्तिक विश्लेषण है क्योंकि दूसरे स्थानों में केवल तीन ही विकार माने गए हैं, जैसे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० उ० २।१)। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के 'जन्मास्य यतः' (१।१।२) के सूत्र पर भाष्य लिखते हुए जन्म, स्थिति और नाश के अन्तर्गत ही सबों का अन्तर्भाव किया है। बल्कि इन छः विकारों को तो वे संसार की स्थिति में ही समझते हैं।

चतुर्थ पाद में एक ऐसे विषय पर विवाद उठाया गया है जो निरुक्त की और आधुनिक भाषा-विज्ञान की भी आधारशिला है। वह है—शब्दों का धातुज-सिद्धान्त। इसका अभिप्राय है कि क्या सभी नाम धातुओं से बने होते हैं या स्वतः निष्पन्न होते हैं। यास्क इस मत के पोषक हैं कि सभी शब्द आख्यातज हैं, जिसे सिद्ध करने के लिए ही सम्पूर्ण निरुक्त की रचना हुई है। अस्तु, इस विवाद में दो पक्ष हैं--एक पक्ष कहता है कि सभी नाम आख्यातों से उत्पन्न हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं शाकटायन नामक वैयाकरण और सभी निरुक्तकार। दूसरी ओर गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरण हैं जो यह मानते हैं कि सभी नाम आख्यातज नहीं होते हैं।

शाकटायन बहुत पुराने और प्रसिद्ध वैयाकरण हैं, क्योंकि इनका उल्लेख ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, वाजसनेय प्रातिशाख्य, अथर्व-प्रातिशाख्य तथा पाणिनि सूत्रों में भी हुआ है। इनके सिद्धान्त के अनुसार ही उणादि सूत्रों की रचना हुई है, जिसकी मूलभित्ति यही है कि सभी शब्दों की व्युत्पत्ति हो सकती है। सम्भव है कि शाकटायन ने उणादि सूत्रों की रचना प्रारम्भ कर दी हो, जिसका आधुनिक रूप बहुत पीछे दिया गया है। डा० बेलवलकर 'उणादि सूत्रों' को पाणिनि की ही कृति मानते हैं। किन्तु यह भ्रांत धारणा है। उनका यह तर्क कि पाणिनि की शब्दावली (जैसे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, लोप, सम्प्रसारण और अभ्यास) का प्रयोग उणादि-सूत्र में है, यह निष्कर्ष नहीं निकलने देता है क्योंकि इन संज्ञाओं का प्रयोग बहुत पहले से ही होने लगा था। स्वयं यास्क ने ही इनमें से कुछ का प्रयोग किया है। गार्ग्य भी प्राचीन वैयाकरण ही हैं जिनका उल्लेख यास्क और पाणिनि करते हैं। इनके मत से सहमति रखने वाले पाणिनि और पतञ्जलि हैं जो उणादि को अव्युत्पन्न मानते हैं। दुर्गाचार्य ने गार्ग्य को सामवेद का पद-पाठकार माना है।

गार्ग्य का कहना है कि जिन शब्दों की व्युत्पत्ति हम व्याकरण के अनुसार कर सकें,, अर्थात् जब शब्द में विद्यमान धातु का अर्थ शब्द के अर्थ से सामंजस्य रखता हो, उसकी रचना भी हम व्याकरण के द्वारा सिद्ध कर सकें, तभी किसी शब्द को व्युत्पन्न मानने का हमें अधिकार है, अन्यथा शब्द अव्युत्पन्न है, जैसे—गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती। इस प्रकार वे व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न शब्दों की विभाजन-रेखा बनाकर अपने पक्ष की पुष्टि के लिए निम्न प्रमाण देते हैं—

(१) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो नाम में विद्यमान आख्यात से जिन-जिन वस्तुओं का सम्बन्ध होता, उन सब का एक ही तरह का नाम होता, जैसे 'अश्व' में अश् धातु है, जिसका अर्थ है तय करना, तो जो-जो व्यक्ति (सवारियाँ) रास्ता तय करती हैं उन सभी को 'अश्व' ही कहा जाता। इसके उत्तर में यास्क कहते हैं कि यह देखने में आता है कि एक प्रक्रिया से सम्बद्ध सभी चीजों या व्यक्तियों में से कुछ को तो क्रिया से सम्बन्ध बताने वाला नाम दे देते हैं, कुछ को नहीं। तक्ष् का अर्थ है लकड़ी काटना, अब सभी लड़की काटने वालों को 'तक्षा' न कहकर बढ़ई को ही कहते हैं। इसी में यह शब्द रूढ़ हो गया। सभी घूमने वालों को 'परिव्राजक' न कहकर केवल संन्यासियों को ही परिव्राजक कहते हैं। लौकिक परम्परा ही इसका निर्णय करती है।

(२) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो जिन-जिन क्रियाओं से किसी वस्तु का सम्बन्ध होता, उन सभी के आधार पर उसका नाम पड़ता, जैसे खम्भे को 'दरशया' कहते क्योंकि यह गड्ढे में सोती है, शहतीर धारण करने के कारण उसे 'आसञ्जनी' भी कह देते। इसके उत्तर में भी यास्क यही कहेंगे कि वस्तु से सम्बन्ध रखने वाली अनेक क्रियाओं में से कुछ को ही ऐसा सौभाग्य मिलता देखा है कि उसके आधार पर ही वस्तु का नामकरण हो। सबों के आधार पर नामकरण न तो सम्भव ही है और न उचित ही। किसी प्रधान कर्म के आधार पर नाम रखते हैं (प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति)।

(३) यदि नाम में आख्यात मिल ही रहा हो तो उसे ऐसा क्यों नहीं रहना चाहिए था कि वह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होता और उसका अर्थ तुरन्त मालूम हो जाता, जैसे 'पुरुष' में यदि 'पुर+शी' पाते हैं तो इससे अच्छा तो शुद्ध नाम होता 'पुरिशय', 'तृण' की अपेक्षा अधिक शुद्ध होता 'तर्दन' कहना। परन्तु चूंकि ऐसे नाम नहीं हैं इसलिए ये सब अव्युत्पन्न एवं गूढ़ हैं। उत्तर यही है कि एकपदिक-काण्ड में (जिसे अव्युत्पन्न शब्दों का संग्रह कहते हैं) कुछ कृदन्त प्रत्ययों से बने शब्द हैं किन्तु प्रयोग में कम आते हैं। ये आपकी कल्पना के अनुसार ही बने हैं जैसे व्रतति, जागरूक इत्यादि।

(४) सभी नामों में आख्यात मानने से किसी शब्द का व्यवहार चल पड़ने पर उसके मूल के विषय में व्यर्थ विचार करना पड़ता है। मान लिया कि 'पृथिवी' को 'प्रथ्'-धातु (फैलाना) से निकला मानते है। अब बैठकर सोचते रहिए कि पृथिवी को किसने और कहाँ बैठकर फैलाया? इस परिहास को यास्क आड़े हाथों लेते हैं और कहते हैं कि पृथ्वी देखने में तो पृथु (फैली हुई) लगती है न? भले ही किसी ने उसे नहीं फैलाया हो। सभी चीजों को नाम देखकर ही देते हैं।

(५) गार्ग्य फिर कहते हैं कि आपके शाकटायन तो एक तमाशा लगा देते हैं। वे जब देखते हैं कि एक धातु से व्युत्पत्ति करने से अर्थ असंगत हो रहा है, बनावट व्याकरणसम्मत नहीं है, तब वे शब्द के टुकड़ों में भी धातु की कल्पना करने लगते हैं, जैसे 'सत्य' शब्द की व्युत्पत्ति में इ—धातु और अस्—धातु दोनों को ही नियुक्त कर लेते हैं। यास्क जवाब देते हैं कि यदि शाकटायन ऐसा करें और असंगत अर्थ में करें तो बुरा है, किन्तु यदि संगत अर्थ में ही कर रहे हों तो कोई आपत्ति नहीं। सिद्धान्त का कोई दोष नहीं होता, व्यक्ति ही दोषी होता है।

(६) आप लोग यह भी मानते हैं कि क्रिया से पहले नाम पड़ जाता है किन्तु बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर ही वह नाम कैसे पड़ेगा? उत्तर में कहा जा सकता है कि कुछ वस्तुओं का नाम तो बाद में होने वाली क्रिया के आधार पर ही होता है, जैसे—बिल्वाद (एक पक्षी का नाम)। यह पक्षी जन्मते ही तो बेल का फल नहीं खाता, पर इसका नाम उसी समय पड़ जाता है। 'लम्बचूड़क' पक्षी की लम्बी चोटी बहुत बाद में होती है, पर इसे जन्मते समय भी लम्बचूड़क ही कहते हैं।

इस प्रकार निरुक्तकार सिद्ध करते हैं कि सभी शब्दों का निर्वचन सम्भव है। आधुनिक भाषा-विज्ञान का लक्ष्य है कि प्रत्येक शब्द के मूल का पता लगाएं, उसे रूढ़ कहकर न छोड़ दें। इस दृष्टि से यास्क ने भाषाशास्त्रियों को रास्ता दिखलाया है। सत्य तो यह है कि यास्क ही प्रथम भाषाशास्त्री हैं। प्रो० मैक्समूलर इस सिद्धान्त के विषय में लिखते हैं…

'यास्क मानते हैं कि प्रत्येक नाम से ग्राख्यात निकला है ग्रौर वे इसके विरोध में उठाए गए विभिन्न तर्कों का समाधान भी करते हैं—यह वह सिद्धान्त है जिस पर पाणिनि का प्रस्थान भी ग्रवलम्बित है ग्रौर जो वस्तुतः ग्राधुनिक भाषा विज्ञान का मूल है'। (यहाँ पाणिनि से मतलब है उणादि इत्यादि को लेकर, क्योंकि पाणिनि तो इस दृष्टिकोण से यास्क के विरोधी ही हैं)।

भाषा-विज्ञान यद्यपि शब्दों को धातुग्रों से निष्पन्न मानता है, किन्तु सभी धातु ग्राख्यात (Verbal roots) ही होंगे, यह स्वीकार नहीं करता। निर्वचनों के परिशिष्ट में हम यह ग्रच्छी तरह देखेंगे। शब्दों को ग्राख्यातज मान लेने के कई कुपरिणाम हैं, जैसे—

(१) स्वरों के परिणाम का तिरस्कार—यास्क 'ग्रघ' की व्युत्पत्ति करते हैं ग्रा+हन् से। वे यह नहीं विचार करते कि 'ग्रा' किस प्रकार ग्रपना परिमाण बदलकर 'ग्र' बन जाएगा। वस्तुतः 'ग्रघ' किसी धातु से नहीं बना। मूल भारत-यूरोपीय (Proto-Type 9-E)भाषा का शब्द है—ग्रघ (agh) जिसका ग्रर्थ है 'खराब', ग्रवेस्ता में 'ग्रग'—बुरा।

(२) स्वरों के गुण का ग्रात्यन्तिक तिरस्कार—'मुद्गल' शब्द की व्युत्पत्ति की गई है—'गिल' से। 'इ' का परिवर्तन 'ग्र' में होना भाषा-विज्ञान के लिए एक समस्या ही है। 'श्मश्रु'—श्मन्—श्रि ग्रर्थात् 'इ' का परिवर्तन 'उ' में। ध्वनि नियमों का यह साक्षात् तिरस्कार है।

(३) व्यंजन सम्बन्ध का तिरस्कार—'कुलं' शब्द 'रुज्' से वर्ण-विपर्यय द्वारा निर्मित माना गया है। ग्रर्थात् ज् ग्रौर क्, र् ग्रौर ल् परस्पर परिवर्तित होते हैं। क्या सभी जगह ऐसा ही होता है? उसी प्रकार 'क्रुधु' को क्रन्त् से निष्पन्न मानते हैं।

(४) कभी-कभी प्रथम व्यञ्जन पर विशेष ध्यान देकर शेष व्यंजनों को बिल्कुल छोड़ दिया गया है। 'ग्रावा' शब्द ग्रह् से बना है, 'व' के विषय में यास्क ने मौन धारण कर लिया है।

(५) स्वर ग्रौर व्यंजन दोनों का एक साथ भी तिरस्कार कर दिया है। 'ग्रनस् (गाड़ी) की व्युत्पत्ति है 'ग्रा+नह्', यहाँ 'ग्रा' का 'ग्र' (गुणगत भेद, स्वर का) तथा 'ह्' का 'स' में परिवर्तन ग्रसम्भव ही है।

(६) कभी-कभी शब्द में विद्यमान धातु से ग्रधिक ग्रक्षरों का धातु देकर यास्क व्यर्थ का परिश्रम करते हैं। 'ग्रन्धस्' की व्युत्पत्ति उन्होंने दी है 'ग्रा+ध्यै' जिसमें केवल 'ध्' की ही ग्रावश्यकता थी। भारत-यूरोपीय भाषा में 'ग्रन्धोस्' (Andhos)—फूल।

ये सभी दोष इसलिए ग्राए हैं कि उन्होंने स्वतःसिद्ध शब्दों में (जो मू० भा० यू० में क्रिया के रूप में न होकर संज्ञा ग्रौर विशेषण के ही रूप में थे) भी धातु खोजने की चेष्टा की है। यह दोष धातुज सिद्धान्त के ग्रात्यन्तिक प्रयोग के फलस्वरूप ही है। इन कमजोरियों के होते हुए भी यह सिद्धान्त बहुत महत्त्व रखता है। क्योंकि व्युत्पत्ति दिए गए कुछ शब्द भले ही हमें वैदिक संस्कृति में न मिलें, पर भारत-यूरोपीय भाषा के ग्रन्य खण्डों में मिलते हैं, जैसा कि डा० सिद्धेश्वर वर्मा का निरीक्षण है—'यह सिद्धान्त भले ही कई दिशाग्रों में हानिकारक हो, किन्तु एक ऐसी शान्तिप्रद विशेषता रखता है जिससे पता चलता है कि इसकी कई व्युत्पत्तियाँ उन शब्दों से सम्बन्ध रखती हैं, जिनका सम्बन्ध या मूल प्राचीन भारतीय भाषा में प्राप्य न हो, किन्तु दूसरी भारत-यूरोपीय भाषाग्रों में प्राप्त है।' प्रो० मैक्समूलर भी इस सिद्धान्त की प्रशंसा में लिखते हैं—'मुझे सन्देह है कि इस समय भी, तुलनात्मक भाषा विज्ञान ने शब्दों की उत्पत्ति पर जो भी नया प्रकाश डाला है, उसके साथ भी, इस तरह के प्रश्न (शब्दों की उत्पत्ति के) यास्क की ग्रपेक्षा ग्रधिक सन्तोषप्रद रूप से सरल किये जायेंगे।

प्रथम ग्रध्याय में ग्रब केवल एक ही विषय की विवेचना बच रही है ग्रौर वह है निरुक्त की उपयोगिता। यास्क के ग्रनुसार निरुक्त कई विषयों के लिए उपयोगी है।

(१) ग्रारम्भ में ही 'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः' लिखा है। इसका ग्रभिप्राय है कि निघण्टु के शब्दों की व्याख्या करना निरुक्त का काम है, ग्रर्थात् निरुक्त भाष्य है। दुर्गाचार्य निरुक्त को भाष्य कहते हैं। विन्तरनिट्स यास्क को प्रथम भाष्यकार मानते हैं तथा पतञ्जलि को वे ग्रपनी ग्रलंकृत शैली में 'भाष्यकारों का राजकुमार' कहते हैं। इस प्रकार शब्दों का ग्रर्थबोध कराना निरुक्त का प्रथम कार्य है।

(२) 'इदमन्तरेण मन्त्रेषु ग्रर्थप्रत्ययो न विद्यते'—चूँकि निरुक्त शब्दों के ग्रर्थ का निर्णय करता है ग्रौर यास्क

उनका प्रयोग दिखलाने के लिए वैदिक-मन्त्रों का उद्धरण देकर उनकी व्याख्या करते हैं, इसलिए मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान भी निरुक्त के द्वारा ही होता है। प्राय: ६०० मन्त्रों की व्याख्या यास्क ने की है। वैदिक साहित्य भर में मन्त्रों का सर्वप्रथम अर्थ यदि कहीं हुआ है तो निरुक्त में ही। आधुनिक व्याख्याकारों को यास्क से काफी सहायता मिली है।

(३) निरुक्त एक विद्यास्थान (साइंस) है, प्राचीनकाल के चौदह विद्यास्थानों में इसकी गणना है। यह व्याकरण का पूरक भी है क्योंकि व्याकरण शब्दों की रचना (बहिरंग) की व्याख्या करता है तो निरुक्त उनके अर्थ (अन्तरंग) की खोज करता है। इसके लिए वह शब्दों की प्रकृति का पता लगाकर उसके अर्थ में संगति दिखाते हुए पूरे शब्द के अर्थ का अनुसन्धान करता है। किन्तु व्याकरण पर वह सर्वस्व अर्पण नहीं कर देता, क्योंकि व्याकरण की बनावट (शब्द संस्कार या वृत्तियाँ) अपवाद (विशद) से भरी होती हैं। फिर भी व्याकरण और निरुक्त में अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

(४) यज्ञ में भी निरुक्त से काफी सहायता मिलती है, क्योंकि इसके द्वारा ही 'किस मन्त्र में कौन देवता है'—इसका निर्णय किया जा सकता है और तभी किसी देवता को हविष् देने के लिए किसी विशेष मन्त्र का उच्चारण सम्भव है। कभी-कभी किसी मन्त्र में कई देवता रहते हैं, जिसका पता निरुक्त ही लगाता है कि किसे प्रधानता दी गई है। इस गुण के कारण निरुक्त कर्मकाण्ड और पूर्वमीमांसा का भी पूरक कहा जा सकता है।

(५) 'इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यस्ते (जायते)—निरुक्त के द्वारा ही किसी पद को उसके विभिन्न खण्डों में बांट सकते हैं, क्योंकि अर्थ न जानने वाला यह नहीं समझ सकता कि किसी पद में एक ही शब्द या दो शब्द, जैसे—अवसाय पद्धते' पैर वाले भोजन के लिए, अनस—भोजन ··· इसमें अव् धातु और अस् प्रत्यय है, दोनों मिलकर हा पद बनाते हैं, इसलिए 'अवस' एक पद है जिसका चतुर्थी एकवचन में रूप है—अवसाय (—भोजन के लिए)। किन्तु 'अवसाय' अश्वान्—घोड़ों को खोलकर—यहाँ अव उपसर्ग है, स्थो (खोलना) धातु से ल्यप् प्रत्यय (पूर्वकालिक) लगा है, इसलिए दो पद होने के कारण इसमें पद-विभाग करना पड़ता है तथा पद-पाठकार 'अ.. साय' ऐसा इसका पद-पाठ करते हैं। एक ही तरह के पद में कभी एक शब्द, कभी दो शब्द, हो जाते हैं, इसे निरुक्त न जानने वाले नहीं समझ सकते हैं।

(६) अर्थ ज्ञान का महत्व भी इसके द्वारा जाना जा सकता है। ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है। वेदों का अर्थ विना जाने हुए उन्हें केवल रट जाना निष्फल है। इसलिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है।

(७) अन्त में हम आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से निरुक्त की उपयोगिता पर विचार कर सकते हैं। यहाँ पर संक्षेप में ही कहेंगे। भाषा-विज्ञान की एक शाखा है—अर्थविज्ञान जिसकी ओर लोगों का ध्यान विगत शती के अन्त में ही आकृष्ट हुआ, जबकि ब्रील (Michael Breel) ने सन् १८९८ ई० में अपना ग्रन्थ 'एसे द सिमैन्तिक् (Esse de Semantique) फ्रेंच में लिखा। यास्क इस विज्ञान की नींव विक्रम के कई सौ वर्ष पूर्व दे चुके थे। अर्थ में किस प्रकार का परिवर्तन होता है—इसका निर्देश वे स्पष्ट रूप से करते हैं, जिसे हम यथास्थान (सप्तम परिच्छेद) में देखेंगे। डा० लक्ष्मण स्वरूप निरुक्त को 'व्युत्पत्ति विज्ञान, भाषा विज्ञान और अर्थ विज्ञान का सबसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थ' कहते हैं। फिर भी व्युत्पत्ति विज्ञान में तो निरुक्त की तुलना ही नहीं है।

मन्त्रों के अर्थ के विषय में यास्क द्वारा उठाए गए एक और विवाद पर विचार कर लेना अयुक्त न होगा। मन्त्रों के अर्थ के सम्बन्ध में बहुत प्राचीनकाल से ही शंकाएं उठाई जाने लगी थीं। उनके दो पक्ष थे—एक तो लोकायत मत वाले और दूसरे कर्मकाण्डी। लोकायत (चार्वाक) मत के लोग तो मन्त्रों को इसलिए अर्थहीन कहते थे कि इनमें ऊल-जलूल बातें भरी पड़ी हैं, वेदों की कोई सत्ता नहीं, इन्हें मानना व्यर्थ है। दूसरी ओर कर्मकाण्डियों का कहना है कि वेदों का कोई अर्थ नहीं, किन्तु उनका पाठ अनिवार्य है, पाठ करने में अर्थ का ध्यान नहीं रहता, हम एक निष्ठा से पाठ करते हैं, क्योंकि यही हमारा धर्म है। इनके पक्ष की विवेचना सायणाचार्य ने अपनी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका के स्वाध्याय-प्रकरण में की, जिसमें 'पुरुषार्थानुशासन' (एक अप्राप्त ग्रन्थ) से सूत्रों का उद्धरण देकर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है। आज के कर्मकाण्डी भी पाठ-मात्र में ही वेद की सत्ता समझते हैं किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वेदों के अर्थ में उनका विश्वास नहीं है।

यास्क के विपक्षी कौत्स हैं जिनका कहना है कि मन्त्र अर्थहीन हैं। वे ऊपर कहे गए दोनों पक्षों का समुचित प्रतिनिधित्व करते हैं। यास्क ने उनके प्रत्येक आक्षेप का सफल उत्तर दिया है।

पाठ ३

निरुक्त और भाषा विज्ञान

यास्क भाषा वैज्ञानिक के रूप में

हमारी समस्त क्रियाओं की भित्ति भाषा पर ही आधारित है जिसका सांगोपांग विवेचन करना भाषा-विज्ञान क काम है। यद्यपि यूरोपीय विद्वानों के मस्तिष्क से ही इसे आधुनिक-रूप मिला किन्तु यह कोई नवीन विज्ञान नहीं। हजारो वर्ष पूर्व ही इसकी नींव भारत और यूनान में पड़ चुकी थी। इसे आधुनिक रूप में लाने का श्रेय भी संस्कृत-भाषा को ही है। सामान्य भाषा विज्ञान का कोई भी ग्रन्थ, चाहे वह सिद्धान्तों की विवेचना करे या इस विज्ञान के इतिहास का वर्णन करे, यास्क और पाणिनि के नामोल्लेख के बिना अपूर्ण हीं रहेगा। इन दोनों के अध्ययन से ही यूरोपीय विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों की विवेचना करने की शैली पाई थी।

भाषा-विज्ञान अपनी विश्लेषणात्मक शक्ति के कारण विभिन्न शाखाओं में बंटा है जिनमें स्वतन्त्र रूप से भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन किया जाता है। इसकी मुख्य शाखाएँ ये हैं—(१) ध्वनि सिद्धान्त (फोनोलाजी) जिसमें ध्वनि की उत्पत्ति, श्रोता-वक्ता-सम्बन्ध, ध्वनि-विकास, ध्वनि-परिवर्तन आदि विषय आते हैं। (२) रूप-विज्ञान (मारफोलाजी) जिसमें शब्दों के भेद, उनके विकार, रूप-परिवर्तन, समास की रचना आदि विषयों का विचार होता है। (३) अर्थ विज्ञान (सिमेनटिक्स) जिसमें शब्दों के अर्थ, अर्थ परिवर्तन और इसकी दिशाएँ, उनके कारण आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है।(४) वाक्य-विज्ञान (सिन्टेक्स) जिसमें किसी वाक्य में शब्दों का स्थान निर्धारण करके विभिन्न स्थान होने से अर्थ-भेद आदि का विचार होता है। शब्दों का सम्बन्ध-तत्त्व किस प्रकार एक दूसरे से जुड़ता है, इसका अध्ययन करना वाक्य विज्ञान का ही काम है। इन मुख्य शाखाओं से भी कई शाखाएँ निकली हैं, जैसे (५) निर्वचनशास्त्र (Etymology) जिसमें शब्दों की उत्पत्ति और इतिहास का पता लगाते हैं। हम यास्क के निरुक्त को भाषा-विज्ञान की इन शाखाओं की कसौटी पर कस कर देखेंगे कि आधुनिक अनुसन्धानों और यास्क के तत्कालीन ज्ञान में क्या अन्तर है तथा यास्क ने आधुनिक भाषा विज्ञान के विकास में क्या सहयोग दिया है।

यास्क के युग पर दृष्टिपात करने पर हमें पता चलता है कि उनके समक्ष केवल दो ही भाषाएँ थीं और वे भी एक ही परिवार की। वे हैं—वैदिक-भाषा और लौकिक भाषा। पहली भाषा का केवल साहित्य बर्तमान था और दूसरी बोल-चाल की भाषा थी। पहली को बहुधा 'निगम', 'छन्द', 'ऋक्' आदि नाम से पुकारते थे तथा दूसरी को 'भाषा' ही कहते हैं। दोनों के पर्याप्त अध्ययन से यास्क में ऐसी शक्ति आ गई कि वे शब्दों के विषय में अनुसन्धान कर सकें। भाषा-विज्ञान ने वैदिक-भाषा की भी उत्पत्ति मू० भा० यू० भाषा से मानी है किन्तु भौगोलिक और अन्यान्य कारणों से वहाँ तक पहुँचना यास्क के लिए उस युग में असम्भव था इसलिए वे वैदिक-भाषा तक ही बढ़ सके, जिसे वे लौकिक भाषा का उद्गम-स्थान मानते हैं। और तो और, अपने प्रदेश में ही सर्वत्र घूम-घूमकर उपभाषाओं की विभिन्नता का अध्ययन करना कठिन था। ऐसी स्थिति में यास्क ने अपने समक्ष विद्यमान भाषाओं को लेकर ही भाषा-विज्ञान का अनुसन्धान आरम्भ किया।

यह भी सत्य है कि उस समय उपभाषाएँ पर्याप्त थीं, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राच्य, उदीच्य आदि बोलियों के उल्लेख मिलते हैं। यास्क ने भी उपभाषाओं का उल्लेख किया है। अनुमान किया जाता है कि यह सूचना या तो यास्क को यात्रियों से मिली होगी या परम्परा से प्राप्त हुई होगी, ऐसी अवस्था में जब ये उस समय प्राचुरता से नहीं बोली जाती होंगी। आर्य, कम्बोज, उदीच्य और प्राच्य देश की उपभाषाओं में और कुछ अन्तर नहीं, केवल धातुओं और संज्ञाओं का ही है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यास्क अपनी सूचना पर भी कितना ध्यान रखते हैं और उसे उचित स्थान देकर भाषाशास्त्री का कर्त्तव्य पूरा करते हैं। पाणिनि और पतञ्जलि को उपभाषाओं के विषय में काफी अधिक सूचना मिली मालूम पड़ती है क्योंकि वे भारत के तात्कालिक भूगोल का अधिक ध्यान रखते हैं। युग की सीमाएँ देखकर ही हमें यास्क

के सम्बन्ध में कुछ कहने का औचित्य है।

अपना अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व भाषा-विज्ञान के एक बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न—भाषा की उत्पत्ति—पर विचार कर लेना सामयिक प्रतीत होता है। वस्तुतः यह प्रश्न आरम्भ से ही विद्वानों को परेशान करता आ रहा है कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई। विभिन्न लोगों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इसके अलग-अलग समाधान दिये हैं। कुछ लोग भाषा को ईश्वरकृत मानते हैं, कुछ लोग वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण के समय की ध्वनि से, कुछ वस्तुओं के द्वारा ही की गई ध्वनि और कुछ लोग विकासवाद से भाषा की उत्पत्ति मानते हैं। प्राचीन भारत और यूनान में ईश्वर को ही भाषा का मूल स्रोत माना जाता था कि 'ईश्वर ने ही भाषा बनाकर हमें दी' है। संस्कृत का पर्याय शब्द 'देवभाषा' इसी धारणा का द्योतक है। यास्क ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है किन्तु स्पष्टतया अपने मत का उल्लेख नहीं किया। किन्तु अपने मत की पूर्व-कल्पना लेकर ही उन्होंने निरुक्त का आरम्भ किया है। इसका तात्पर्य है कि वे पाठकों से आशा रखते हैं कि यास्क का अपना सिद्धान्त क्या है। वे इससे अभिज्ञ हैं। जहाँ-तहाँ बिखरे हुए उनके वाक्यों को देखकर ही उनके सिद्धान्त का हम अनुमान कर सकते हैं। निरुक्त (१।२) में वे कहते हैं—'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्य-वद्देवताभिधानम्।' इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुओं का नाम संसार में व्यवहार के लिए रखा गया है क्योंकि वस्तुओं को पहचानने या बतलाने की अन्य प्रणालियाँ (जैसे संकेत करना, वस्तु को सामने रख देना आदि) बहुत ही कष्टसाध्य हैं। शब्द ही सरलता से वस्तुओं का द्योतन कर सकते हैं, इसलिए शब्द के द्वारा ही उनका नाम सुविधा के लिए रखा जाता है। वस्तुओं के जो नाम मनुष्यों में रखे जाते हैं, देवता भी उन शब्दों से तत्सम्बद्ध वस्तुओं को समझ लेते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि वे दैवी-भाषा (ईश्वर के द्वारा बनाई गई भाषा) सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते। भाषा का उत्पादक मनुष्य ही है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि 'देवभाषा' शब्द की व्याख्या उन्होंने अच्छी तरह कर दी है। यदि भाषा का उत्पादक मनुष्य ही है, उसे बोलने वाला भी मनुष्य ही है, तो संस्कृत को 'देवभाषा' क्यों कहते हैं? इस प्रश्न का समाधान यह है कि इसी भाषा में देवता भी अर्थ समझते हैं, मनुष्यों की प्रार्थना पर ध्यान देते हैं, इसलिए इसे देवभाषा कहने में अत्युक्ति नहीं।

किन्तु यास्क के वाक्यों से यह पता चलता है कि वे किसी भाषा विशेष को ही देवताओं की बोधगम्य भाषा नहीं कहते। सामान्य रूप से 'शब्द' मात्र को उन्होंने ऐसा कहा है। फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि यास्क के सामने एक ही भाषा थी। संस्कृत-भाषा या लौकिक-भाषा—होने के कारण उनका लक्ष्य एकमात्र इसी पर है। दूसरे, बाद में 'कर्मसम्पत्तिः मन्त्रो वेदे' कहकर भी इसीं का निर्देश वे करते हैं क्योंकि वेद में भी इसी भाषा का प्रयोग है। वस्तुतः यह यास्क के समन्वय बुद्धि का परिचायक है कि उन्होंने भाषा को मनुष्य-कृत मानकर भी 'देवभाषा' की संगति बैठाई है।

इतना ही नहीं, शब्द के धातुज—सिद्धान्त का विचार करते समय भी कुछ पंक्तियाँ वे रख जाते हैं जिनसे शब्दो-त्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। निरुक्त (१।१४) में कहा है—'भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः' अर्थात् किसी शब्द के बोलचाल में प्रचलित हो जाने पर ही उसकी व्युत्पत्ति देखी जाती है कि इस वस्तु का यह नाम क्यों पड़ा। 'पृथिवी' की उत्पत्ति में चाहे प्रथ् (फैलना) का स्थान न हो किन्तु उसी से सम्बद्ध 'प्रथु' (फैला हुआ) शब्द तो है, जिससे इसकी उत्पत्ति हो सकती है? क्रियाएँ ही शब्दों को उत्पन्न करती हैं अर्थात् कोई शब्द किसी क्रिया से पहले सम्बद्ध होता है, भले ही लक्षणा, रूपक आदि कारणों से उनके अर्थ की विकृति हो जाए। निष्कर्ष यही निकलता है कि वे मनुष्य के द्वारा की जाने वाली क्रियाओं से ही शब्दों का सम्बन्ध मानते हैं। धातुओं पर विचार करते हुए मैक्समूलर ने कहा है कि इन धातुओं की तीन विशेषताएँ हैं—(१) इनमें निश्चित ध्वनि होती है। जो भाषा के ध्वनि-नियमों के अनुसार बदलती है। (२) प्रायः इन सभी में मनुष्य के द्वारा की जाने वाली किसी क्रिया का अर्थ छिपा हुआ रहता है। (३) ये विचारों को व्यक्त करते हैं, वस्तुओं के मानसिक संस्कार को नहीं।

यास्क का इस सम्बन्ध में अपना मत आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं है। क्योंकि इस सिद्धान्त में ध्वनि से अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं दिखलाया गया है। यास्क की व्याख्या मनोविज्ञान की ओर संकेत करती है, जैसा कि 'स्पाउट' का कहना है—प्रत्यक्षीकरण बहुधा शारीरिक गतियों से जुड़ा रहता है। इस प्रत्यक्षीकरण के बाद इच्छाओं की पूर्ति के लिए शरीर में चेष्टाएँ होती हैं और वे ही चेष्टाएँ उन वस्तुओं से जुड़ जाती हैं अर्थात् उन वस्तुओं को देखकर शरीर में पुनः वैसी ही गति उत्पन्न होती है। इसी क्रम से मनुष्य की ध्वनि भी उत्पन्न होकर (चूंकि यह भी एक शारीरिक चेष्टा ही है) वस्तुओं से सम्बद्ध हो जाती है। इस प्रकार भाषा उत्पन्न होती है। यास्क भी मनुष्य की क्रियाओं से ही शब्दों

की उत्पत्ति मानते हैं परन्तु उचित साधनों के अभाव में उससे आगे न बढ़ सके तथापि उनकी देन भाषा-विज्ञान के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अब हम क्रमशः भाषा-विज्ञान की शाखाओं पर निरुक्त की संगति बैठाएं। यद्यपि निर्वचन के सिलसिले में बहुत कुछ कहा जा चुका है, किन्तु उन पर पृथक् रूप से विचार करना उपयुक्त होगा।

(१) ध्वनि विज्ञान

शिक्षा ग्रन्थों में अक्षरों के क्रम, उच्चारण आदि का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है, यास्क ने अनावश्यक समझकर इन बातों का उल्लेख भी नहीं किया है किन्तु ध्वनि के कुछ सिद्धान्तों को इन्होंने प्रातिशाख्यों से भी आगे बढ़कर दिया है। ध्वनि विज्ञान की शाखाओं में यास्क के निरीक्षण अत्यन्त तथ्यपूर्ण और आधुनिक अनुसन्धानों के अनुकूल हैं।

(क) स्वरविकार (अपश्रुति Ablaut) के जितने भी रूप संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं, सब का परिचय यास्क को है। हम यह जानते हैं कि संस्कृत भाषा में केवल परिमाणात्मक (क्वाँटेटिव) स्वर विकार होता है। एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले स्वरों में पारस्परिक परिवर्तन होता है जो उच्चारण-काल के आधार पर निश्चित होता है। ये विकार हैं—गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण। यहाँ हम गुण और वृद्धि का निदर्शन करते हैं—

प्रथम	क्रम (ग्रेड)	इ	उ	ऋ
द्वितीय	क्रम (ग्रेड)	ए	ओ	अर्
तृतीय	क्रम (ग्रेड)	ऐ	औ	आर्

इसमें प्रथम-क्रम को मूल-स्वर, मू० भा० यू० भाषा का ह्रसित-क्रम (Reduced grade) कहते हैं। द्वितीय-क्रम, पाणिनि का 'गुण' है, जिसे मू० भा० यू० का सामान्य क्रम (Normal-grade) कहते हैं। तृतीय क्रम पाणिनि की 'वृद्धि' है (Lengthened-grade)। यास्क स्वरों के इन सभी प्रकारों से परिचित हैं, भले ही उनका नाम न दिया हो। 'वि'—पक्षी जिसका निर्वचन है, 'वेतेः गतिकर्मणः' अर्थात् वि 'वेति'। यही नहीं एक जगह वे गुण का नाम भी लेते हैं—'शेवः' इति सुखनाम। शिष्यते। वकारः नामकरणः। अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी गुणः (१०।१७)। इसके शिष् से 'शेव' हो जाना गुण के कारण कहते हैं। इसी प्रकार वृद्धि का क्रम रखते हैं—'वैश्वानरः कस्मात् विश्वान् नरान् नयति' (७।२१) जिसमें विश्व से 'वैश्व' बनाया गया है। इसके बाद (७।२३ में) तो वृद्धि से बने शब्दों की भरमार ही कर दी है और यह भी स्पष्ट है कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध को वे जानते भी थे। देखें—वैद्युतः (विद्युत), औत्तमिकानि (उत्तम), भागानि (भग्), सावित्राणि (सवितृ), पौष्णानि (पूषन्), वैष्णवानि (विष्णु), आग्नेयेषु (अग्नि), आदित्यः (अदिति) इत्यादि। 'उ' कार के क्रमों का तो यास्क ने एक स्थान पर ही प्रयोग किया है (१०।५)। 'अमिस्तौमि,···स्तुत्या···स्तोमैः—इसमें क्रमशः वृद्धि, मूल और गुण-विकार के स्वर हैं। फिर 'रुद्रः, रौति इति सतः, रोरुयमाणः, द्रवति इति वा—यहाँ भी मूल वृद्धि और गुण विकार के स्वर हैं। 'ऋकार' के क्रमों का भी कई जगह निदर्शन है, जैसे 'प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि। तस्य वैश्वानरः (७।२१) अर्थात् ऋ से 'अर् (विश्वन्+अर) बना है। पुनः 'वृषभस्य—वर्षितुः' (७।२३), वर्णो वृणोतेः (२।३)—ये गुण-विकार हैं। 'आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणस्य पुत्रः' (२।११)—ऋ का आर्(वृद्धि का विकार) है।

(ख) सम्प्रसारण की विधि से भी यास्क पूर्णतः परिचित हैं। य, व, र जैसे अर्द्ध स्वरों के स्थान में 'इ, उ, ऋ' होना ही सम्प्रसारण है। आधुनिक भाषा-विज्ञान ने इसकी पृथक् सत्ता मानी है। यास्क ने इसका लक्षण कुछ विचित्र-शब्दों में किया है—'तद् यत्र स्वराद् अनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति' (२।२) जैसे अव्—ऊतिः, म्रद्—मृदुः, प्रथ्—पृथुः, यत्—इष्टः इत्यादि। यास्क सम्प्रसारण को द्विप्रकृति कहते हैं, इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य का कहना है कि सम्प्रसारण वाली धातुओं के दो रूप होते है—एक अपना (बिना सम्प्रसारण के) और दूसरा सम्प्रसारण का, जैसे यज् का अपना रूप है यष्टा, यष्टुं, यष्टव्यम् और सम्प्रसारण—रूप है इष्टः, इष्टि, इष्टवान् इत्यादि।

(ग) ध्वनि परिवर्तन की विभिन्न रीतियों से यास्क का परिचित होना आश्चर्यजनक है। द्वितीय अध्याय के आरम्भ में ही उन्होंने इन परिवर्तनों की दिशाओं का निर्देश किया है। आधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुसार ये ध्वनि-परिवर्तन दो तरह के हैं—स्वयम् उत्पन्न (un-conditional) और परोत्पन्न (conditional)। स्वयं ही उत्पन्न होने वाले ध्वनि-परिवर्तन के विषय में कुछ निश्चित कहा नहीं जा सकता। भाषा के प्रवाह में ये परिवर्तन हो जाता है, इसका कोई कारण नहीं दिया जा सकता। यद्यपि ये भी अकारण नहीं होते, किन्तु परिवर्तन का कारण न जान सकने से ही इन्हें ऐसा कहना पड़ता

है। संस्कृत 'अश्रु' हिन्दी में 'आँसू' क्यों हो गया, कहना कठिन है। इसी तरह—मूल्य > मौल, हृदय > हिया, पुष्कर > पोखरा, पिण्ड > पेंड़ा। म० भा० यू० भाषा के अ, (ह्रस्व) ऐं और (ह्रस्व) ओं संस्कृत के 'अ' ही रह गए। दूसरी ओर परोत्पन्न ध्वनि परिवर्तन के कारणों को जाना जा सकता है, जैसे—वाग्यन्त्र की (Physiological) या श्रवणेन्द्रिय (Acoustic) की विभिन्नता, सादृश्य (Analogy), स्वराघात (Accent) एवं भौगोलिक प्रभाव इत्यादि।

यास्क ने यों तो दोनों प्रकार के परिवर्तनों के उदाहरण दिए हैं, क्योंकि आज उनका अध्ययन किया जा चुका है परन्तु परिवर्तनों के लिए कोई कारण न देने से उन्हें 'स्वयमुत्पन्न' परिवर्तन मानें तो कोई आपत्ति नहीं। डॉ० स्कोल्ड ने यास्क के निर्वचनों के सिद्धान्त की त्रुटि दिखलाते हुए लिखा है कि यास्क के निरीक्षण ठीक हैं, पर निष्कर्ष गलत। 'जग्मतुः' में उपधालोप हुआ है—ठीक है, पर सब जगह उपधालोप होगा, यह कहना गलत है। पर यास्क ने इन सिद्धान्तों को दृढ़ नियम नहीं माना, बल्कि ये निरीक्षण अनियमित परिवर्तन (Sporadic change) में ही आते हैं। वे केवल यही कहते हैं, 'अथापि उपधालोपो भवति'– कहीं-कहीं उपधा का लोप देखते हैं, जैसे 'जग्मतुः'। इसी तथ्य को भाषा-विज्ञान मध्यस्वरलोप (Syncope) कहता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यास्क ने या भाषा-विज्ञान ने इसे दृढ़ नियम बना दिया है कि सर्वत्र यही बात मिलेगी। सत्य तो यह है कि भाषा में हुए परिवर्तनों की व्याख्या करने की चेष्टा दोनों ने की है। यास्क भी भाषा-विज्ञान के साथ-साथ ही स्वीकार करते हैं कि ये परिवर्तन देखे जाते हैं—भविष्य में भी होंगे, इसमें सन्देह है।

(अ) आदि स्वरलोप (Aphesis) यास्क कहते हैं—अथापि अस्तेः निवृतिस्थानेषु (Weak Terminations) आदि लोपो भवति, जैसे—अस् स्तः, सन्ति। यह लोप स्वराघात (accent) के कारण होता है। क्योंकि किसी स्वर पर विशेष बल (stress) देने से दूसरे स्वर लुप्तोच्चारण हो जाते हैं, 'स्तः' पर जोर देना ही 'अ' के लोप का कारण है। अंग्रेज़ी में (esquire) से (squire) होने का भी यही कारण है। कम से कम यास्क तो इस तथ्य से अवश्य परिचित थे।

(आ) मध्यस्वरलोप (Syncope)—यास्क का 'उपधा-लोप' जैसे गम् जग्मतुः, जग्मुः। दूसरे स्थानों में भी यास्क ने ऐसे परिवर्तनों के उदाहरण दिए हैं। राजन् से राजा, दा से दित्सति आदि भी ऐसे ही परिवर्तन के उदाहरण हैं।

(इ) सवर्णलोप (Haplology)—यास्क ने जो 'धात्वादि एवं शिष्येते' कहकर 'प्रत्तम्, अवत्तम्' (दा) आदि उदाहरण दिए हैं, वे इसी के हैं। 'प्रदत्त', 'अवदत्त' से समानता होने के कारण दकार का लोप हो गया है। 'उत्तर' की व्याख्या में उन्होंने 'उच्चतर' कहा है। यद्यपि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह निर्वचन ठीक नहीं, तथापि यह यास्क के सवर्णलोप के ज्ञान को प्रकाशित करता है।

(ई) मध्यस्वरागम या स्वरभक्ति (Anaptyxis)—यद्यपि बीच में स्वर के आगमन से ही यह सम्बन्ध रखता है, तथापि व्यंजनों के आगमन में भी यही नाम देने की प्रणाली चल पड़ी है। यास्क इसे 'वर्णोपजन' कहते हैं, जैसे—अस् > आस्थत्। किन्तु उनका दिया हुआ भ्रस्ज् से भरुजा का उदाहरण तो शुद्ध स्वरभक्ति है। अन्य उदाहरण है—स्वर्ण > सुवर्ण, प्रसाद > परसाद।

(उ) वर्णविपर्यय (Metathesis) यास्क का 'आद्यन्तविपर्यय' जिसके लिए वे उदाहरण देते हैं—श्चुत् > से स्तोकः सृज् > रज्जु, कस् > सिकता।

(ऊ) समीकरण (Assimilation)—यास्क इसे 'आदि विपर्यय' (जैसे श्चुत् > ज्योति) के रूप में स्वीकार करते हैं। यद्यपि इसके उदाहरण निरुक्त में भरे पड़े हैं। इसी के द्वारा वे विषमीकरण (Dissimilation) का भी उदाहरण दे देते हैं, जैसे हन् > घनः, अन्तव्यापत्ति में कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं—गाह > गाधः।

(ऋ) महाप्राणीकरण (Aspiration)—अल्पप्राण का महाप्राण वर्ण बनना; जैसे—मद् > मधु। अन्य उदाहरण हैं—गृह > घर।

(ॠ) अल्पप्राणीकरण (Deaspiration)—जैसे भिद् > बिन्दु। इस नियम से अभ्यासस्थ वर्णों का अल्पप्राण होता है—भभूव > बभूवः, हहार > जहार।

यही नहीं, यास्क ध्वनि-नियमों की ओर भी संकेत करते हैं। निर्वचनों के ध्वन्यात्मक सिद्धान्त का विचार हम ऊपर कर ही चुके हैं, इसलिए उनकी आवृत्ति व्यर्थ है। यदि सभी निर्वचनों का अध्ययन ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से किया जाए तो एक अच्छा अनुसंधान हो सकता है।

२. रूप विज्ञान (Morphology)

वाक्य शब्दों से बनते हैं, इसलिए शब्दों की रचना का भाषा-विज्ञान में बड़ा महत्त्व है। शब्दों के निर्माण के बाद

भी उनमें सम्बन्ध-तत्त्व (Morpheme) की आवश्यकता होती है। यही तत्त्व वाक्य के सभी शब्दों को जोड़ता है और अर्थ तत्त्वों का (Semanteme) परस्पर सम्बन्ध बतलाता है। संक्षेप में हम यों कहें कि सम्बन्ध तत्त्व से ही शब्दों को वाक्य में स्थान मिलता है और इसके कारण ही वे रूपों में परिवर्तन करते हैं। शब्दों के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना ही रूप-विज्ञान का कार्य है।

चूंकि भाषा में सबसे पहले शब्द ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, इसलिए अत्यन्त प्राचीनकाल से ही मनुष्य इस पर ध्यान देता रहा है। व्याकरणशास्त्र की तो यही मूल भित्ति है। यास्क भी अपने समय के विकसित रूपविज्ञान का परिचय देते हैं। यास्क ने चार पद-भेद माने हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात। पदों के भेदों में ही वे सभी शब्दों को अन्तर्भूत कर लेते हैं। उपसर्गों और निपातों की तो अल्पसंख्या होने के कारण उन्होंने गणना भी करा दी है। तथापि विस्मय-द्योतक कितने ही शब्द छूट गए हैं जैसे हे, अये इत्यादि। रूप-परिवर्तन के लिए यास्क का शब्द है 'व्यय'। रूपपरिवर्तन होने वाले शब्दों को वे 'दृष्टव्य' कहते हैं। इससे इतर शब्द अव्यय है। उपसर्ग और निपात तो अन्तिम भेद (अव्यय) में ही आते हैं किन्तु भाषा में प्रधान स्थान रखने वाले शब्द हैं—संज्ञा (नाम) और क्रिया (आख्यात)। इनका रूप-परिवर्तन सम्बन्ध-तत्व के ही आधार पर होता है।

संज्ञा-शब्दों के प्रति सम्बन्ध-तत्व का प्रधान कार्य है—कारकों, वचनों और लिंगों को प्रकट करना अर्थात् संज्ञा की विभक्तियों का निर्णय करना। क्रियाओं के प्रति इसका प्रधान कार्य—काल, वचन और पुरुष का द्योतन-मात्र है। यास्क सम्बन्ध तत्व के इन सभी कार्यों से भलीभाँति परिचित हैं, क्योंकि कई स्थलों पर उन्होंने विभक्तियों के नाम दिए हैं। जैसे 'निर्ऋत्याः' शब्द में 'आः' होने के कारण वे इसे पंच या षष्ठी विभक्ति में होने का भ्रम मानते हैं। क्योंकि दोनों विभक्तियों में 'आ' प्रत्यय लगता है। पुनः, चतुर्थी में 'ऐ' प्रत्यय' का भी उल्लेख करते हैं। वचनों का भी नाम वे जहाँ-तहाँ देते हैं, जैसे (२/२४) 'अपि द्विवत्', 'अपि बहुवत्' अर्थात् विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति द्विवचन और बहुवचन में की।

क्रियाओं के सम्बन्ध-तत्व की स्पष्ट चर्चा नहीं है, केवल पुरुषों का उल्लेख उन्होंने किया है। सप्तम अध्याय में ऋचाओं के भेद करते समय तीन पुरुषों का क्रमशः (प्रथम, मध्यम, उत्तम) उल्लेख किया है। काल के विषय में तो वे मौन हैं किन्तु उनके प्रयोग बतलाते हैं कि क्रिया के इस तत्व से भी वे अवश्य परिचित थे। यद्यपि वैदिक युग में कालों और लकारों के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं था, तथापि पाणिनि के कुछ ही पूर्व होने के कारण यास्क से इतनी अपेक्षा रखी ही जाती है। यास्क के समय व्याकरणशास्त्र का इतना अधिक विकास हो चुका था कि इन सभी विषयों का यास्क को ज्ञान था।

शब्द की रचना के विषय में तो यास्क अपने क्षेत्र के एक ही हैं। ये स्पष्टतया मानते हैं कि शब्दों की रचना दो तरह से होती है—एक तो धातु से निकले शब्द और दूसरे इन बने हुए शब्दों से बने शब्द। पहले को यास्क ने वैयाकरणों के साथ ही साथ 'कृत्' नाम दिया है और दूसरा प्रकार 'तद्धित' है। ऐसे तद्धित शब्दों के निर्वचन में वे अधिक सावधान हैं तथा इनके लिए नियम देते हैं कि पहले तद्धितांश निकाल लें, तब शब्द का कृदंश निकालकर निर्वचन करें। 'दण्ड्य' में तद्धितांश है 'य' जिसका अर्थ होगा योग्य होना, सम्पन्न होना (दण्ड के योग्य होना, दण्ड से सम्पन्न होना)। उसके निकलने पर 'दण्ड' बचता है जो दद् (धारण करना) से बनता है। ऐसे ही आर्ष्टिषेण, कक्ष्या आदि शब्द हैं। इस प्रकार शब्द के निर्माण में कृदन्त (Primary) और तद्धित (Secondary) व्युत्पत्ति मानकर उन्होंने भारत-यूरोपीय भाषाओं में सबसे पहले रूप-विज्ञान का विचार प्रस्तुत किया है।

शब्दों के मेल से बनने वाले समासों पर भी यास्क की दृष्टि रहती है जिनके विषय में वे कहते हैं कि ये भी पहले अलग-अलग कर लिए जाएँ, तब समासस्थ पदों का निर्वचन दिया जाए। इसके उदाहरण दिखलाने के लिए उन्होंने राजपुरुष, कल्याणवर्णरूप आदि शब्दों की व्युत्पत्ति दी है। भाषा की प्रारम्भिक अवस्था में समासों की सत्ता शून्य-सी रहती है। इनका अत्यधिक प्रयोग रूपविज्ञान है और इसलिए भाषा की प्रौढ़ी का द्योतक है, जैसाकि कादम्बरी, वासवदत्ता आदि संस्कृत के पिछले ग्रन्थों में हम पाते हैं।

(३) अर्थविज्ञान (Semantics)

ध्वनि यदि शब्द का आवरण करने वाला चर्म है और रूप उसका शरीर, तो अर्थ उसके प्राण हैं, जिसके बिना कोई भी शब्द निरर्थक होता है। यद्यपि निर्वचन को उपर्युक्त तीनों विज्ञानों की सहायता लेनी पड़ती है, तथापि अर्थ-विज्ञान

की ही आधारशिला पर निरुक्त टिका हुआ है। शब्दों का अर्थ निकालने के लिए ही तो निरुक्त का इतना बड़ा प्रपंच है, इसलिए कोई सन्देह नहीं कि यूरोप में, भले ही इसका ज्ञान पीछे हुआ, किन्तु भारत में अर्थ-तत्व का अध्ययन यास्क से ही आरम्भ हो जाता है। बाद में वैयाकरणों, नैयायिकों और मीमांसकों ने तो दार्शनिक दृष्टिकोण से इस पर विचार आरम्भ कर दिया और उसे परिपक्वता की स्थिति तक पहुंचा दिया।

शब्दों के अर्थ का अध्ययन करते हुए हमें दो चीजें आकृष्ट करती हैं—किसी शब्द से किसी निश्चित अर्थ का ही बोध होना और अर्थ का परिवर्तन। इन दोनों का ही विचार यास्क ने किया है। इसमें पहला प्रश्न है कि कोई शब्द किसी निश्चित अर्थ का ही द्योतक क्यों है? क्या कारण है कि पहाड़ को पर्वत कहते हैं। यास्क के सभी निर्वचन ही इस प्रश्न के उत्तर में लगे हुए हैं। शब्दों का सम्बन्ध क्रिया से है। क्रिया का ही अर्थ शब्द भी धारण कर लेते हैं। भले ही इस सिद्धान्त के प्रतिपादन और व्यवहार में अपने हठ के कारण यास्क के निर्वचन कई जगह त्रुटियों से भरे हैं, तथापि यह कल्पना कोई कम महत्व नहीं रखती कि क्रिया और संज्ञा का पारस्परिक सम्बन्ध अर्थ में होता है। आग को 'अग्नि' इसलिए कहते हैं कि यह अग्रंणी है, यज्ञ में इसकी आवश्यकता आगे होती है। इसी प्रकार सब शब्दों का निर्वचन किया गया है। कहीं-कहीं शब्दों के नाम पड़ने में लक्षणा भी सहायक होती है, भले ही उसके मूल में भी क्रिया ही काम आती है। अलंकार भी (जैसे उपमा, रूपक) सहायता करते हैं।

शब्दों का अर्थ-परिवर्तन भी एक सुस्थित तथ्य है। कभी-कभी तो कालक्रम से एक शब्द अपना अर्थ छोड़ देता है और दूसरा ही अर्थ धारण कर लेता है, जैसे—'मृग' का वैदिक भाषा में अर्थ है पशुमात्र', किन्तु संस्कृत में 'हरिण'। कभी-कभी एक ही समय में शब्द अपने अर्थ के अलावा दूसरे अर्थ भी धारण करते हैं, जैसे—'अर्थ'—अभिप्राय, प्रयोजन, धन, आदि, 'कर'--किरण, हाथ, सूंड आदि। इस अवस्था में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। दोनों दशाओं में अर्थ का परिवर्तन कुछ कारणों से होता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि एक ही वस्तु का बोध कराने के लिए कई शब्द होते हैं जो वस्तु के विभिन्न गुणों के आधार पर बने होते हैं, जैसे हिमांशु, चन्द्र, इन्द्र, ..., कुमुदबन्धु आदि। आधुनिक भाषाशास्त्री की भांति यास्क को पता है कि कोई भी पर्यायवाची शब्द वस्तुतः पर्यायवाची नहीं होता, वह विभिन्न गुणों के आधार पर ही बना है, जैसे—'पृथ्वी' का एक नाम 'गौ' है जो उसमें रहने वाले प्राणियों की गति का बोध कराता है, तो 'पृथिवी' से उसके विस्तार के बारे में मालूम पड़ता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि एक ही वस्तु का द्योतन करने के लिए कितने भी नाम क्यों न हों, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सब में अर्थ का अन्तर मिल ही जाएगा।

भाषा-विज्ञान ने जो अर्थ-परिवर्तन की तीन दशाएँ निर्धारित की हैं, यास्क उनके विषय में कुछ नहीं कहते। किन्तु अर्थ-परिवर्तन के कारणों पर तो स्थान-स्थान पर प्रकाश डालते हैं। उनके विचार से उपमा (सादृश्य), रूपक और तद्धित—प्रयोग ही अर्थ-परिवर्तन के मुख्य कारण हैं। एक सादृश्य लें—'कक्ष्या' घोड़े की रस्सी है जो उसके कक्ष (कांख) से बंधी रहती है। इसी घोड़े की कांख के सादृश्य से मनुष्य की कांख भी 'कक्ष' कहलाती है। फिर देखें, पशु के चार पाद (पैर) होते हैं, उनके सादृश्य से ही पाद का अर्थ 'चौथाई हिस्सा' भी हो गया। कितनी सुन्दर व्याख्या है।

तद्धित प्रयोग के लिए 'गौ' के विभिन्न शब्दार्थ अच्छे उदाहरण होंगे। 'गौ' का अर्थ है पृथ्वी और उसी प्रकार इसका अर्थ गाय भी होता है। गाय से सम्बद्ध अर्थों का यदि यह बोध करावें तो उसे तद्धित प्रयोग कहेंगे। गौ के अर्थ हो जाएंगे—गोदुग्ध, सोम चलाने के लिए गोचर्म, गौ की तांत, कफ आदि। गौ की तांत का प्रयोग धनुष में होने के कारण धनुष भी 'गौ' कहा जाता है। यही नहीं, अर्थादेश (Transference of meaning) का प्रभाव भी देखने में आता है जब 'गौ' से सूर्य, चन्द्रमा और सभी प्रकार की किरणों का बोध होने लगता है।

सप्तम अध्याय में जातवेदस् और वैश्वानर के वास्तविक अर्थ के अन्वेषण में यास्क बहुत बड़ी विवेचना करने लगते हैं तथा आधुनिक अनुसन्धान के नियमों का प्रयोग करते हुए पार्थिव-अग्नि को ही इनका वास्तविक अर्थ सिद्ध करते हैं। समूचे निरुक्त का मन्थन करने पर अर्थ-विज्ञान सम्बन्धी बहुत से तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं जिनकी विवेचना के लिए पर्याप्त विस्तार की अपेक्षा है तथापि यह कहा जा सकता है कि यास्क के काल में अर्थ-विज्ञान का इतना उत्कर्ष हमें आश्चर्य में डाल देता है। न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों में भौतिक-जगत से उठकर इस पर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किया जाने लगा था।

(४) वाक्य-विज्ञान (Syntax)

वाक्य भाषा की इकाई है, क्योंकि भाषा के लक्ष्य (विचारों का आदान-प्रदान) की पूर्ति करने वाले वाक्य ही होते

हैं। किन्तु किसी वाक्य में कर्त्ता, कर्म, क्रियादि का स्थान कहाँ रहता है तथा उनमें बल किस प्रकार पड़ता है—इन सब का समुचित अध्ययन अभी तक नहीं किया गया है प्रत्येक भाषा के वाक्यों की अपनी रचना होती है, अपना क्रम होता है जो कालक्रम से बदलता रहता है। पालि की वाक्य-रचना संस्कृत से भिन्न है, लेटिन वाक्य-रचना की गन्ध भी अंग्रेजी में आने पर उसमें लैटिनपना मालूम होने लगता है। आधुनिक हिन्दी-कथा साहित्य की वाक्य-रचना कुछ और ही है जिसमें क्रियाएं प्राय: बीच में आ रही हैं।

वाक्य-विज्ञान की दृष्टि से यास्क का अध्ययन करना बहुत मनोरंजक है, क्योंकि वैदिक-मन्त्रों की व्याख्या में ये अपनी विशेषताएं प्रकट करते हैं। विशेषतया निम्नलिखित बातें ध्यान में देने योग्य हैं—

(क) वैदिक-मन्त्रों की व्याख्या में शब्दों के क्रम में यास्क सामान्यतया परिवर्तन नहीं करते, कोई शब्द नहीं भी आ सकता है। यहाँ तक कि विशेष्य और विशेषण के बीच की क्रिया को भी छोड़ देते हैं। परन्तु जहाँ उन्हें स्वतन्त्र रूप से लिखने का अवकाश मिलता है, वे संस्कृत-वाक्य-विन्यास की ही रीति अपनाते हैं किन्तु क्रियाएँ प्राय: अन्त में नहीं रहतीं, जैसे—

'तमूचु: ब्राह्मणा:, स शान्तनु देवापिविशशिक्ष राज्येन'। (२/१०)

(ख) वैदिक-मन्त्रों में उपसर्ग और क्रिया की पृथकता सर्वविदित है किन्तु यास्क के काल में इनका साहचर्य आवश्यक प्रतीत होता है। यही कारण है कि मन्त्रों की व्याख्या में वे मन्त्रस्थ उपसर्ग और क्रिया को एक साथ कर देते हैं जैसे—नि० १/१७ में मन्त्र के 'प्रति—दुहीयत्' को 'प्रतिदुग्धाम्' में बदल देते हैं।

(ग) वैदिक-भाषा में ही जहाँ निरर्थक निपात पद पूरण और वाक्य पूरण के रूप में हुआ करते हैं, वहाँ यास्क के युग में इनकी निरर्थकता सिद्ध कर दी जाती है। स्वयं यास्क मन्त्र-व्याख्या के समय ऐसे निपातों को छोड़ देते हैं। अपनी भाषा में यास्क इनका प्रयोग न करके केवल सार्थक और बल प्रदान करने वाले निपातों (जैसे एव, अपि) का ही प्रयोग करते हैं।

(घ) 'इति' का प्रयोग ये संस्कृत के अनुसार उद्धरण के बाद करते हैं।

(ङ) यास्क के वाक्य अत्यन्त ही सरल होते हैं। संयुक्त और संश्लिष्ट वाक्यों का प्रयोग ये बहुत ही कम करते हैं।

निर्वचन-शास्त्र (Etymology) भी भाषा-विज्ञान का अनिवार्य अंग है। यद्यपि इसकी पृथक् कोई सत्ता नहीं। ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान के सम्मिलित प्रयोग से ही व्युत्पत्तियाँ होती हैं।

भाषा के इन तत्वों की तुलना करने पर उनके विकास का पता चलता है। यास्क भाषा के विकास की सभी कड़ियों से परिचित हैं क्योंकि वे वैदिक और संस्कृत दोनों भाषाओं के शब्दों को समान मानते हैं (अर्थवन्त: शब्द-सामान्यात् १/१६)। यास्क जानते हैं कि संस्कृत-भाषा में शब्दों के अर्थ में विकास हो गया है जो वैदिक काल में नहीं था। डा० लक्ष्मणस्वरूप कहते हैं कि निघण्टु के व्याख्याता और प्राय: ६०० वैदिक मन्त्रों के टीकाकार होकर यास्क वैदिक और लौकिक भाषाओं के घनिष्ठ सम्बन्ध को समझने में कभी असफल नहीं हुए होंगे। वैदिक भाषा की संज्ञाएँ लौकिक भाषा की क्रियाओं से बनती हैं। इस विरोधी वाक्य का अभिप्राय यह है कि वैदिक काल में वे शब्द संज्ञारूप में प्रयुक्त होते थे, जबकि संस्कृत-युग में संज्ञा रूप न रहकर क्रिया रूप में बदल गए। उसी प्रकार कितने ही शब्द क्रिया रूप में थे, संज्ञा रूप में आ गए—क्रिया का मूल अर्थ नष्ट हो गया। भाषा के परिवर्तन और विकास का अधिक स्पष्ट उदाहरण मिलना उस युग असम्भव ही है। अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से यास्क का योगदान बड़ा मूल्यवान एवं सार्थक रहा है।

पाठ ४

मन्त्र अनर्थक होते हैं ?

यास्काचार्य ने निरुक्त लिखने के छह प्रयोजनों में दूसरा प्रयोजन मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान कराना बताया है। इस पर आचार्य कौत्स का (निरुक्त १-१५) में कहना है कि मन्त्रों का अर्थ बताने के लिए निरुक्त लिखना बेकार है, क्योंकि मन्त्र अनर्थक हैं। 'मन्त्राः अनर्थकाः' इति।

कौत्स के उस मन्तव्य का तात्पर्य यह नहा है कि मन्त्रों का भाषा की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं है अर्थात् जैसे काल की एक लम्बी अवधि बीत जाने के कारण वैदिक भाषा आज के जनसाधारण के लिए दुर्बोध्य एवम् अगम्य हो गई है, वैसे ही मन्त्र दुर्बोध्य नहीं है।

कौत्स के अनुसार वैदिक मन्त्रों की विषय-वस्तु तथा प्रतिपादन शैली कुछ इस प्रकार की है कि वस्तुतः मन्त्र सार्थक हैं एवं कुछ काम की बातें बतलाते हैं, इस बात पर सन्देह होता है। अर्थ की उपपत्ति न होने से वेदार्थ श्रद्धेय एवं प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। जैसे किसी व्यक्ति के अनुपपन्न, परस्पर विसंवादी, अस्पष्ट और भ्रामक वाक्य भाषा की दृष्टि से अर्थवान् होते हुए भी बुद्धिमान व्यक्ति के लिए उपादेय नहीं होने से निरर्थक होते हैं, वैसे ही वेदमन्त्र भी अनुपपन्न परस्पर विसंवादी, अस्पष्ट एवं भ्रामक अर्थ को प्रकट करने के कारण निरर्थक हैं। वेदमन्त्रों का अर्थ है, पर वह अनेक अर्थ दोषों से ग्रस्त होने से अनर्थक ही है।

उनके अनुसार वेदों के रचयिता तीन प्रकार के लोग हैं: १. धूर्त, २. भाँड अर्थात् अनहोनी को भी बढ़ा-चढ़ाकर बखानने वाले, एवं ३. सुरापान, हिंसक कार्य, माँस भक्षण आदि कार्यों में लिप्त लोग। अतः वेद ऊटपटाँग हैं और श्रद्धेय नहीं हैं—

त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्तभण्डनिशाचराः।
जर्फरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥

पूर्वमीमांसा दर्शन के प्रणेता आचार्य जैमिनि ने भी अपने मीमांसा दर्शन में मन्त्राधिकरण में मन्त्रों की प्रामाणिकता के प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में इस मत की अवतारणा करके अपना पक्ष उत्तर पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है।

पूर्व मीमांसा में अध्याय १, पाद २, सूत्र ३१ से ३८ तक मन्त्रों की अनर्थकता की साधक युक्तियाँ दी हैं। १-२-४० से ५० तथा ५४वें सूत्र तक उत्तर पक्ष की साधक युक्तियाँ दी हैं। बीच के कुछ सूत्र वेदों की नित्यता-अनित्यता से सम्बद्ध हैं। जैमिनि ने आचार्य यास्क के प्रकृत प्रकरण का पूरा उपयोग अपने इस प्रकरण में किया है। उनके तर्क प्रायः यास्क से उधार लिए हुए ही हैं। कहीं-कहीं किसी युक्ति को नए ढंग से प्रयुक्त किया गया है।

आचार्य यास्क और जैमिनि ने पहले पूर्वपक्ष और फिर उत्तरपक्ष दिया है। आचार्य यास्क ने तो उत्तरपक्ष की छः युक्तियों में से प्रत्येक युक्ति का खण्डन करने से पूर्व पूर्वपक्ष की युक्ति को (उदाहरण को छोड़कर) दुहराया है। इस प्रकार करने में असुविधा एवं अनावश्यक पुनरुक्ति भी हो जाती है। अतः हम आचार्य कौत्स की प्रत्येक युक्ति के साथ ही उत्तरपक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

आचार्य कौत्स की पहली युक्ति है कि वेदमन्त्रों में शब्दों का प्रयोग तथा उनका क्रम निश्चित होता है। जैसे 'अग्निमीले पुरोहितम्' (ऋ० सं० १-१-१)। हम मन्त्र में प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग करने को बाधित हैं। इतना ही नहीं, इन शब्दों का क्रम भी यही रहना चाहिए, यह हम पर शास्त्र का बन्धन है। परन्तु आम व्यवहार में तो यदि स्वरसंस्कार व्याकरण-सम्मत है, शब्द तथा उनका क्रम चाहे जो हो, अर्थ वही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता ये जैसे हैं, जिन शब्दों से एवं जिस क्रम से युक्त हैं, वैसे ही इनका उच्चारण मात्र करके तो भले ही अपने आपको कृतकृत्य समझ लें, परन्तु अर्थ की दृष्टि से इनकी कोई उपयोगिता नहीं है।

इस पर उत्तर देते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि मन्त्रों में भी वही शब्द प्रयुक्त हैं, जो लोक में हम लोग आपसी व्यवहार में काम में लाते हैं। अतः लोक में जब इन शब्दों का अर्थ होता है, तो वेद में इनका अर्थ अवश्यमेव होगा। 'अर्थवन्तः शब्द सामान्यात्।'

जहाँ तक शब्दों के प्रयोग तथा क्रम के नियम का प्रश्न है यह तो लोक-व्यवहार में भी होता है। लोक में जहाँ एक विशेष व्यवस्था के अधीन शब्दविशेष का प्रयोग एवम् उनका क्रम नियत है, और उससे लौकिक वाक्य अनर्थक नहीं हो जाते, तब वेद में ही यह अनर्थकता क्योंकर होगी? लोक में द्वन्द्व समास की व्यवस्था के अधीन 'इन्द्राग्नी' और 'पितापुत्रौ' पदों में शब्द भी निश्चित हैं और उनका क्रम भी निश्चित है।

यहाँ यास्क यदि लौकिक भाषा के श्लोकों में छन्दोऽनुरोधात् तथा कवि के शब्द-प्रयोग की चतुराई के कारण शब्द की अपरिवर्तनीयता और निश्चित क्रम का उदाहरण देते तो अधिक अच्छा उत्तर होता।

मीमांसकों के मत में तो विशेष क्रम में निबद्ध वेद-मन्त्रों के पाठ से अदृष्ट फल होता है। उससे मन्त्र के अर्थावबोध में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। अतः नियतक्रम होना कोई दोष नहीं है। जब यह दोष नहीं है, तब इसके आधार पर मन्त्रों को अनर्थक सिद्ध करना अनुचित है।

कौत्स का दूसरा तर्क यह है कि—'उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपति प्रथताम्' (वा० स० १-२२)—यह वेदवाक्य है। इसमें स्पष्ट रूप से ही पुरोडाश को 'उरुप्रथाः' (खूब फैलने वाला) बताया गया तथा उसे फैलने को कहा गया है। तब भी कर्मकाण्ड या अनुष्ठान के समय इस पर शतपथ ब्राह्मण (१-१-६-८) की निम्नलिखित विधि यज्ञ कर्म करने वाले को अपेक्षित होती है—

तं प्रथयति। उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति प्रथमत्येवैनम्।

इसमें कोई नवीन बात नहीं बताई गई है। जो मन्त्र में है, उसी बात को ब्राह्मण ग्रन्थ भी समझाता है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि वेदमन्त्र का कोई अर्थ नहीं है, नहीं तो ऋत्विज् वेदमन्त्र के कथन से ही न प्रथन कार्य कर लेता। ब्राह्मण ग्रन्थ के कथन की आवश्यकता ही नहीं होती।

इसी प्रकार 'इदमहमात्मानमेव आञ्चं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्च्चसाय। (दुर्ग द्वारा उद्धृत मन्त्र) में भी स्पष्ट रूप से प्रोहण कार्य मैं करता हूँ, कहा गया है। किन्तु यज्ञ कर्म करते हुए वह पूछता है—'प्रोहाणि'? प्रोहण करूँ? और मन्त्र प्रतिपादित अर्थ का ही विधान करने वाले 'प्रोहाणीति प्रोहति। इस ब्राह्मण वाक्य से ही मन्त्रोक्त कार्य करता है। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि ब्राह्मण वाक्य सार्थक है और मन्त्र-वाक्य अनर्थक होते हैं। जिस वाक्य को सुनकर मनुष्य की कर्म में प्रवृत्ति या निवृत्ति हो, वही तो सार्थक होता है। अतः मन्त्रों की सार्थकता तो मात्र इतनी ही है कि यज्ञ के विविध (ब्राह्मणविहित) कर्म करते समय उनका उच्चारण किया जाए।

इसका उत्तर देते हुए यास्काचार्य कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में तो मन्त्रों के कथन का ही अनुवाद किया जाता है। यदि मूल ही अनर्थक हो, तो उसका अनुवाद सार्थक कैसे हो सकता है? उस अनुवाद के आधार पर ऋत्विज् की भी तत्तत् कर्म में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इसके अतिरिक्त किसी-किसी प्रकरण में एक जैसे ही लिंग वाले अनेक मन्त्र कर्मकाण्ड में प्राप्त होते हैं। उनमें से उस कर्म में अभीष्ट किसी एक मन्त्र का ब्राह्मण ग्रन्थ के द्वारा विधान किया जाता है। अतः इस प्रकार का न तो अनुवाद व्यर्थ है, और न ही इस प्रकार का विधान व्यर्थ है।

इसके अलावा ऐतरेय ब्राह्मण (एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृगाभिवदति (१-४-८) में कहा गया है कि यज्ञकर्म की यही तो सफलता, समृद्धि है कि वह मन्त्रोक्त लिंग (रूप) के अनुसार समृद्ध होता है। अर्थात् ब्राह्मणोक्त विधि वाक्यों की सहायता से मन्त्रोक्त कर्म का जो अनुष्ठान होता है, वही वस्तुतः यज्ञकर्म की कृतार्थता है। जिस कर्म का अनुष्ठान किया जा रहा है, ऋचा में भी उसी कर्म का वर्णन है, यही कर्म की सार्थकता है। जैसे—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभि मोदमानौ स्वे गृहे॥ (ऋ० सं० १०-८५-४२)

इस मन्त्र का प्रयोग विवाह कर्म में विहित है। मन्त्र में भी इसी अर्थ के अनुकूल वर-वधू को आशीर्वाद दिया गया है। ऐसी स्थिति में यह मन्त्र अनर्थक कैसे माना जा सकता है?

अतः इस तर्क से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रार्थ का अनुसरण करते हैं तथा मन्त्रों के सार्थक

होने में साधक ही हैं—बाधक नहीं होते।

३. कौत्स की तीसरी युक्ति दूसरी युक्ति के समान ही है। वे कहते हैं कि होता ऋत्विज् भलीभांति शास्त्र पढ़कर कर्मकाण्ड में अपने कर्त्तव्य कर्म को जानकर प्रवृत्त होता है। मन्त्रों का भी उसे भलीभांति ज्ञान होता है। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ फिर भी उसे उसका कर्म बतलाता है—

स ग्राह—अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्यग्नये
होतत्समिध्यमानायान्वाह। (शतपथ ब्राह्मण १-३-२-२)

अर्थात् वह अध्वर्यु बतलाता है—तुम प्रदीप्त अग्नि के लिए बोलो। तब (होता) प्रदीप्त अग्नि के लिए बोलता है। इस सम्प्रेषण का अर्थ यह हुआ कि मन्त्र अनर्थक होते हैं।

इस पर आचार्य यास्क का उत्तर है कि जानकार को भी बतलाना (सम्प्रेषण) तो कोई दोष नहीं होता।

प्राचीन परम्परा के अनुसार लोकव्यवहार में प्रतिदिन अभिवादन करने वाले शिष्य के कुल, गोत्र, नाम को यद्यपि गुरु जानते हैं, तब भी शिष्य उन सबको बतलाते हुए ही अभिवादन करता है। इसी प्रकार विवाह में मधुपर्क सामने प्रस्तुत है, यह वर जानता है, तब भी कन्या का पिता तीन बार मधुपर्क है, मधुपर्क है, मधुपर्क है, कहकर उसे बतलाता है।

आचार्य जैमिनि ने कौत्स की इस युक्ति का उत्तर भिन्न प्रकार से दिया है। वे कहते हैं कि जानकार को सम्प्रेषण करने से उक्त दोष नहीं आता, क्योंकि सम्प्रेषण से एक अदृष्ट संस्कार हो जाता है।

४. मन्त्रों के सार्थक होने में कर्मकाण्ड से सम्बद्ध कुछ असंगतियाँ बतलाकर अब कौत्स सीधे ही मन्त्रों की सार्थकता पर प्रहार करते हैं। वे कहते हैं कि वैदिक मन्त्रों का अर्थ संगत (उपपन्न) नहीं होता, जैसे—

'ओषधे त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिंसीः'। (तैत्तिरीय संहिता १-२-१-१)

अर्थात् मन्त्र में स्वधिति (छुरे) से काटी जाती औषधि (कुश के बने हुए तरुण) से यजमान की रक्षा की प्रार्थना और 'स्वधिति' (तलवार) से उसकी हिंसा न करने की प्रार्थना की गई है।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि जो औषधि (कुशतरण) स्वयं काटी जा रही है, वह यजमान की रक्षा क्या करेगी? कुशतरण को काटते हुए छुरे से ही कहा गया है—हे छुरे, तू इसे मत काट। यह सब असंगत ही प्रतीत होता है। अतः कैसे सार्थकता मन्त्रों की मानी जाए?

आचार्य जैमिनि ने इस युक्ति को कुछ भिन्न रूप मे प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि औषधि तथा स्वधिति अचेतन पदार्थ हैं। त्राण तथा हिंसा न करना चेतन के द्वारा ही सम्पन्न होने वाले कार्य हैं।

अचेतन पदार्थ से उनकी अपेक्षा करना असंगत है। वेद मन्त्रों में चेतन व्यक्ति से सम्भव कार्य करने की प्रार्थना चूंकि अचेतन पदार्थों से की गई है, इस प्रकार के मन्त्र असंगत बातें कहने के कारण अनर्थक समान हैं।

आचार्य दुर्ग के अनुसार लोक में ऐसी बातें पागल किया करते हैं, और लोग उन बातों को अनर्थक कहते हैं। अतः पागलों की अटपटी व असंगत बातों के समान वेदमन्त्र भी अनर्थक हैं।

इस युक्ति का उत्तर देते हुए आचार्य यास्क कहते हैं कि वेद इस प्रकार के वाक्यों से 'वैदिकी हिंसा' अहिंसा ही है हिंसा नहीं—इस विशेष अभिप्राय को प्रकट करते हैं। अर्थात् यज्ञ के लिए जो औषधि, वनस्पति, पशु आदि सूक्ष्म या स्थूल रूप से चेतन पदार्थों की हिंसा होती है, वह उनकी हिंसा नहीं है। यज्ञ में उनका उपयोग करना तो उन पर उपकार के समान है। यज्ञ में अपनी बलि देकर उत्तम लोक मिलेंगे, ऐसा विश्वास है।

आचार्य जैमिनि का कथन है कि सामान्यतया जब कोई असम्भव बात कही जाती है, तो वहाँ उसका प्रधान अर्थ अभिप्रेत नहीं होता, अपितु गौण अर्थ ही ध्यान में रखना चाहिए। फलतः अचेतनों के प्रति जो कुछ कहा गया है, उसे अर्थवाद अर्थात् उस पदार्थ की स्तुति के रूप में समझना चाहिए। जैसे कुशा का (छेदन) करने पर भी औषधि की रक्षा (उसकी उत्कृष्ट गति होने के कारण) हो जाती है, तो वपन जिस यजमान के निमित्त किया जा रहा है, उसकी गति क्यों न होगी? अतः प्रकृत वाक्यों में 'औषधि' तथा 'स्वधिति' की स्तुति अभिप्रेत है।

आचार्य बादरायण का कथन है कि ऐसे अचेतन पदार्थों के बारे में भी चेतनोचित बातें कहने का आधार यह है कि उपर्युक्त कथन उस अचेतन पदार्थ के लिए नहीं, अपितु उसके अधिष्ठाता चेतन देवता के प्रति कहा जाता है।

५. कौत्स की पाँचवीं युक्ति यह है कि मन्त्रों में परस्पर विरोधी बातें हैं।

(क) 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' मन्त्र में (रुद्र एक ही था), दूसरा नहीं, ऐसा कहा है तो अन्यत्र 'असङ्ख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्' 'इस मन्त्र में रुद्रों को हजारों की संख्या में बताया गया है।

(ख) 'अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे' (ऋ० सं० १०-१३३-२) में इन्द्र का कोई शत्रु नहीं है—यह बताया गया है। जबकि शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः'(१०-१०३-१) में इन्द्र के एक साथ सौ सेनाओं के जीतने का वर्णन आया है।

(ग) अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

इस मन्त्र में एक अदिति को ही सब कुछ बताया गया है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में पागल के प्रलाप की तरह एक-दूसरे के विपरीत बातें कही गई हैं। पाँचवें मन्त्र में तो 'वदतो व्याघात' दोष स्पष्ट ही है।

'असङ्गति' तथा 'वदतो व्याघात' दोष से ग्रस्त होने से वेदमन्त्रों को सार्थक की अपेक्षा अनर्थक मानना ही उचित लगता है।

इस पर यास्क का कहना है कि कौत्स जिसे परस्पर विरुद्ध बता रहे हैं, वह तो आलंकारिक वर्णन है। लौकिक व्यवहार में भी हम जब कहते हैं कि इस ब्राह्मण का कोई शत्रु नहीं है, या इस राजा का कोई शत्रु नहीं है, तो हमारा अभिप्रेत अर्थ इन वाक्यों का प्रधान अर्थ नहीं होता। क्योंकि जगत् में कोई भी व्यक्ति मित्र, तटस्थ या शत्रु से रहित नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है--

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥

अदिति ही सब कुछ है—इस निष्कर्ष पर जो विरुद्धार्थता की बात कहीं गई है, वह भी उचित नहीं है। जब हम जल की प्रशंसा में कहते हैं कि 'पानी में सारे ही रस आ गए हैं तो हमारा अभिप्राय वास्तव में जल को एक साथ खट्टा, मीठा, कड़ुवा, नमकीन और कसैला बतलाना नहीं होता, अपितु जल का सर्वोपरि महत्त्व बतलाना होता है।

उसी प्रकार अदिति को भी आलंकारिक भाषा में ही द्यु, अन्तिरिक्ष, माता-पिता आदि बताया गया है।

६. मन्त्रों की अनर्थकता के विषय में आचार्य कौत्स का अन्तिम तर्क यह है कि मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। जैसे—

(क) अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे (ऋ० सं० १-१६९-३)

(ख) यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदत् (ऋ० सं० ५-४४-८)

(ग) उस्त्रः पितेव जारयायि यज्ञैः (ऋ० सं० ६-१२-४)

(घ) इन्द्रः सोमस्य काणुका (ऋ० सं० ८-७७-४)

इन मन्त्रों में अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि और काणुका शब्द बिल्कुल अस्पष्ट हैं। इस प्रकार के और भी बहुत से अस्पष्ट तथा भाव मन्त्रों में प्रतिपादित हैं। अतः अस्पष्टार्थक होने से वेदमन्त्र अनर्थक हैं, यही मानना ठीक लगता है।

इस युक्ति पर यास्क का कहना है कि अन्धा आदमी यदि स्थाणु ठूंठ को नहीं देख पाता, तो दोष ठूंठ का है या पुरुष का?

यदि आपको वेद पढ़ते समय इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ, तो यह दोष किसका है, शब्दों का या आपका?

इस प्रकार के क्लिष्ट शब्दों का अर्थ ज्ञान कराने के लिए तो निरुक्त की सुतराम आवश्यकता एवं उपयोगिता ही प्रकट होती है। साधारण लोगों में विद्या प्राप्त मनुष्य विशेष माना जाता है। किन्तु शास्त्र या वाङ्मय के पारावारगामी विद्वानों में तो जो अधिक जानकार हैं, (बहुश्रुत) शास्त्र में कृतश्रम है, वही अधिक प्रशंसनीय होता है। आप साधारण लोगों में अपनी विद्या के कारण श्रेष्ठ हो सकते हैं, किन्तु समस्त मन्त्रों के अर्थ पर भलीभाँति विचार करके मन्त्रों को सार्थक या निरर्थक कहने का अधिकार रखने वाले पारोवर्यवेदी लोगों में आपकी बात श्रद्धेय नहीं होगी, क्योंकि आपने मन्त्रों का अर्थ भलीभाँति जानने के लिए जो ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो शास्त्र पढ़ना चाहिए, वह तो किया नहीं और आचार्य बनकर मन्त्रों को ही अनर्थक कहने लगे हैं, जो उचित नहीं है।

आचार्य जैमिनि ने इसी युक्ति को इसकी कड़वाहट थोड़ा हटाकर कहा है कि अर्थ तो है, पर आपको मालूम नहीं है।

७. सायणाचार्य ने (ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात में) पूर्व पक्ष में इन युक्तियों के अतिरिक्त एक युक्ति और दी है। वे कहते हैं कि बहुत से मन्त्रों में संदिग्ध बातें कही गई हैं। जैसे एक मन्त्र कहता है—

अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् (ऋ० सं० १०-१२९-५)

इस मन्त्र में कुछ ऐसी बात कही गई है जैसे कोई कहे—यह ठूंठ है, या पुरुष है ?

इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि इस मन्त्र में सन्देह प्रतिपाद्य नहीं है, अपितु जगत् के रचियता परब्रह्म की अत्यन्त गम्भीरता बतलाना ही प्रतिपाद्य है।

इस प्रकार यास्क सिद्ध कर देते हैं कि मन्त्रों के अर्थ होते हैं और उसके ज्ञान के लिए निरुक्त की आवश्यकता होती है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए यास्क ने निरुक्त में ६०० के लगभग मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की है।

पाठ ५

"नामानि आख्यातजानि"

निरुक्त के चतुर्थ पाद में एक ऐसे विषय पर विवाद उठाया गया है जो निरुक्त की एवं आधुनिक भाषा विज्ञान की आधारशिला है। वह है शब्दों का आख्यातज सिद्धांत। क्या सभी नाम धातुओं (आख्यातों) से निष्पन्न होते हैं या स्वतः निष्पन्न (रूढ़) होते हैं। यास्क इस मत के पोषक हैं कि 'सभी शब्द आख्यातजं' होते हैं—यह सिद्ध करने के लिए ही सम्पूर्ण निरुक्त की रचना हुई है।

इस विवाद में दो पक्ष हैं—एक पक्ष के समर्थक शाकटायन तथा निरुक्तकार हैं जो कहते हैं कि 'सभी नाम आख्यातज होते हैं 'नामानि आख्यातजानि' इति। दूसरे पक्ष में आचार्य गार्ग्य एवं कुछ वैयाकरण हैं जो कहते हैं कि सभी नाम आख्यातज नहीं होते हैं। 'न सर्वाणि इति गार्ग्यो वैयाकरणाश्च'।

गार्ग्य तथा अन्य कुछ वैयाकरण मानते हैं कि 'सभी नाम आख्यातज नहीं हो सकते। कुछ नाम आख्यातज होते हैं, और कुछ रूढ़ शब्द होते हैं। गौ, पुरुष, हस्ती, नर, अग्नि आदि नाम निश्चय ही धातुज हैं जो स्वर, प्रकृति प्रत्ययादि से निष्पन्न हैं। 'तद् यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ, प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्। संविज्ञातानि तानि, यथा-गौरश्वः पुरुषो हस्तीति।

गार्ग्य के अनुसार 'जिन शब्दों की व्युत्पत्ति हम व्याकरण के अनुसार कर सकें अर्थात जब शब्द में विद्यमान धातु का अर्थ, शब्द के अर्थ से सामंजस्य रखता हो—और व्याकरण की प्रक्रिया स्पष्ट दिखलाई पड़ती हो—उन शब्दों को हम व्युत्पन्न मानते हैं—अन्य शब्द अव्युत्पन्न होते हैं। इस प्रकार गार्ग्य एवं अन्य वैयाकरण 'व्युत्पन्न शब्द' और 'अव्युत्पन्न शब्दों' की विभाजन रेखा स्वीकार करते हैं।

गार्ग्य के आक्षेपों का यास्क ने युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। कुछ पद प्रतीतार्थक होते हैं और कुछ अप्रतीतार्थक होते हैं—जैसे व्रतति, दमूना आदि। जिन पदों में 'व्याप्तवान्' (व्याकरण) लक्षण से युक्त कार्मनामिक (कर्मनिमित्त) संस्कार (प्रकृति प्रत्यय) है, उसका अर्थ भी ज्ञात होता है—तो उनका निर्वचन उसी प्रसिद्ध (व्याकरण-सम्मत) प्रकार से होता है—वह पद प्रतीतार्थक है हीं। दूसरे पदों में भी आख्यात ढूंढ़ना चाहिए—जिसके लिए निर्वचन के अनेक सिद्धांत बतलाये गये हैं।

'धातु' या 'आख्यात' या 'क्रिया' का 'कर्म' से संज्ञा (नाम) पड़ने के यास्क एवं शौनक ने चार कारण माने हैं।

> चतुर्भ्यः इति तथाहु यास्कगार्ग्यरथीतराः (बृहद्देवता)
> सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः।
> आशीः रूपं च वाच्यं च सर्वं भवति कर्मतः॥

सभी नाम कर्म या क्रिया से होते हैं। आशी, रूप, वाक शब्दानुकृति से नाम पड़ते हैं। 'काक इति' 'शब्दानुकृतिः'। इस प्रकार यास्क सिद्ध करते हैं कि 'सभी नाम आख्यातज हैं' अर्थात् क्रिया से होते हैं।

अब हम गार्ग्य एवं यास्क इन दोनों पक्षों की युक्ति-प्रतियुक्तियाँ निम्नलिखित प्रकार से देते हैं।

(१) गार्ग्य :—जिन संज्ञा शब्दों में उदात्त आदि स्वर और प्रकृति-प्रत्यय आदि में होने वाले विकार उन शब्दों और उसके आधार (प्रकृति) धातु के अर्थ के अनुकूल हों तथा उससे युक्त हों, अर्थात् जिस शब्दों को देखते ही

उनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट झनक जाए, उन्हें हम उस क्रिया के आधार पर पड़ा हुआ नामपद मानते हैं। परन्तु गो, अश्व, पुरुष, हस्ती आदि शब्द तो रूढ़ (अविज्ञात) ही हैं, अर्थात ये किसी क्रिया के कारण नहीं बने। अपितु संकेत के द्वारा पशु विशेष के लिए गो, अश्व और हस्ती तथा पुं० मनुष्य के लिए पुरुष शब्द बिना ही किसी व्युत्पत्ति के प्रसिद्ध हो गये हैं।

यास्क :—हमारा तो सिद्धांत ही है कि सब नामपद किसी न किसी क्रिया के आधार पर पड़ते हैं। (अतः उनमें 'स्वर-संस्कार तथा धातु का अस्तित्व तो अक्षर या वर्णमात्र के रूप में ही सही', रहेगा ही। भले ही वह इतना परोक्ष हो गया हो कि मोटी दृष्टि वालों को आपातत न दिखाई पड़ें।) इसमें आपत्ति योग्य कुछ भी नही है।

२. गार्ग्य :—यदि सभी नाम आख्यातज ही हैं, तो एक क्रिया को करने वाले हर किसी व्यक्ति का वह नाम पड़ना चाहिए। मार्ग को घोड़ा ही तो अशन (व्यापन) नहीं करता। कोई हरकारा भी मार्ग का अशन करने से 'अश्व' क्यों नहीं कहलाता। तृण तो आप √तृद् (चुभना) के कारण बना बताते हैं। तो, चुभने वाली हर चीज का नाम तृण पड़ना चाहिए। हमारी आपत्ति यह है कि एक क्रिया को करने वाले तो बहुत से व्यक्ति हैं, तब किसी एक वस्तु का नाम ही उस क्रिया के कारण क्यों पड़ता है बाकी का क्यों नहीं 'नाम' पड़ता।

यास्क :—'अच्छा', 'तक्षा', परिव्राजक, जीवन और भूमिज शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट होने से इन्हें तो आप आख्यातज मानते हैं। (तक्ष—√तक्ष=काठ छीलना, परिव्राजक परि+व्रज=चारों ओर घूमना, जीवन—√जीवि=जिलाना, भूमिज भूमि+√जन=धरती से पैदा होना क्रियाओं के कारण पड़ा) नामपद मानते हैं। तो, हम पूछते हैं कि तब क्या ये अपने योगिक (व्युत्पत्तिलभ्य) अर्थ में जो कोई वह क्रिया करता है, उसके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। वास्तव में बात यह है कि एक ही कर्म करने वाले अनेक द्रव्यों में से किसी का उसके कारण नाम पड़ जाता है, किसी का नहीं—ऐसा हम लोक में प्रतिदिन देखते हैं। इसमें हमारे सिद्धांत का दोष नहीं है, अपितु लोक-प्रवृत्ति ही कारण है। इसी कारण कहा गया है :

योगाद्रूढिर्गरीयसी।

३. गार्ग्य :—प्रत्येक द्रव्य अनेक क्रियाओं से युक्त होता है। यदि आपका सिद्धांत माना जाए तो उन सब क्रियाओं के कारण उस द्रव्य के अनेक नाम पड़ने चाहिए। जैसे—स्थूना (थूण, खम्भा) को गढ़े में पड़े होने से, दरशया (दर=बिल, गढ़ा, शया √शी=लेटना, सोना, निश्चेष्ट पड़ा रहना।) और उस पर बांस आदि टिकाये जाने के कारण सञ्जनी (√सञ्ज्=लगाना, संयुक्त करना) भी कहना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं है। अतः आपका सिद्धांत स्वाभाविक नहीं है।

यास्क :—लोग किसी क्रिया के कारण तो अमुक पदार्थ को अमुक नाम दे देते हैं, पर अन्य क्रिया की उपेक्षा कर देते हैं। क्या जिसे आप तक्षा कहते हैं, वह और कोई कार्य करती ही नहीं? तब आप भी उसके तक्षण को ही क्यों महत्व देते हैं! अतः लोक प्रवृत्ति को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि किसी क्रिया के कारण नाम पड़ जाता है, एवं किसी अन्य क्रिया के कारण नहीं पड़ता।

४. गार्ग्य :—नाम अगर क्रिया के कारण ही पड़ते हैं तो वे ऐसे क्यों नहीं रखे जाते कि उनका अर्थ उनकी व्युत्पत्ति से प्रकृति-प्रत्यय को देखते ही प्रकट हो जाए। 'पुरुष' शब्द में क्या क्रिया है, यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता। अगर यह पुर=शरीर में √शी=विराजने वाला होने के कारण पड़ा होता, तो इसे सीधे-सीधे 'पुरिशय' कह देते। 'पुरन्दर' शब्द आख्यातज है, यह व्युत्पत्ति स्पष्ट होने के कारण कोई भी कह सकता है। इसी प्रकार से 'अशन' के कारण अश्व नाम यदि पड़ा है, तो 'अष्टा' (अश्+तृ=अष्ट्) कहना ज्यादा अच्छा होता। परन्तु ऐसा हुआ नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः सब नाम क्रिया के कारण नहीं पड़ते, अपितु आप जैसे साहसी पुरुष खींचतान करके, कोई न कोई क्रिया खोज डालते हैं। (जैसे—पर्व में और कोई क्रिया नहीं मिली, तो 'पृक्ता' संख्या कह कर 'पर्वन' क्रिया ही ढूंढ निकाली।)

यास्क :—इसमें हमारा दोष नहीं है, आपके 'व्रतति, दमूना, जाट्य, आट्णार, जागरूक और दर्विहोमी आदि शब्द तो व्युत्पन्न नामपद हैं। इनमें ही व्युत्पत्ति कहां स्पष्ट है ? इसी प्रकार पुरुष, अश्व, तृण, आदि शब्द भी आख्यातज तो हैं, पर उनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है।

५. गार्ग्य :—आप कहते हैं कि क्रिया को देखकर नाम पड़ता है। पर होता तो इसके विपरीत है : पहले नाम पड़ जाता है और फिर आप उस पर विचार करने बैठ जाते हैं कि आओ, इस शब्द में धातु खोजें। जैसे पृथिवी नाम न जाने कब से चला आया है। नैरुक्त कहते हैं—यह नाम 'प्रथन' क्रिया के कारण पड़ा है। अब कोई उनसे पूछे—भाई, किसने इसे फैलाया। फैलाते समय वह महाशय स्वयं कहां खड़े हुए ? (अर्थात सब का आधार 'धरती' ही जब फैलाई जा रही थी, तो फैलाने वाले का आधार क्या रहा होगा ?) अतः नैरुक्त तो घोड़े के अगाड़ी गाड़ी लगाकर घोड़े से कहते हैं—चल बेटा, खेंच इसे।

यास्क :—हमें तो इसमें कोई दोष नहीं दिखलाई देता। 'पृथिवी' इसलिए 'पृथिवी' है कि यह बहुत पृथु (फैली हुई, विस्तीर्ण) दिखाई देती है, चाहे किसी ने इसे फैलाया हो, या नहीं। अतः पहले पड़े नाम का बाद में आधार खोजना अनुचित नहीं है।

६. गार्ग्य :—शाकटायन महोदय सब नामों की 'क्रियाधारता' सिद्ध करने के चक्कर में कई बार ऊटपटांग कल्पनाएँ भी कर सकते हैं। जैसे—सत्य शब्द के बारे में वे कहते हैं : यह दो आख्यातों के कारण प्रसिद्ध हुआ है। अपनी कल्पना की उड़ान में वे दोनों आख्यातों से जिस तरह निर्वचन करा करते हैं, उसका नमूना भी देखें। वे कहते हैं—सत्य का आधा हिस्सा—√ई के प्रेरणार्थ रूप—आयि का है, और वह शब्द के अन्त में रखा है। पहला आधा भाग सत्—√अस् की शुद्ध अवस्था (अर्थात प्रेरणा, इच्छा आदि अर्थों में लगने वाले प्रत्यय लगाये बिना) सकारादि रूप से बना रखा है, और दोनों को जोड़कर बना एक शब्द 'सत्य'। यह खेंचतान नहीं तो और क्या है ?

यास्क :—इस प्रकार शब्दों के मूल खोजना गलत नहीं है। हां, यदि खोजी गई क्रियाओं का अस्तित्व शब्द में वस्तुतः न हो, तो आप दोष बता सकते हैं। और वह दोष भी अयुक्त (अनन्वित) अर्थ में शब्द का निर्वचन करने वाले पुरुष का ही होगा, हमारे शास्त्र का नहीं।

"सैषा पुरुषगर्हा नापि शास्त्रगर्हा"

७. गार्ग्य :—प्रामाणिक लोगों का कहना है कि पहले द्रव्य होता है फिर उसमें कोई क्रिया होती है 'पूर्ववर्ती द्रव्य' को 'परवर्ती क्रिया' के कारण पुकारना उचित नहीं प्रतीत होता। (क्या उस नाम से पहले उस द्रव्य का कोई नाम ही नहीं रहा होगा ? यदि था, तो दूसरे नाम की, वह भी 'परवर्ती क्रिया' के आधार पर रखने की आवश्यकता है ? यदि नहीं थी, तो लोग उसे व्यवहार में कैसे लाते होंगे ?

यास्क :—लोगों के व्यवहार में हम रोज देखते हैं कि पहले से उत्पन्न किसी द्रव्य का तो बाद में होने वाली क्रिया से नाम पड़ जाता है, पर किसी का नहीं पड़ता। बच्चे के जन्म से ही लम्बी चोटी नहीं होती। पर बाद में हो जाने पर 'लम्बचूड' नाम रख दिया जाता है। बच्चा जन्मते ही कुछ नहीं खाता। पर जब बाद में उसे 'बेल' का फल बहुत प्रिय लगने लगता है, तो लोग उसका नाम ही रख देते हैं—बिल्वाद (बेल खाने वाला)। महाजन के लिए प्रयुक्त सूदखोर शब्द भी इसी प्रवृत्ति का परिचायक है।

गार्ग्य वैयाकरण आचार्य हैं। नामों की आख्यातजता के विरोध में उन्होंने जो युक्तियां दी हैं, वे भी व्याकरण दृष्टि को ही उपस्थित करती हैं। वैयाकरण के लिए सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है 'व्युत्पत्ति'। संरचना, अर्थ-विधान, रूढ़ि आदि सब बातों में शब्द व्युत्पत्ति के अनुकूल हों—वैयाकरण का यही आग्रह होता है। नैरुक्त को व्युत्पत्ति का मोह नहीं होता। वह शब्द के शरीर की अपेक्षा उसके 'आत्मा रूप अर्थ' पर ही दृष्टि रखता है। मूलत

शब्दों का अर्थनिश्चय व्याकरण से नहीं होता। वह तो लोक से ही होता है। अतः नैरुक्त के लिए लोक के द्वारा निर्धारित अर्थ ही सर्वाधिक प्रधान वस्तु है। भले ही व्युत्पत्ति उस अर्थवस्तु को प्रकाशित न कर सके। अमुक शब्द अमुक अर्थ में क्यों प्रसिद्ध हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर देना वैयाकरण का कार्य उतना नहीं है जितना कि नैरुक्त का है। गार्ग्य के आक्षेपों के समाधान में यास्क ने इसी ब्रह्मास्त्र से काम लिया। एक क्रिया करने वाले अनेक व्यक्तियों के नाम उस क्रिया के आधार पर नहीं पड़ते, तो लोकप्रवृत्ति के कारण। अनेक क्रियाओं को करने वाले एक द्रव्य के अनेक नाम नहीं पड़ते, तो लोकप्रवृत्ति के कारण। क्रिया के आधार पर पड़ने वाले नाम भी इतने स्पष्ट क्यों नहीं रखे जाते कि क्रिया तुरन्त ही झलक जाए ? तो यह भी लोकप्रवृत्ति के कारण ही नहीं होता। पूर्ववर्ती द्रव्य का परवर्ती क्रिया से नाम पड़ता है, तो इसमें भी लोक प्रवृत्ति ही नियामक है, और यदि नहीं पड़ता, तो इसमें भी लोक-प्रवृत्ति ही उत्तरदायी है। वस्तुतः संज्ञा या 'नाम' लोक के द्वारा अपनी सुविधा के लिए रखे जाते हैं।

यहां एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। वैयाकरण लोग क्रिया, कर्म, भाव, आख्यात आदि शब्दों से प्रायः धातु शब्द को ही प्रकृति के रूप में लिया करते हैं। यही कारण है कि गार्ग्य ने अपने सारे आक्षेपों में सारे नामपद धातु से निष्पन्न होते हैं—इसी आशय का खण्डन किया है। यास्क ने भी जैसा पूर्वपक्ष, वैसा उत्तरपक्ष प्रस्तुत किया है। नाम आख्यातज हैं का आशय 'नाम धातुज' है—इतना ही नहीं है, यह हम पीछे कह चुके हैं। इस सिद्धांत के ऐतिहासिक विकास से भी हमारे कथन की पुष्टि होती है। यास्क के निर्वचनों में भी क्रिया को ही नामकरण का आधार खोजा गया है।

इस प्रकार यास्क सिद्ध करते हैं कि सभी शब्दों का निर्वचन संभव है। आधुनिक भाषा विज्ञान का यह लक्ष्य है कि प्रत्येक शब्द के मूल का पता लगाना चाहिए—उसे रूढ़ कहकर न छोड़ें। इस दृष्टि से भाषाशास्त्रियों को यास्क से मार्ग-निर्देशन मिला है। सत्य तो यह है कि यास्क ही विश्व के प्रथम भाषाशास्त्री कहे जा सकते हैं।

पाठ ६

उपसर्ग : द्योतक अथवा वाचक

संस्कृत के व्याकरणशास्त्र की परम्परा में उपसर्गों से अर्थ किस प्रकार प्रकट होता है, इस विषय में पुराने समय से दो सम्प्रदाय चले आए हैं। एक सम्प्रदाय का तो मत है कि जिस प्रकार नाम और आख्यात पदों का अपना वाच्यार्थ होता है, वैसे ही उपसर्गों का अपना कोई अर्थ नहीं होता। ये नामों और आख्यातों के ही अर्थ को कुछ विशिष्ट बनाकर द्योतित कर देते हैं। यह सम्प्रदाय द्योतकता-पक्ष कहलाता है।

दूसरे सम्प्रदाय का सिद्धान्त है कि उपसर्गों का अपना वाच्यार्थ होता है। यह सम्प्रदाय उपसर्गों को वाचक मानता है।

यास्क के अनुसार प्रथम (द्योतकता) पक्ष के उद्भावक आचार्य थे शाकटायन। अथर्व—प्रातिशाख्य में इसी पक्ष को प्रश्रय दिया गया है।

परवर्ती वैयाकरणों में इस पक्ष को मानने वालों में आचार्य भर्तृहरि, कैयट और नागेश के नाम प्रमुख हैं। यास्क ने दूसरे (वाचकता) पक्ष के समुपस्थापक के रूप में गार्ग्य का नाम देकर उनका मत ही अपने उत्तरपक्ष के रूप में उद्धृत किया है।

आचार्य पाणिनि ने स्पष्ट रूप से इस विषय में कुछ नहीं कहा किन्तु उन्होंने उपसर्गों का जिस ढंग से प्रतिपादन किया है, उससे प्रतीत होता है कि वे मध्यमार्गी थे। उन्होंने (१/४/८४-९८ में) कर्म प्रवचनीयों (जो पाणिनीय शास्त्र को छोड़कर वस्तुत: उपसर्ग ही हैं) के विभिन्न अर्थ बताए हैं। विशुद्ध उपसर्गों का भी अर्थ होता है, यह अन्वय-व्यतिरेक से अष्टाध्यायी से सूचित होता है। कुछ क्रियाओं के साथ,उनका अपना अर्थ गौण पड़ जाता है तथा उन उपसर्गों एवं उन क्रियाओं के स्वार्थ से भिन्न कोई अन्य अर्थ ही आ जाता है जो वाच्यार्थ नहीं होता।

यास्क और पाणिनि के ही आसपास के आचार्यों में शौनक और कात्यायन ने उपसर्ग को आख्यात में विशेषता ला देने वाला (विशेषकृत) कहा है। उपसर्ग के लगने से क्रिया में विशेषता तो उपसर्ग के वाचक होने पर भी आ सकती है, और द्योतक होने पर भी। उपसर्ग लगने से क्रिया में विशेषता तो आती ही है।

जब दो अर्थ इकट्ठे होते हैं, तो इससे एक विशिष्ट अर्थ तो प्रकट होता है। अत: केवल इतने से—उपसर्ग विशेषता बतलाते हैं, कहने से इन्हें द्योतक नहीं माना जा सकता। सौभाग्य से शौनक ने इस विषय में एक निर्णायक सन्दर्भ रख छोड़ा है।

उन्होंने उपसर्ग विशेषता लाते हैं—कहने से पूर्व बीस उपसर्ग अर्थवाचक हैं, यह स्पष्ट रूप से कहा है। अत: उनके मत में और उनके अनुयायी प्रातिशाख्यकार कात्यायन के मत में उपसर्ग वाचक होते हैं, द्योतक नहीं। यह नि:संकोच कहा जा सकता है।

उपर्युक्त आचार्यों से पीछे के आचार्य वार्तिककार, कात्यायन और पतञ्जलि भी उपसर्गों को विशेषकृत मानते हैं। इससे वार्तिककार वास्तव में क्या कहना चाहते हैं, यह जानने का आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। महाभाष्यकार ने उपसर्गों का स्वरूप बतलाते हुए कहा है; "उपसर्ग ऐसे हैं कि जहाँ कोई क्रियावाचक शब्द प्रयुक्त होता है, वहाँ उस क्रिया की विशेषता को कहते हैं।" यहाँ उपसर्गों को क्रिया की विशेषता का वाचक स्पष्ट रूप से कहा है, क्रिया की विशेषता को द्योतित करते हैं, ऐसा नहीं कहा है।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि वे उपसर्गों का अभिधेय अर्थ मानते हैं। अकेले स्था का अर्थ है ठहरना, रुकना, किन्तु 'प्र' के साथ चल पड़ना हो जाता है। इस पर उनका कहना है, 'तिष्ठति' से जाना क्रिया की निवृत्ति तथा 'प्रतिष्ठते' से जाना क्रिया प्रतीत होती है।" हम मानते हैं कि यह उपसर्ग का कार्य है, जिससे यहाँ 'जाना' क्रिया प्रतीत होती है।

आचार्य कैयट और नागेश भट्ट उपसर्गों की द्योतकता का प्रतिपादन करते हैं।

अनर्थक 'अधि', 'परि' पर चर्चा करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं, अनर्थक का अर्थ क्या है ? जो किसी भी अन्य अर्थ का अभिधान नहीं करते, धातु के द्वारा अभिहित क्रिया को (ही) कहते हैं, वे अनर्थक हैं।

अगर ऐसा है तो धातु के द्वारा क्रिया को कह दिए जाने के कारण (उसको पुन: कहने के लिए उसके साथ) उपसर्ग का प्रयोग प्राप्त नहीं होता, क्योंकि जिनको कह दिया गया है, उन अर्थों का प्रयोग नहीं होता। कह दिए गए अर्थों का भी (पुन:) प्रयोग देखा जाता है। जैसे—

अपूपौ द्वावानय, ब्राह्मणौ द्वावानय (दो पूड़े ले आओ, दो ब्राह्मणों को ले आओ, यहाँ दो की संख्या द्विवचन से कह दी गई है, फिर भी उसे कहने के लिए द्वौ का प्रयोग किया गया है)।"

यहाँ उन्होंने धातु के द्वारा अभिहित क्रिया को प्रकट करने वाले उपसर्गों को स्पष्ट रूप से अनर्थक कहा है। इससे सिद्ध होता है कि धातुओं के अनेकार्थक होने से उनके किसी एक अर्थ को उपसर्ग यदि प्रकट करता है, उसे द्योतित करके उसे प्रकट करने में यदि सहायता करता है, तो वह उपसर्ग अनर्थक कहलायेगा। इतना ही नहीं, उपसर्गों को यदि धातु के ही अर्थ को प्रकट (द्योतित) करने वाला कहा जाता है, तब तो सभी उपसर्ग अनर्थक हो जाएँगे, केवल 'अधि' और 'परि' ही नहीं। इससे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पतञ्जलि उपसर्गों को द्योतक मानने के पक्ष में नहीं हैं, वे उपसर्गों को वाचक ही मानते हैं।

आचार्य दुर्ग ने (१/३ में) यों तो वाचक के रूप में उपसर्गों की न केवल व्याख्या की है, अपितु प्रत्येक उपसर्ग के अनेक अर्थ होते हैं, यह बात भी कही है। पर वस्तुत: (श्रद्धा की दृष्टि से) वे उपसर्गों को द्योतक ही मानते हैं। नि० १/३ में उपसर्गों को वाचकता-द्योतकता के प्रकरण के अन्त में अपने वक्तव्य का उपसहार करते हुए कहते हैं—"नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोग—धोतका भवन्तीत्युक्तम्। अत्र नाम्न: कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीत्येवं न गृह्यते। लिखकर द्योतकता पक्ष को ही सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार निपात प्रकरण की भूमिका बाँधते हुए भी वे द्योतकता की ही बात करते हैं—"उक्तमुपसर्ग लक्षणं सामान्यं नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीति।"

शाकटायन और गार्ग्य परस्पर लगभग समकालीन और यास्क से प्राचीन आचार्य हैं। इन दोनों का नामोल्लेख प्राय: सभी नैरुक्त और वैयाकरण आचार्यों ने अनेक बार किया है। ये दोनों आचार्य अपने समय के उद्भट वैयाकरण रहे हैं। यह यास्क, पाणिनि और शौनक के साक्ष्य के आधार पर निश्चित है।

शाकटायन की नैरुक्तों में भी मान्यता है और पाणिनि से पूर्व के वैयाकरणों में तो ये सबसे प्रतापी और मूर्धन्य विद्वान् माने जाते थे।

उपसर्ग : द्योतक है

आचार्य शाकटायन का मत है कि 'उपसर्ग' नाम और आख्यात पदों के अर्थ के द्योतक होते हैं। यदि उपसर्गों का अपना अभिधेय अर्थ होता, तो उनका प्रयोग वाक्य में आख्यात पद से अलग भी होता। गाय, अश्व, घोड़ा आदि निराकाङ्क्ष शब्दों का जैसे अपना एक स्वतन्त्र अर्थ होता है, वैसे प्र, परा आदि का नहीं होता है।

वाक्य में भी ये नाम और आख्यान पद्र के साथ लगकर ही अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं, न कि स्वतन्त्र अर्थाभिधान में।

जैसे वर्णसमुदाय—घटित पदों से उन वर्णों को अलग-अलग कर लेने पर उन वर्णों में कोई अर्थ नहीं होता, वैसे ही नामाख्यात पदों से अलग उपसर्गों का भी कोई अपना अर्थ नहीं होता।

अर्थात् यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि अमुक उपसर्ग का अर्थ यह है, अमुक का यह। बल्कि ये तो नाम और आख्यात पदों के अर्थ के साथ उपसंयोग से—उनके साथ लगकर ही उनके अर्थ में जो विशेषता होती है, उसका द्योतन अर्थात् प्रकाशन उसी प्रकार कर देते हैं, जिस प्रकार दीपक पहले से स्थित घड़े आदि की विशेषता का प्रकाशन कर देता है।

शाकटायन के मत को यास्क ने दो वाक्यों में उद्धृत किया है। इनमें से दूसरा वाक्य (नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोग-द्योतका भवन्ति) कुछ अस्पष्ट है। इसमें 'नामाख्यातयो:' की षष्ठी का अन्वय अगले समस्त पद के उत्तर पद 'द्योतका:' से होना चाहिए।

अर्थात् उपसर्ग नामाख्यातों के द्योतक होते हैं।

(उनके) कर्म (अर्थ) में उपसंयोग (उपसर्जन, वृद्धि) इस द्योतन का साधन है, प्रक्रिया है।

इस पर पहली आपत्ति तो यह है कि (अर्थरहित) उपसर्ग पद का योग तो होता है 'नामाख्यात' पद से, तब नामाख्यातों के अर्थ में उपसंयोग कैसे होगा, और क्यों होगा? दूसरी विप्रतिपत्ति यह है कि द्योतित होने वाली वस्तु तो अर्थ है, न कि नाम और आख्यात।

क्योंकि नाम और आख्यात के तो द्योतित होने से भी क्या होगा? यदि कर्मोपसंयोग को 'द्योतका' का कर्म कहें तो दो आपत्तियाँ हैं—

(१) कर्मोपसंयोग को पूर्वपद बनाने से यह गौण हो जाता है।

(२) नामाख्यातयोः की षष्ठी से अन्वित कर्म पद भी पूर्वपद में गौण हो जाता है।

आचार्य महेश्वर ने (भाग १, पृ० ३४ पर) कर्मोपसंयोगद्योतका पद को स्पष्ट करने की कुछ चेष्टा की है।

(१) नामाख्यातयोरेव कर्मणोऽर्थस्य, उपसंयुज्यत इत्युपसंयोगो विशेषः प्रकर्षादिः, तस्य शब्दगुणपात्रेण सन्निधानाद् द्योतका भवन्तीति कर्मोपसंयोगद्योतकाः। अर्थात् नाम और आख्यात के ही (कर्म) की विशेषता—जैसे अधिकता को केवल अपनी उपस्थिति से द्योतित करने वाले होते हैं।

(२) द्योत्यतः इति वा द्योवः। कर्मोपसंयोगो द्योत्यः (द्योत) एषामिति बहुव्रीहिः ततः कप्। (नाम और आख्यात के) अर्थ की विशेषता प्रकाशनीय है जिनकी वे उपसर्ग होते हैं।

(३) अथवा कर्मोपसंयोगश्चासौ द्योतकश्चेति समानाधिकरणः तं कारयतीति 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः।

जो अर्थ की विशिष्टता रूपी प्रकाशक को करवाते हैं। इस विग्रह का कुछ अर्थ समझ ही नहीं पड़ता। हमारे विचार में यहाँ टीका पाठ भ्रष्ट है। क्योंकि—

(क) कारयति में उपर्युक्त सूत्र से क प्रत्यय प्राप्त ही नहीं है, क्योंकि यह धातु आदन्त नहीं है।

(ख) समानाधिकरण मे जब कर्मोपसंयोगद्योतक शब्द बन गया तब प्रत्यय (वह भी कृत) करने की आवश्यकता क्या है? अतः हमारा सुझाव है: कर्मोपसंयोगश्चासौ द्योतश्चेति समानाधिकरणः तं कारयति। कै शब्दे इति 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः। अर्थात् अर्थ (कर्म) की विशिष्टता (उपसंयोग) रूप द्योत्य (द्योत) को शब्दित ध्वनित करने वाला (कारयति) कर्मोपसंयोगद्योतक होता है।

उपसर्ग-वाचक है

आचार्य गार्ग्य का यह सिद्धान्त है कि उपसर्ग पद नाम या आख्यात के अ को द्योतित नहीं करते, अपितु स्वतन्त्र रूप से अर्थों का अभिधान ही करते हैं अर्थात् उपसर्ग पद द्योतक नहीं है, अपितु वाचक है। उपसर्ग पदों के प्रत्येक के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, जो नाम और आख्यात पदों के अर्थ के साथ मिलकर उसमें विकार कर देते हैं, न कि उन (नामाख्यातों) के पूर्वतः विद्यमान अर्थ को ही प्रकाशित करते हैं।

अर्थात् उपसर्ग के योग से नाम और आख्यात पदों के अर्थ में जो विशेषता या विकार आता है, वह उपसर्ग पद के स्वार्थ और नामाख्यात पदों के स्वार्थ के मेल से उत्पन्न होता है, अतः उपसर्ग पद नामाख्यातों के अर्थ में विकार करने वाले अर्थ का अभिधान करते हैं तथा नील आदि वर्ण पीत आदि वर्णों में मिलाये जाने पर इन दोनों की विशेषताओं से युक्त वर्णान्तर को उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार उपसर्गार्थ और नामार्थ के, या उपसर्गार्थ और आख्यातार्थ के संयोग से एक भिन्न प्रकार का अर्थ अभिहित होता है।

वाक्य मे चूंकि उपसर्गार्थ की अपेक्षा नामार्थ और आख्यातार्थ की प्रधानता होती है, अतः उपसर्गार्थ विशेष अर्थ करने वाला होता है तथा नामाख्यातार्थ विशेष्य अर्थ होता है।

यह विशेष अर्थ नाम और आख्यात के अर्थ से (१) कुछ भिन्न, (२) बिल्कुल पृथक, (३) बिल्कुल विपरीत या (४) मिलता जुलता भी हो सकता है। उपसर्ग-रहित नामाख्यात के अर्थ से, उपसर्ग सहित नामाख्यात के अर्थ का यह भेद परस्पर संयुक्त होने वाले दोनों अर्थों की पारस्परिक अनुकूलता, प्रतिकूलता या तटस्थता की मात्रा पर निर्भर होता है।

प्रायेण समानार्थक उपसर्गों के साथ ही एक ही नाम या आख्यात के योग से अर्थों की छाया (शेड) में बहुधा अन्तर

आ जाता है। एक ही उपसर्ग जब समानार्थ से प्रतीत होने वाले नामों और आख्यातों से जुड़ता है, तब भी भिन्न-भिन्न अर्थों का अभिधान हो जाता है। प्र+अञ्च् (गति) से प्राक्, (प्राच्, प्राची) शब्द बनते हैं। प्राक् शब्द में कालिक पूर्व-भाविता है, तो प्राचीन में दैशिक पूर्वभाविता। प्र+गम् (गति) से बने प्रगति में केवल प्रकृष्ट गति ही है, तो प्र+व्रज् (गति) से बने प्रव्रज्या में सब कुछ छोड़कर चले जाने की प्रकृष्टता से युक्त गति (संन्यास) का भाव निहित है।

इससे सिद्ध होता है कि उपसर्गार्थ तथा नामाख्यातार्थ का संयोग होने पर प्रतीत होने वाली विशिष्टता के सामान्य स्वरूप का निर्धारण तो निरुक्त या व्याकरणशास्त्र द्वारा किया जा सकता है, पर वस्तुतः तो लोकमानस की विचित्रताओं का अध्ययन ही उसका कुछ-कुछ सही उत्तर शायद दे सकता है।

उपसर्गों की द्योतकता के सिद्धान्त के आधार के रूप में शाकटायन ने एक बात कही है जो खासतौर से ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं कि उपसर्ग शब्दों का नाम और आख्यात से अलग कोई अर्थ नहीं है। अर्थात् वे सिर्फ नाम और आख्यात के साथ लगकर ही काम में लाए जाते हैं। इसलिए उनका पृथक् से कोई महत्त्व नहीं है, वे तो नाम और आख्यात के अर्थ को ही प्रकाशित भर कर देते हैं।

इस तर्क में भी कोई दम नहीं है। प्रत्ययों का अपना अर्थ होता है, पर उनको नाम और आख्यात से अलग काम में कभी नहीं लाया जाता। क्या इससे प्रत्ययों को आप वाचक नहीं मानेंगे? उपसर्गों का तो, तब भी, नाम और आख्यात के बिना प्रयोग पर्याप्त मात्रा में होता है। जैसे वेद में उपसर्ग नाम और आख्यात के साथ आवश्यक रूप से नहीं लगे रहते हैं, वेदों में उन्हें आप वाक्य में कहीं भी रखा हुआ पाएँगे। वे अपने नाम, पद या आख्यात पद से सम्बन्ध ठीक उसी तरह जोड़ते हैं जैसे विभक्त्यन्त पद अपने सम्बद्ध नाम या आख्यात पद से सम्बन्ध स्वयं ही जोड़ लेते हैं।

इसके अलावा द्योतकतावादी बताएं कि 'उपोप' से 'परामृश' (ऋ० सं० १-१२६-७) में उप+उप उपसर्गों को किस नाम या आख्यात से जोड़ा गया है? यहाँ तो 'धीरे-धीरे (या नजदीक से) मेरे (अंगों को) सहलाओ अर्थ है, और इसमें उप+उप का अपना अर्थ स्वतन्त्र है—'उपोप' का क्रियापद (मृश्) से या निकटस्थ सर्वनाम (मैं) से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार अलग-अलग उपसर्गों से एक ही तद्धित प्रत्यय लगाने से अलग-अलग अर्थ वाले शब्द भी निष्पन्न होते हैं। जैसे उद्वत्, निवत्, परावत्, आदि।

उपसर्ग—उपसर्ग+प्रत्यय=अर्थ अलग-अलग हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह भिन्नता उपसर्गों के अलगाव के कारण हुई है, अतः उपसर्ग वाचक ही हैं। इन्हें द्योतक बतलाना उचित नहीं है।

इसके अलावा एक बात और भी है, जो उपसर्गों की वाचकता को पुष्ट करती है। आचार्य दुर्ग का कहना है कि नैरुक्त सत्कार्यवादी है। प्राचीनकाल के दर्शन (जैसे साङ्ख्य) सत्कार्यवादी ही थे। इस सिद्धान्त में वर्णसमुदाय रूप पद (कार्य) से यदि अर्थ ज्ञान होता है, तो पद के कारण रूप वर्ण भी अर्थवान् स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

स्थूल मृत्तिका में घड़े का उपादान कारण बनने की सामर्थ्य यदि है तो मृत्तिका के सूक्ष्म अणुओं में वह सामर्थ्य होगी ही। ठीक इसी तरह, नामाख्यात के संयोग में अर्थाभिधान करने में समर्थ 'उपसर्ग' असंयोग की स्थिति में भी अर्थाभिधान करने में समर्थ हैं ही।

अनेकार्थक नामपदों को जैसे अपने उन अनेक वाच्यार्थों में से अन्यतम अर्थ का बोध कराने के लिए किसी उपसर्ग की आवश्यकता नहीं होती, केवल अभिधा से ही वे उस अर्थ का अभिधान करते हैं, वैसे ही अनेकार्थक धातु भी बिना किसी प्रकार की बाहरी सहायता के ही, शब्द की अपनी प्रस्तावित शक्ति से ही, उन अनेक अर्थों में से एक अर्थ का अभिधान करते हैं। उदाहरण के तौर पर हम महाभाष्यकार द्वारा प्रदत्त वप् के उदाहरण को ही लें। वप् के दो अर्थ होते हैं—डालना तथा काटना। 'वपति बीजानि क्षेत्रे' में प्रथम अर्थ अभिधेय है तथा 'केशश्मश्रु वपति' में द्वितीय अर्थ अभिप्रेत है।

जो अर्थ भाषा के मुहावरे के कारण प्रतीत होता है, उसे वाच्यार्थ मानना सर्वथा असंगत है। वह तो लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ होता है। 'पृष्ठं कुरु', 'पौदौ कुरु', आदि में 'कुरु' का तथाकथित निर्मल करना अर्थ इसी प्रकार का अर्थ है। अतः इस अर्थ को धातु का वाच्यार्थ मानना असंगत है। इसी प्रकार उपसर्ग के संयोग के कारण प्रतीत होने वाला अर्थ सदा ही केवल धातु का वाच्यार्थ नहीं होता, जिसे वह उपसर्ग प्रकाशित करता हो।

गच्छति का गति अर्थ वाच्यार्थ है। आगच्छति, निर्गच्छति, प्रगच्छति, सङ्गच्छते, आदि शब्दों में भी धातु का

गति अर्थ सर्वत्र अव्याहत रूप से वाच्यार्थ ही है। इधर, बाहर, प्रारम्भ तथा मिश्री-भाव अर्थ क्रमशः आ, निर्, प्र और सम् उपसर्गों का है—यह उन उदाहरणों में स्पष्ट विदित है। उपसर्गार्थ के मिल जाने पर नाम तथा आख्यात का प्रातिस्विक अर्थ बदल जाता है, इस बात की तथा इसके कारण की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। अतः इस बारे में हमारा वक्तव्य यही है कि धातुओं में अनेक अर्थ छुपे होते हैं, उपसर्ग उन्हें प्रकाशित कर देते हैं—इस सिद्धान्त से हम सहमत नहीं हैं।

यास्क ने उपसर्गों की वाचकता को न केवल उत्तरपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है, अपितु प्रत्येक उपसर्ग के कम-से-कम एक-एक अर्थ को बतलाया है। इससे यह निश्चित है कि यास्क भी उपसर्गों को वाचक ही मानते हैं।

निरुक्त (५-२८) में उन्होंने 'अच्छ' उपसर्ग 'अभि' के अर्थ में है, यह स्पष्ट रूप से कहा है। इससे पूर्व (निरुक्त में २-२५) भी उन्होंने सिन्धुमच्छा ··· अह्ने (ऋ० सं० ३-३३-५) के अच्छा का अनुवाद 'अभि' से किया है। 'प्रामि ह्वयामि सिन्धुम्'। इससे सिद्ध होता है कि वे उपसर्गों को वाचक ही मानते हैं, द्योतक नहीं।

इस प्रसंग में आचार्य दुर्ग का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि यों तो उपसर्गों के अनेक अर्थ होते हैं, पर यास्क ने उपलक्षण के रूप में उपसर्गों की अर्थवत्ता प्रदर्शित करने के लिए इनका एक-एक अर्थ बतलाया है। इसी प्रकरण में यास्क ने अधि के उपरिभाव और ऐश्वर्य तथा अनु के 'सादृश्य' और 'अपरभाव' रूप दो-दो अर्थ बताए हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे उपसर्गों के अनेक अर्थ मानते हैं तथा यहाँ निर्देशन मात्र के लिए अधिक प्रचलित अर्थों में से अन्यतम ही दिए हैं।

(१) आ उपसर्ग 'अर्वाक्' अर्थात् निकट, इधर सन्निकृष्ट अर्थ में है। जैसे 'वैश्वानरो वरमारोदस्योरग्निः ससाद पित्रोरुपस्थम्' (ऋ० सं ७-६-६) और 'आ समुद्रादवरादा परस्मादाग्निर्ददे दिव आ पृथिव्याः (वही ७)। लौकिक में आयाति, आनयति, आदत्ते आदि।

(२) 'प्र' और '(३)' 'परा उपसर्ग 'आ' के अर्थ से विपरीत अर्थ को अर्थात् दूरी, अलगाव को प्रकट करते हैं। जैसे—'अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि, जुहोत प्र चतिष्ठत (ऋ० सं० १-१५-६), असौ या प्रेव नश्यसि। प्र—के अर्वाक से उल्टे अर्थ में प्रयोग के उदाहरण हैं। 'परा याहि मघवन्ना' (ऋ० सं० ३-५३-५), 'आ च परा च पथिभिश्चरन्तम्' (ऋ० सं० १-१६४-३१)। इन मन्त्रों में परा का यह अर्थभेद बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है।

(४) अभि 'आभिमुख्य' (तरफ) अर्थ में है, जैसे—

'अतो विश्वान्युद्भुता चिकित्वा अभि पश्यति।' (ऋ० सं० १-२५-११)

'अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु (ऋ० सं० १-१९-९) में 'अभि' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

(५) 'प्रति' आभिमुख्य के ठीक उल्टे अर्थ को प्रकट करता है। जैसे—प्रतिस्पशो विसृज तूर्णितमो··· (ऋ० सं० ४-४-३)। यह उपसर्ग आभिमुख्य अर्थ में भी बहुधा प्रयुक्त होता है: पिशङ्गं द्रापिं प्रतिमुञ्चते कविः (ऋ० सं० ४-५३-२)। मुञ्च् का अर्थ है छोड़ना। अभिमुख्यार्थक प्रति साथ लगने से अभिमुख+छोड़ना—सम्मुख करना—धारण करना अर्थ बन गया है। प्रत्यक्ष, प्रत्यगात्र, प्रतीति में भी अभिमुख अर्थ ही है।

(६) 'अति' और (७) 'सु' श्रेष्ठता, अधिकता, अतिशय, अतिक्रमण अर्थ में हैं। अतिधनः, सुधनः लौकिक के और 'अत्यूर्मिर्मत्सरो मदः सोमः पवित्रे अर्षति' वैदिक उदाहरण हैं।

(८) निर् और (९) दुर् उपसर्ग 'अति' और 'सु' के अर्थ के ठीक उल्टे अर्थ का अभिधान करते हैं।

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये। अग्निष्ट ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् (ऋ० १०-१६२-२)

निर्धनः, दुर्गतः आदि लौकिक उदाहरण हैं।

(१०) 'नि' तथा (११) 'अव' नियमन अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। निग्रह, अवग्रह (वर्षा की रोक) लौकिक में है। वैदिक में है: 'त्वां ह्यग्ने सदमित्समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिर इति क्रत्वा न्येरिरे। (ऋ० सं० ४-१-१),

'येषामाबाध ऋग्मिय इषः पृक्षश्च निग्रभे'। (ऋ० सं० ८-२३-३)

'अव स्थिरा तनुहि यातुजूनाम्' (ऋ० सं० ४-४-५)। 'नि' अतिशय तथा नीचे अर्थ को भी बतलाता है। नितराम्, निषीद। पर ये अर्थ अवग्रह अर्थ की छाया ही है।

(१२) 'उत्' इन दोनों के विपरीत अर्थ को बतलाता है जैसे 'उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्रां ओषतात् तिग्महेते (ऋ० सं० ४-४-४) में उत् और 'नि' परस्पर विरोधी अर्थों में प्रयुक्त हैं। 'निमज्जति' डूबता है, 'उन्मज्जति' (पानी से)

ऊपर उठता है'। 'अवगृह्णाति' रोकता है, 'उद्गृह्णाति' छोड़ता है।

(१३) 'सम्' एकीभाव अर्थात् एक होना, इकट्ठापन, साथ अर्थ में है। जैसे—संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' (१६१-२)।

(१४) 'वि' और (१५) 'अप' सम् के उल्टे अर्थ में है। 'वि रात्रून् तालिह विमृधोनुदस्य' (ऋ० सं० १०-१८०-१२) 'अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्' (वही ३४-२) संग्रह, विग्रह, समास, व्यास, सम्मान और अपमान में यह भेद बिल्कुल स्पष्ट है।

(१६) 'अनु' समानता तथा पश्चात् (कालिक और दशिक दोनों दृष्टियों से बाद के) अर्थ में है। जैसे—'पूषा गा अन्वेतु नः' (ऋ० सं० ६-५४-५), 'अनुश्रिया तन्वमुक्षमाणाः' आदि।

(१७) 'अपि' संसर्ग अर्थ को प्रकट करता है। जैसे ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि (ऋ० सं० ४-४०-४) 'अथा देवानामप्यते पाथः' (वही २-३-६)। लौकिक में अपिधान्, पिधान्, 'सर्पिषोऽपिस्यात्' (घी भी हो तो) उदाहरण हैं।

(१८) 'उप' अधिकता, समीपता में है। जैसे—'उप बर्बृहि वृषभाय बाहुम्' (ऋ० सं० १०-१०-१०), 'वेदा य उपजायते,' उपनिषद्, उपासना आदि लौकिक में है।

(१९) 'परि' चारों ओर के अर्थ में है। जैसे—'परीतो षिञ्चता सुतम्' (ऋ० सं० ९-१०७-१), 'परि स्पशो निषेदिरे' (वही १-२५-१३)। परिव्रज्या, परिणति लौकिक उदाहरण हैं।

(२०) 'अधि' ऊपर होना तथा स्वामित्व अर्थ में है। जैसे—'पृथिव्या अधि सानवि' (ऋ० सं० ९-६३-२७), 'सर्वं यस्याधितिष्ठति' (ऋ० सं० १०-८-१)। लौकिक में अधिकार, अधिष्ठाता, अधीन, आदि शब्दों में ये अर्थ सुविदित ही हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक उपसर्ग का एक निश्चित अर्थ होता है तथा वह उपसर्ग उस अर्थ से भिन्न अर्थात् विपरीत अर्थ का अभिधान कभी नहीं करता। नाम आदि के अर्थ के समान उपसर्ग के अर्थ की कई छायाएँ (शेड्स) भी होती हैं तो कई-कई अर्थ भी।

परन्तु हमेशा वह अर्थच्छाया तथा एकाधिक अर्थ उपसर्ग का अपना वाच्यार्थ ही होते हैं। उपसर्ग, नाम और आख्यात के छुपे हुए अर्थ का द्योतन मात्र नहीं करते।

'आ' कभी भी 'परा' के अर्थ को प्रकट नहीं करता। अर्थात् 'आ' के साथ प्रयुक्त नाम या आख्यात का वह अर्थ कदापि नहीं होता जो 'परा' के साथ प्रयोग में आने पर होता है।

'सम्' के योग से जो अर्थ प्रकट होता है, वह 'अप्' के योग में कदापि नहीं आता। नहीं तो वैयाकरण इतने वेदान्ती हो जाएँगे कि उन्हें सम्मान में और अपमान में, विजय में और पराजय में, सुगति में और दुर्गति में कोई अन्तर ही नजर नहीं आ पाएगा।

अन्त में, निरुक्त में अपनाए गए उपसर्गों के क्रम पर कुछ कहना प्रसंग से बहिरंग नहीं होगा।

पाणिनि ने गणपाठ में उपसर्गों का जो क्रम रखा है, वह किसी विशेष अभिप्राय से है, यह नहीं लगता, अपितु वहाँ केवल परिगणन मात्र किया गया है, यह प्रतीत होता है।

शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य (१२-२०) में जो क्रम रखा है, उसमें भी छन्द की अनुकूलता के लिए शब्दों को इधर या उधर रखने के अलावा और कोई सार्थकता नहीं दिखलाई देती।

यास्क ने जो क्रम रखा है, उससे उपसर्गों के अर्थ की तुलना को अर्थात् अनुलोमता तथा विलोमता को—विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है।

अतः यास्क द्वारा दिया क्रम अधिक उचित, सुनियोजित, भावप्रवण एवम् उपादेय है। अर्थप्रधान निरुक्त-शास्त्र में अर्थ को प्रमुखता मिलना स्वाभाविक भी है;

पाठ—७

निपात एवं उनके प्रयोग

निपात शब्द नि + √पत् से निष्पन्न है : अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने (नि + पतन) के कारण कुछ शब्द निपात कहलाते हैं। ये शब्द भाव प्रधान न होने से आख्यातों में, सत्वप्रधान न होने के कारण नामों में, एवं नाम या आख्यात पदों से जुड़े (उप + सर्जन के) बिना ही अर्थाभिधान करने के कारण उपसर्गों में शामिल नहीं किये जा सकते। अतः इनकी अपनी एक पृथक श्रेणी है। वाक्य में कारक संबंधों की उपेक्षा किये बिना ही, जहां चाहे प्रयुक्त (निपातित) होने के कारण ये पद निपात कहलाते हैं। वस्तुतः निपात की सही परिभाषा दे पाना बहुत कठिन है। यहां यही ध्यान में रखना समुचित होगा कि निपात पद अव्यय होते हैं। किन्तु सभी अव्यय निपात नहीं होते।

निपात शब्द का इतिहास :

वैदिक संहिताओं में निपात शब्द का प्रयोग केवल पैप्पलाद संहिता (१६/३६/१) में हुआ है। परन्तु हमें वहां इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाया, कुछ तो यहां पाठ ही ठीक नहीं है, कुछ इसकी कोई व्याख्या भी उपलब्ध नहीं है। ब्राह्मणसाहित्य में भी प्रमुख ब्राह्मणों में निपात शब्द का प्रयोग नहीं मिलता।

नि + पत् से निष्पन्न तिङन्त (लट् और लिट् प्रत्ययान्त) पदों का प्रयोग ताण्डय ब्रा० (५/१०/४) षड्विंश (५/६/१२) तैत्तिरीय और जैमिनियोपनिषद् ब्राह्मणों में हुआ है।

गोपथ ब्राह्मण में यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेदांग साहित्य में इस अर्थ में इस शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। निरुक्त के ही देवविद्या से सम्बद्ध प्रकरणों से विदित होता है कि उस शास्त्र में यह शब्द एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ करता था। वैदिक देवविद्या के आचार्य प्रधान देवता के साथ गौण रूप में स्तुत देवताओं को निपात देवता या नैपातिक देवता कहा करते थे। इतना ही नहीं, गौण वस्तु के लिए निपात शब्द का प्रचुर प्रयोग होता था।

आचार्य यास्क ने निपात की जो व्याख्या की है, उससे भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है। अतः हमारे विचार में यह शब्द अपने सजातीय अन्य शब्दों की तरह सर्वप्रथम देवविद्या जैसे अन्य शास्त्र में प्रसिद्ध होने के बाद ही भाषाशास्त्र में अपनाया गया।

निपातों का वर्गीकरण

जिस प्रकार अन्य पदविधाओं से अर्थ का अभिधान होता है, उसी प्रकार निपातों से भी किसी अर्थ का अभिधान होता है। निपातों का वर्गीकरण भी अर्थ के आधार पर ही किया गया है। अर्थ के अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण बहुत से उपसर्ग अनर्थक होते हैं। ठीक उसी तरह बहुत से निपात भी अनर्थक होते हैं।

अतः निपात मूलतः दो प्रकार के होते हैं।

१. सार्थक एवं २. निरर्थक

सार्थक निपातों को यास्क ने मोटे तौर पर दो वर्गों में बांटा है।

क. उपमार्थीय अर्थात् सादृश्यार्थक तथा

ख. कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय ।

दो बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए ।

१. जो निपात किसी प्रसंग में सादृश्यार्थीय है, वह किसी अन्य प्रसंग में कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय हो नही अपितु निरर्थक के रूप में भी आ सकता है ।

२. कुछ निपात वैदिक और लौकिक—दोनों भाषाओं में इन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं । कुछ केवल वैदिक या केवल लौकिक संस्कृत में हो, तो कुछ निपात लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होते ।

(क) उपमार्थीय निपात

१ इव २ न ३. चित् तथा ४. नु

ये चार निपात वैदिक भाषा में उपमा अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । लेकिन भाषा में केवल इव ही इस अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

'अग्निरिव मन्योतिषितः सहस्व' ।
'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' । (कालिदास)

२. 'न' वैदिक भाषा में उपमा तथा निषेध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । जबकि लौकिक में केवल निषेध अर्थ में ।

वैदिक भाषा में भी 'न' का उपमा अर्थ में प्रयोग अल्प हुआ है तथा निषेध अर्थ में प्रचुर मात्रा में । 'दुर्मदासो न सुरायाम्' में उपमा अर्थ में तथा 'नेन्द्रं देवममंसत' में निषेध अर्थ में है ।

वाक्य में जब न' अपने सम्बद्ध शब्द से पहले प्रयुक्त होता है, तब उसका अर्थ निषेध होता है । जब वह असम्बद्ध शब्द के पश्चात् प्रयुक्त होता है, तब उसका अर्थ उपमा होता है ।

३. 'दधिश्चित्' में चित् उपमा अर्थ में है ।
यों चित् के अनेक अर्थ होते हैं :

'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्' इस लौकिक वाक्य में चित् आदर अर्थ को प्रकट करता है 'कि आचार्य ही यह कह सकते हैं'

लौकिक में 'चित्' का प्रयोग उपमा अर्थ में नहीं होता ।

४. 'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः' में 'नु' उपमा अर्थ में है यों यह भी अनेकार्थक है : 'इदन्नु करिष्यति' में कारण देना अर्थ में है । 'कथं नु करिष्यति' में प्रश्न के बाद प्रश्न अर्थ में है । 'नु' का प्रयोग भी लौकिक संस्कृत में उपमा अर्थ में नहीं होता ।

(ख) कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय निपात ।

जिस निपात के आगम अर्थात् साक्षात् अथवा परोक्ष प्रयोग से पदार्थों में अलगाव जाना जाता है, उस रूप में नहीं, जिस रूप में शब्दों का अलग-अलग प्रयोग करके उनके अर्थों का अलगाव जाना जाता है; क्योंकि उन पृथक पृथक निर्दिष्ट शब्दों से तो उनके अलग-अलग, एक दूसरे से भिन्न, आकार या रूप के कारण ही उनके अर्थों का अलगाव जान लिया जाता है; अर्थात् जब शब्द अलग है तो उसका अर्थ भी अलग ही होगा; वह निपात कर्मोपसङ्ग्रह कहलाता है ।

'अथ यस्यागमादर्थं पृथक्त्वमह विज्ञायेत—न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात्—स कर्मोपसंग्रहः' ।

अर्थों का पार्थक्य यों तो शब्दों के पृथक होने से ही प्रतीत हो जाता है; परन्तु जो निपात उससे भिन्न प्रकार के पार्थक्य को प्रकट करता है, वह कर्मोपसङ्ग्रहार्थीय होता है ।

'अहं', 'त्वं' स' 'देवदत्त,' 'यज्ञदत्त:' कहने में इन सब शब्दों के अर्थ अलग-अलग तथा परस्पर निरपेक्ष हैं, यह सहज प्रतीत हो जाता है । किन्तु 'अहं च, त्वं च, देवदत्तश्च,'—'यज्ञदत्तश्च' या अहं वा, त्वं वा, अहमेव, त्वमेव कहने में इन सब शब्दों के अलग-अलग अर्थ हैं, यह तो प्रकट होता है; पर केवल इतना ही नहीं प्रकट होता, अपितु ये परस्पर सापेक्ष हैं, यह पिछले पार्थक्य से भिन्न प्रकार का है—अर्थात् परस्पर सापेक्ष पार्थक्य—प्रकट होता है ।

अत: इस प्रकार के पार्थक्य को कहने वाले निपात अन्य पदों को परस्पर सापेक्ष बनाकर उनका उपसङ्ग्रहण (संयोजन) करने के कारण उपसङ्ग्रहार्थीय निपात कहलाते हैं ।

१. 'च' तथा २. 'आ' निपात संयोजन अर्थ में हैं । इनमें से भी लौकिक संस्कृत में केवल 'च' ही इस अर्थ में आता है । 'च' दोनों संयोज्य पदों के पश्चात भी प्रयुक्त होता है । एवं किसी एक के साथ भी ।

वैदिक भाषा में पहले 'आ' दूसरे कोई से भी एक पद के साथ प्रयुक्त होता है; किन्तु लौकिक संस्कृत में दूसरे शब्द के बाद या दोनों शब्दों के पश्चात् आता है । वैदिक भाषा में किसी एक शब्द के बाद 'च', तो किसी एक के बाद 'आ'-यों भी प्रयोग मिलते हैं ।

'अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव,'

३. 'वा' निपात दोनों भाषाओं में ही प्रमुख रूप से विकल्प अर्थ में आता है । वैदिक में कभी-कभी समुच्चय (संयोजन) अर्थ में भी प्रयुक्त हो जाता है । 'हन्ताहं' पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा' में यह समुच्चयवाचक है । प्रयोग की दृष्टि से यह 'च' के समान ही है; अर्थात् दोनों शब्दों के पश्चात् या उनमें से किसी एक के पश्चात् प्रयोग में आता है । जब किसी एक के बाद प्रयुक्त होता है, तब यह दूसरे शब्द के पश्चात् आता है । स्कन्दस्वामी के मत में इसके विकल्प, संशय, पक्षव्यावृत्ति तथा आवृत्ति आदि अर्थ भी होते हैं ।

४. 'अह' और ५. 'ह' निपात विशेष नियमन अर्थ में, अर्थात् एकाधिक पदार्थों में से किसी एक पर अधिक जोर देने के लिए उन पदों में से प्रथम के बाद प्रयुक्त होते हैं ।

लौकिक भाषा के उदाहरण है; 'अयमहेदं करोत्वयमिदम्' । 'इदं ह करिष्यतीदं न करिष्यति' ।

६. 'उ' निपात है तो उपर्युक्त अर्थ में ही परन्तु यह बाद वाले शब्द के पश्चात् प्रयुक्त होता है । परन्तु वैदिक भाषा में तो यह विशेषता नजर नहीं आती । अत:, सम्भवत: यास्क के समय की लौकिक संस्कृत में इस प्रकार बोला जाता है ।

'तमू अवृण्वन्त्रेधा भुवे कम्'

इन सब स्थलों में इसका प्रयोग 'अह' या 'ह' के समान ही हुआ है । यह निपात पदपूरण भी है :

'इदमु त्यत्पुरूतमं ज्योति:'

लौकिक भाषा में 'उ' का प्रयोग इन अर्थों में नहीं के बराबर ही होता है ।

७. 'हि' निपात अनेक अर्थों को बतलाता है । हेतु अर्थ में वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में प्रसिद्ध है । 'अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय': । अनुप्रश्न=प्रश्न की ही पुष्टि में; 'कथं हि करिष्यसि' । प्रश्न के बाद दिये जाने वाले उत्तर की पुष्टि में इसका प्रयोग होता है ।

'कथं हि व्याकरिष्यति' में यास्क ने 'हि' का अर्थ असूया बतलाया है। वस्तुतः 'हि' यहाँ भी प्रश्नों को ही पुष्ट करता है। प्रश्नकर्ता के प्रश्न का आधार असूया है प्रश्न पर बल देने से भाव उभर कर सामने आता है। इस प्रकार हि असूया अर्थ में है। अकेले कथं से तो व्याख्या का प्रकार पूछना भी अभीष्ट हो सकता है। लौकिक में 'हि' पादपूरण के रूप में भी आता है।

८. 'किल' निपात ज्ञान की प्रसिद्धता को बतलाता है। यह वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में प्रसिद्धिवाचक है; पूर्वे किलायं परिवर्द्धितो नः'

'न' और 'ननु' निपातों के साथ प्रयोग में आकर यह प्रश्न की पुष्टि को अथवा प्रश्न को ही प्रकट करता है।

वस्तुतः न' आने वाले वाक्य में काकु से प्रश्न अर्थ जब आता है, तब ही किल साथ लगने से यह अर्थ प्रकट होता है।

'ननु' ऋग्वेद संहिता में केवल दो बार आया है। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुनधि' 'शत्रुं ननु पुरा विवित्से' इनमें यह निषेधार्थक है।

ब्राह्मणों में प्रश्न अर्थ में इसका प्रयोग कतिपय बार हुआ है। अतः इस समय इसके साथ किल लगने से प्रश्न की पुष्टि की बात स्वाभाविक है।

लौकिक भाषा में 'ननु' प्रश्नवाचक ही है: किंतु 'किल' के साथ इसका प्रयोग नहीं होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी 'ननु' किल का एक साथ प्रयोग अभी तक तो नहीं मिला है। अतः सम्भव है कि यास्क के समय बोलचाल में इस प्रकार प्रयोग होता हो।

९. 'मा और १०. 'खलु' निपात वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में निषेधार्थक हैं। 'मा ते सखायः सदा', 'उमेति माता तपसो निषिद्धा'। लौकिक।

'खलु' ऋग्वेद संहिता में केवल एक बार पादपूरण अथवा जोर देने वाले निपात के रूप में आया है। निषेध अर्थ में इसका प्रयोग समूचे वैदिक वाङ्मय में नहीं हुआ है। लौकिक संस्कृत में यह निषेधार्थक के रूप में कम और पादपूरण के रूप में अधिक प्रयुक्त होता है। यास्क के समय इसका दोनों तरह प्रयोग होता था। इसलिए उन्होंने अपनी भाषा (बोलचाल) के ही उदाहरण दिये हैं।

पाणिनि ने भी इसे निषेधार्थक बतलाया है। 'खलु' के प्रयोग पर दुर्गाचार्य का यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है कि इस प्रकार के निपातों का प्रयोग देश देश की भाषाओं की अपनी व्यवस्था के अनुसार समझना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि निषेध अर्थ में 'खलु' का प्रयोग सार्वत्रिक नहीं है। देशज भाषाओं में संस्कृत से अपना लिया गया है।

११. शाश्वत् लौकिक भाषा में विचिकित्सा अर्थ में है। दुर्ग, और स्कन्द विचिकित्सा का अर्थ 'निश्चय' मानते हैं। वैदिक भाषा में शाश्वत् पद का नाम और निपात के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।

वैदिक भाषा में प्रयोग नित्य अर्थ में मिलते हैं। स्वरूपतः यह शाश्वत् से मिलता-जुलता नामपद ही होता है, तब नपुंसक लिंग होने के कारण यह निपात जैसा प्रतीत होता है।

ऋग्वेद संहिता में शाश्वत् के रूप में इसका प्रयोग कुल २२ बार हुआ है तथा अन्य विभक्ति प्रत्ययान्त नाम पदों के रूप में कुल ४६ बार हुआ है।

अतः वैदिक में इसे निपात मानना कठिन है। जो भी हो, यास्क इसे निपात मानते हैं। उनका कहना है कि इसका प्रयोग एक अन्य निपात 'एवम्' के साथ होता है। जब एवम् का प्रयोग शश्वत् से पहले होता है, तब इस समुदाय का अर्थ अस्वयम्पृष्ट होता है; और जब शश्वत् के बाद एवम् आता है, तब अनुप्रश्न अर्थ होता है।

१२. 'नूनम्' निपात लौकिक संस्कृत में निश्चय अर्थ में है तथा वैदिक भाषा में निश्चयार्थक और पादपूरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः भाषा में यह इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहां इसका अर्थ है, अब। निश्चय अर्थ में प्रयोग ब्राह्मणग्रन्थों में, या अधिक-से-अधिक अथर्ववेद संहिता में, मिलता है। यास्क ने भी नूनम् का अनुवाद 'अद्यतनम्' ही किया है।

१३. सीम् निपात चारों ओर अर्थ में हैं, या पादपूरण है। लौकिक में इसका प्रयोग नहीं होता। वस्तुतः यह इदमर्थक अव्यय 'ईम्' की तरह 'स' के अर्थ में एक अव्यय है।

यास्क द्वारा 'चारों ओर' या 'पादपूरण' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत ''प्र सीमादित्यो सृजत्' में भी सीम् अव्यय सर्वनाम के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। 'परि सीं नयन्ति' में परिग्रहार्थक उपसर्ग 'परि' से अलग पठित 'सीम् का अर्थ भी यदि परिग्रह ही मानें, तो पुनरुक्त मात्र होता है। जबकि वस्तुतः यह अग्नि के लिये सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसलिये यास्क ने अपने दूसरे उदाहरण 'विसीमतः' की व्याख्या में सीम् को नाम पद मानकर उससे अतः प्रत्यय की बात कही है। नाम पद के रूप में भी 'सीम' यास्क के मत में परिग्रहार्थक ही है।

सम्भवतः यास्क भागुरि आचार्य के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए 'सीम्' का ही परिवर्तित रूप सीमा मानते हैं, और इसलिए उन्होंने इसका अर्थ परिग्रह बतलाया है।

त्व पद नाम है या निपात

'त्व' पद नाम है या निपात, इस विषय पर आचार्यों में मतभेद हैं। आचार्य यास्क का मत है कि त्व पद विनिग्रह अर्थ में सर्वनाम है। एवम् अनुदात्त है। आचार्य यास्क का आशय है कि 'त्व' यदि निपात है तो इसे व्याकरण के नियम के अनुसार उदात्त होना चाहिए न कि अनुदात्त। यदि नाम है, तो व्याकरण के औत्सर्गिक नियम के अनुसार इसे उदात्त ही होना चाहिए।

अतः स्वर के आधार पर कहा जा सकता है कि औत्सर्गिक रूप से न यह निपात के स्वर से युक्त है और न नाम के स्वर से ही। किन्तु स्वरप्रतिपादक अपवादशास्त्र के अनुसार 'सम' तथा 'सिम' सर्वनामों के साथ 'त्व' भी अनुदात्त के रूप में विहित है। साहचर्य नियम के अनुसार सर्वनामों के साथ पठित त्व भी सर्वनाम ही होना चाहिए।

इस विषय पर आचार्य यास्क से किन्हीं अन्य आचार्य का मत उद्धृत किया है। अर्धनामेत्येके। अर्थात् त्व पद अर्द्ध अर्थ में सर्वनाम है। इन आचार्य का आधार भी उपर्युक्त स्वरप्रतिपादक अपवाद शास्त्र ही प्रतीत होता है। इस सूत्र में पठित 'नेम' 'सम' तथा 'सिम' अर्द्धवाचक सर्वनाम हैं, अतः उनके साथ पठित 'त्व' भी अर्धार्थक सर्वनाम है। यास्क ने भी एक जगह इसे अर्धवाचक नाम बताया है।

हमारा विचार है कि यहां तथा यास्क के उपर्युक्त स्थल में 'त्व' नाम का प्रयोग किया गया है। सर्वनाम भी तो नाम ही है। किन्तु दुर्गाचार्य के अनुसार 'त्व' सर्वनाम है, यह एक मत है एवं यास्क के मत में तथा एकीय मत के अनुसार 'त्व' नाम है।

कुछ लोग 'त्व' पद को अनुदात्त होते हुए भी निपात ही मानते हैं। आचार्य यास्क इस मत में विसंगति देख कर इस मत से सहमत नहीं हैं। प्रथम विसंगति तो यही है कि निपात अनुदात्त नहीं होते। अतः 'तत्=तस्मात्, कथम्=केन प्रकारेण, अनुदात्त प्रकृति नाम=नाम स्यात् ? यह प्रश्न किया है आचार्य यास्क ने।

दुर्गसिंह के इस व्याख्यान में नाम शब्द वाक्यपूरण के लिए प्रयुक्त हुआ है। परन्तु यह व्याख्यान कोई बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। निपात सभी उदात्त होते हैं, यह तो वस्तुत: है भी-नहीं। च, उ, वा, इव, व, इह, चित्, स्व आदि बहुत से निपात अनुदात्त हैं। स्व भी उन्हीं की तरह अनुदात्त हो सकता है।

हमारे मत में 'तत्कथमनुदात्त प्रकृति नाम स्यात्' पंक्ति को 'निपात इत्येके' के हेतुवाक्य के रूप में निम्न-लिखित प्रकार से लगाना चाहिए :

तत् अनुदात्त—प्रकृति नाम=नामपदं, कथं स्यात् ?

अर्थात् तत्=तो, अनुदात्त नामपद कैसे हो सकता है, चूंकि 'स्व' अनुदात्त है, अत: निपात है।

इसका उत्तर देते हुए यास्क ने कहा है : दृष्टव्ययन्तु भवति। अर्थात् नामपद अनुदात्त हो या न हो, किन्तु विभक्तिवचनान्त रूपों में अवश्य मिलते हैं

नामपद की पहचान उदात्त होना या अनुदात्त होना-स्वर-नहीं है, अपितु व्यययुक्त होना है। निपात अव्यय है। 'स्व' सव्यय है। एतावता ही यह निपात नहीं हो सकता।

ऋग्वेद संहिता में पुल्लिंग 'स्व' पद का प्रथमा एक वचन में प्रयोग कुल दस बार, द्वितीया एकवचन में कुल ११ बार, तृतीया एकवचन में 'स्वा' अनगिनत बार, 'स्वेन' दो बार, चतुर्थी एकवचन में 'स्वस्मै' एक बार; स्त्रीलिंग चतुर्थी एकवचन में १.स्वै एक बार हुआ है।

यास्क ने भी जो उदाहरण दिये हैं, उन सब में स्व सर्वनाम के रूप में ही प्रयुक्त है। सर्वनामेतर नाम के रूप में नहीं।

'अर्धनामेत्येके' और 'स्वो नेमेत्यर्धस्य' में नाम से सर्वनाम भी इष्ट है। अत: स्व सर्वनाम है निपात नहीं-यास्क का सिद्धांत यही प्रतीत होता है।

१४. स्वत् संयोजक निपात है। यास्क ने इसका उदाहरण 'पर्याया इव त्वदाश्विनम्' से दिया है।

हमारे विचार में सप्तभि: पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यंयुगम् प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्' में 'त्वत्' समुच्चयार्थक निपात हो है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह निपात इतना पुराना है कि ऋग्वेद काल में ही इसका प्रचलन स्वल्प हो गया था।

एकाधिक निपातों के संयोग से कई नये निपात भी बदले हुए अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं। समास में दो स्वतंत्र पदों के मेल से जैसे एक नया समुच्चित अर्थ निकलता है, वैसे ही दो स्वतंत्र निपातों के इकट्ठे प्रयोग से उनके अर्थों के मेल के कारण एक नया अर्थ निकलता है। एकाधिक निपातों का यह संयोग वैदिक भाषा के बहुत प्राचीन काल में ही हो चुका था, यह बात इस तथ्य से सिद्ध होती है कि बहुत-से निपातों के बारे में पदपाठकार शाकल्य के समय से भी पूर्व से ही मतभेद रहे हैं कि वे एकाधिक निपातों के संयोग से बने हुए निपात हैं; अथवा दो स्वतंत्र निपात ही हैं। उदाहरणत: नहि न+हि है; या एक ही है-इस पर ऋग्वेदीय और यजुर्वेदीय विद्वानों में मतभेद है।

ऋग्वेदीय शाकल्य इसे एक मानते हैं, अत: इसमें अवग्रह नहीं करते, पर यजुर्वेदीय इसमें दो स्वतंत्र निपात मानते हैं। अत: संयोगज निपात के दोनों अवयवों में अवग्रह करते हैं।

ब्राह्मणों में तो यह दो स्वतंत्र निपातों के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। यही स्थिति 'हिकम्' की है। ननु को शाकल्य और यास्क एक ही निपात मानते हैं। ब्राह्मणों में ननु आद्युदात्त के रूप में प्रयुक्त हुआ है। स्वरूपत: यह न+नु ननु बनता है। न+इदु नेदु एक निपात के रूप में है, यह शाकल्य और यास्क मानते हैं।

च + इत्-चेत्, च + न = चन इसी प्रकार के संयोगज निपात हैं।

यास्क ने निरुक्त में सार्थक निपातों के रूप में कुल ३३ निपात लिये हैं। तथा उनके पन्द्रह अर्थ बताएं हैं :

१. अनुपृष्ट (न, न किल, न चेत्, ननु, ननुकिल शश्वेदवम्)

२. अवकुत्सित (चित्)

३. असूया (हि)

४. अस्वयम्पृष्ट

५. उपमा (इव, चित्, न, नु)

६. परिग्रह (सीम्)

७. परिभय (नेत्)

८ पूजा (चित्)

९. प्रतिषेध (खलु, न, ना)

१०. विचारणा (वा)

११. विचिकित्सा (नूनम्, शश्वत्)

१२. विद्या-प्रकर्ष (किल)

१३. विनिग्रह (अह, उ, त्व, ह)

१४. समुच्चय (आ, च, त्वम्, वा) और

१५. हेत्वपदेश (नु, हि)

निरर्थक अर्थात् पादपूरण निपात

अमित अक्षर वाले ग्रन्थों में अर्थात जहां अक्षरों की गिनती नहीं की जाती, ऐसे गद्य ग्रन्थों में स्थित पदों से ही जब प्रकृत अर्थ परिसमाप्त हो चुकता है, अर्थात वाक्य पूर्ति के लिए जहां नाम, आख्यात तथा उपसर्गों से अतिरिक्त पदों (निपातों) की अपेक्षा नहीं रहती, वहां प्रयुक्त निपात अर्थ में सहायक नही होते। वे केवल वाक्य की पूर्ति के लिए, वाक्यालंकार के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। वही निपात जब मित अक्षरों वाले अर्थात जहां अक्षरों की गिनती की जाती है, इस प्रकार के छन्दोबद्ध ग्रन्थों में आते हैं तब पाद की पूर्ति, अक्षरसंख्या की पूर्ति के लिए आते हैं।

गद्यबद्ध तथा छन्दोबद्ध-दोनों ही प्रकार के-ग्रन्थों में ये वाक्यपूरण या पादपूरण निपात स्वयम् अनर्थक ही होते हैं।

इस प्रकार के पादपूरण निपातों की संख्या चार है।

१. कम् २. ईम् ३. इत् ४. उ़,

ये भी जब इनका अर्थ करना असम्भव ही हो, अर्थ सूक्ष्म हो, वाक्यार्थ में इनके अर्थ से कोई विशेष उपकार न होता हो, तभी अनर्थक होते हैं। यदि सम्भव हो, तब तो अर्थवान् ही रहते हैं। अर्थ की संभावना न होने पर 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्याय से पादपूर्ति ही इनका प्रयोजन माना जाता है। यों, इव, खलु, और नूनम् और सीम् भी पाद-पूर्ति के लिये प्रयुक्त कर दिये जाते हैं; पर ये प्रायोवृत्ति से ही सार्थक, प्रयुक्त होते हैं तथा कभी कभी ही निरर्थक, पादपूरण के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

किन्तु कम्, इम, और इत और प्रायोवृत्ति से निरर्थक हैं तथा कदाचित् ही सार्थक होते हैं।

पाठ — ८

यास्क के निर्वचन एवं निर्वचन सिद्धान्त

निरुक्त एक वेदांग है, ग्रन्थ-विशेष नहीं। परन्तु यास्क के निरुक्त के अतिरिक्त अन्य निरुक्त अप्रसिद्ध हैं, इसलिए निरुक्त कहने से यास्क के निरुक्त का ही बोध होता है। इसी प्रकार निरुक्त से निघण्टु भिन्न हैं, दोनों दो भिन्न-ग्रन्थ हैं, किन्तु जहां-कहीं निघण्टु मिला है, वहां निरुक्त भी साथ ही मिला है, और निरुक्त भी जहां-कहीं मिला है, उसके साथ निघण्टु भी मिला है। इसलिए निघण्टुकार और निरुक्तकार को बहुधा लोग एक ही व्यक्ति मानते हैं। सायणाचार्य ने भी निघण्टु को ही निरुक्त कहा है और लाक्षणिक रूप से उसकी व्याख्या को भी निरुक्त माना है। परन्तु यास्क न तो "समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते" कहकर स्पष्ट ही कर दिया है कि समाम्नाय अर्थात् शब्द-समूह को निघण्टु कहते हैं। और व्याख्या उससे भिन्न वस्तु है, जिसे लोग निरुक्त कहते हैं। पर सायणाचार्य के कहने का अर्थ यही है कि वस्तुतः निघण्टु और निरुक्त दोनों मिलकर ही भाषा विज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा, शब्दकोश विज्ञान की पूर्ति करते हैं।

निरुक्त का लक्ष्य

यहां एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। संस्कृत प्रायः श्लिष्ट अन्तयोगात्मक भाषा है, जिसमें अर्थ-तत्व पहले रहता है और सम्बन्ध तत्व बाद में, साथ ही दोनों तत्वों के योग से अर्थतत्वात्मक ध्वनि में कुछ ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि दोनों का पृथक्करण कठिन हो जाता है, दोनों तत्व प्रायः श्लिष्ट रहते हैं। जैसा कि अभी कहा गया है, अर्थतत्व के मुख्यतः दो भेद हैं —प्रतिपादक और धातु। इन दोनों से दो प्रकार के प्रत्यय हो सकते हैं— अन्त्य प्रत्यय (सुप् और तिङ्) तथा मध्यवर्ती प्रत्यय (शेष सभी)। सुबन्त और तिङन्त शब्दों को ही पद कहते हैं, अर्थात् वाक्य के चरण ये ही हैं, इन्हीं से वाक्य चलता है, वाक्य में इनका ही प्रयोग संभव है।

इसी दृष्टि से यास्क ने निरुक्त को व्याकरण का खिल (पूरक) भी कहा है। इस प्रकार निरुक्त यौगिक प्रकृतियों का निर्वचन है। साथ ही वेदों के मंत्रों की व्याख्या भी करता है। इसलिए यह व्युत्पत्ति-विज्ञान के साथ अर्थ विज्ञान भी है। कारण यह कि दोनों विज्ञान परस्पर सम्बद्ध हैं, बिना अर्थज्ञान के सही निर्वचन नहीं हो सकता और बिना निर्वचन के अर्थज्ञान नहीं हो सकता।

निरुक्त उद्देश्य चूंकि अर्थ व्याख्या के साथ पद की मूल प्रकृति की खोज है, इसीलिए इसमें प्रत्यय की व्याख्या पर कम ही ध्यान दिया गया है। जहां भी क्रियावाचक शब्द आये हैं, केवल अर्थ बता दिया गया है, जैसे कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश···अन्तिकर्माण उत्तरे धातवोदश · क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवोदश। यहां न तो इन धातुओं के पर्यायों की चर्चा है, न इनके तिङन्त रूपों की। पर्याय देना निघण्टु का काम है, तिङन्त रूप की व्याख्या करना व्याकरण का। इसी प्रकार 'यद्देवापिः शन्तनवे' इस मंत्र में शन्तनवे इस चतुर्थ्यन्त का विश्लेषण नहीं किया, सिर्फ प्रातिपदिक शन्तनु का (यौगिक प्रकृति होने के कारण) निर्वचन कर दिया—'शन्तनोस्त्विवति वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति'।

विभिन्न आचार्य तथा शाखाएं

यास्क ने निर्वचन के प्रसंग में प्रमाण रूप से पूर्वोक्त आचार्यों के अतिरिक्त एके, अपरे, अन्ये, आचार्याः आदि कहकर बिना नाम दिये और भी अनेक निर्वचन विशेषज्ञों के विचार दिये हैं। कई मत ऐसे भी हैं, जो किसी एक आचार्य के नहीं, अपितु किसी अधिदैवत, अध्यात्म, याज्ञिक, पूर्वयाज्ञिक, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, वैयाकरण, परिव्राजक आदि शब्दों से किया गया है।

निरुक्त का क्षेत्र

वैसे निरुक्त का क्षेत्र लोक-प्रसिद्धि में इस प्रकार है—"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकार-नाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्" में पूर्वार्ध इसकी पदविज्ञानता तथा उत्तरार्ध अर्थविज्ञानता को सूचित कर रहा है। किन्तु यास्क के निरुक्त में वर्ण का आगम, वर्ण का विपर्यय, वर्ण का विकार, वर्ण का विनाश, तथा धातु का अर्थविस्तार इतनी ही बातें नहीं हैं। इसमें पदविज्ञान तथा अर्थविज्ञान दोनो के पूर्वरूप निहित हैं। दोनो ही क्षेत्रों में यास्क की तुलनात्मक दृष्टि सराहनीय है। भले ही उनमें ऐतिहासिक दृष्टि की पूर्णता न हो, परन्तु वेदों का अर्थ करने में ऐतिहासिक सम्प्रदाय का मत पदे-पदे देकर उन्होंने उसका पर्याप्त संकेत कर दिया है।

निर्वचनीय शब्द

निघण्टु के कुल ७६३ शब्दों में प्रायः ५३६ का ही अपनी जगह में निर्वचन किया गया है। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य सैकड़ों प्रसंगागत शब्दों का निर्वचन है। निघण्टु में जलने के ११, चमकने के १६, खाने के ११, क्रोध करने के ११, जाने के १२२, व्याप्त होने के ११, शासन करने के ४, परिचर्या करने के ११ देखने के, पूजा करने के ४४, मांगने के १८, दान देने के १०, अध्येषण के ५ और सोने के २ पर्याय दिए हैं। इस प्रकार २८६ शब्द तो क्रियावाचक ही हैं जिनमें निर्वचन की नहीं, केवल अर्थ बताने की आवश्यकता होती है। शेष शब्दों में भी कम के ही निर्वचन हैं। बल्कि निरुक्त में निघण्टु के शब्दों से अधिक प्रसंगागत शब्दों की ही निरुक्तियां दी गई हैं। उदाहरणार्थ निरुक्तकार को 'गो" की व्याख्या करनी है। यहां पहले तो यह बताया कि "गो" पृथ्वी को कहते हैं, फिर बताया कि गो एक पशु का नाम भी है। इसमें एक ऋचा प्रमाण रूप में उद्धृत की। यहां बताया कि गो का अर्थ तद्धित प्रत्यय से पयस् हो गया है। फिर पयस् शब्द की व्युत्पत्ति की, ऋचा में आये 'मत्सर' शब्द की भी व्युत्पत्ति कर दी इतना ही नहीं, "पयस्" के एक पर्याय क्षीर का भी निर्वचन कर दिया। इस प्रकार गो शब्द के अर्थ के स्पष्टीकरण के प्रसंग में ७ और ऋचाएँ उद्धृत हैं तथा इसी प्रकार शाखा-प्रशाखा पकड़कर बीसों शब्दों का निर्वचन दे दिया है।

यद्यपि यास्क के समय ऐतिहासिक तुलनात्मक निर्वचन या भाषा विज्ञान का नाम भी नहीं था, फिर भी "शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु" ऐसे कई स्थल बताते हैं कि यास्क की दृष्टि तुलनात्मक थी। असुर का अर्थ एक जगह अच्छा, दूसरी जगह बुरा देख-कर उन्होंने इसका ऐतिहासिक कारण नहीं ढूंढा ऐसी न्यूनताएँ उनमें ही नहीं, आज के सभी भाषावैज्ञानिकों में वर्तमान हैं। यही क्या कम है कि 'असुर" शब्द को यास्क ने "सुर" का निषेधार्थक नहीं समझकर/अस् धातु या असु शब्द से निष्पन्न बताया।

यही क्या कम आश्चर्य की बात है कि यास्क ने अपने निरुक्त में गुण, वृद्धि, अयादि तथा सम्प्रसारण आदि वर्ण विकारों को पहचाना और बताया है। उन्होंने निघण्टु का, वैदिक शब्दकोश का केवल अर्थ ही नहीं बताया, यह भी स्पष्ट करने का सम्भवतम प्रयास किया कि किसी विशेष शब्द का कोई विशेष अर्थ कैसे हुआ। निर्वचन के लिए उन्होंने जिन दिशाओं का संकेत किया है, वे उनकी व्यापक दृष्टि का परिचय देती हैं। उन्होंने शब्दों की इतने प्रकार से सिद्धि बताई है।

निर्वचन की दिशाएँ

१. आदिशेष — प्र+दत्तम्—प्रत्तम्।

२. आदिलोप — अस्+तः—स्तः।

३. अन्तलोप — गम्+त्वा—गत्वा।

४. उपधालोप — जगम्+अतुः—जग्मतुः।

५. उपधाविकार — राजन् + स् — राजा ।

६. वर्णलोप — याचामि—यामि ।

७. द्विवर्णलोप — त्रिऋच—तृच ।

८. आदिविपर्यय — द्युत् से ज्योति, हन् से घन ।

९. आद्यन्तविपर्यय — कर्तुं—तर्कुं, कसिता—सिकता ।

१०. अन्तव्यापत्ति — मेहु—मेघ, मदु—मधु ।

११. वर्णोपजन — वार—द्वार, भरुज—भरुजा ।

१२. अन्तस्थ मध्य धातुओं की द्विप्रकृतिता—अवति—ऊति, प्रथते—पृथुः ।

(१३—१४) लौकिक धातु से वैदिक शब्द एवं छान्दस धातु से लौकिक शब्द का निष्पादन√दम् से दमूनाः, तथा उष् से उष्ण, √घृ से घृत ।

देशप्रसिद्धि के कारण एक ही धातु से बने दो शब्दों में से एक जगह एक शब्द का प्रयोग, दूसरी जगह दूसरे शब्द का शव, दाति दात्र आदि । धातु एक ही है शव, पर कम्बोज में इसका अर्थ होता है गमनशील और आर्य लोग इसका व्यवहार लाश के अर्थ में करते हैं, (वह भी तो परलोक जा रहा है) । एक ही दा धातु से ति प्रत्यय जोड़कर पूर्व दिशा के लोग क्रिया-शब्द बनाते हैं, "त्र" प्रत्यय जोड़कर उत्तर दिशा के लोग संज्ञा शब्द बनाते हैं ।

निर्वचन में ध्वनिसाम्य से अधिक अर्थसाम्य महत्वपूर्ण है, इसे यास्क ने स्पष्ट कर दिया है—"अर्थनित्यः परीक्षेत, केनचिद् वृत्तिसामान्येन" अर्थ पर ध्यान रखकर किसी भी प्रकार के वर्ण विकार से अभिलक्षित शब्द की व्युत्पत्ति ढूंढनी चाहिए । स्वयं यास्क ने भी√नाध् और √गाध् धातुओं से न बनाकर√नह् और√गाह् धातुओं से अन्त-व्यापत्ति द्वारा बनाये हैं । कुछ लोग शाकटायन की इस निर्वचन—पद्धति का उपहास करते हैं कि उन्होंने दो धातुओं के योग से सत्य शब्द का साधन किया है (√अस् धातु का सत् तथा√ई धातु का य), पर यह शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया में कोई अनहोनी बात नहीं है । कहते हैं; यष्टि से लट्ठी बनने में लकुट के ल् का तथा दृश से देख बनने में पेख (प्रेक्ष) के क्ख का भी प्रभाव है । इतिहास शब्द तो पूरे एक वाक्य का ही संक्षेपण है—"इति ह आस" और यास्क की वैज्ञानिकता तो यह है कि उन्होंने शाकटायन की इस निरुक्ति तथा उसके उपहास में किसी का भी पक्ष न लेकर यह घोषित किया कि यदि कोई ऐसा करता है कि अर्थ का सादृश्य नहीं मिलने पर भी शब्द निष्पत्ति करता है तो यह निरुक्ति विज्ञान की नहीं, उस व्यक्ति-विशेष की गर्हा की बात होगी । साथ ही स्वयं "सत्य" शब्द की दूसरी अच्छी व्युत्पत्ति दी, "सत्प्रभव भवति" अर्थात सत् + य — सत्य (तत्र भवः या तत आगतः या प्रभवति) ।

यास्क का यह कहना कि "अर्थ सामान्य की प्राप्ति होने पर वृत्ति-सामान्य नहीं मिलने पर भी वर्णसामान्य-मात्र से निर्वचन कर दे, संस्कार का भी आदर न करे, शब्द का कुछ न-कुछ निर्वचन अवश्य कर दे, यूं ही कभी न छोड़े, इस उक्ति से केवल निर्वचन के सोत्साह अनुसंधान की आवश्यकता लक्षित होती है, कुछ और नहीं । आज के भी कोशकार शब्दों के निर्वचन ढूंढ़कर देना अपना कर्त्तव्य मानते हैं, भले ही अभ्रान्त न हो । अन्यथा विवादमुक्त निर्वचन की तलाश में बहुत से शब्दों का निर्वचन छोड़ ही देना पड़ेगा ।

कुछ सुन्दर निर्वचन

(क) निरुक्त में बहुत-से वैज्ञानिक निर्वचन प्राप्त हैं, उनके कुछ नमूने यहां दिखा देना लाभप्रद होगा, जैसे :—

१. √चित् से चित्र २. √वृ से वर ३. √भज् से भग ४. √प्रथ् से पृथिवी ५. √स्था से स्थाणु ६. √धा से धातु ७. √दंश् से दंश ८. √भी से भीम तथा भीष्म ९. √पर्व से पर्वत १०. √दम् से दण्ड ११. √राज् से राजा १२. √व्रश्च से वृक्ष १३. √वृ से वर्ण १४. √पद् से पाद १५. √अश् से अश्व आदि।

(ख) कुछ निरुक्तियाँ ऐसी हैं, जिनसे निर्वचन-विद्या पर बहुत प्रकाश पड़ता है—

१. हस्त√हन् धातु से बना है, हन्त > हस्त इसीलिए अंग्रेजी में हाथ के लिए हैण्ड (हन्त) शब्द बना है ?

२. ऋक्√अर्च् धातु से बना है ? तब तो√अर्च् की जगह√ऋच् धातु ही मानना ठीक लगता है।

३. √रुच् धातु से ही रूप भी बना है और रुशद् भी ? च् का प् भी हो सकता है और श् भी ?

४. √पण् धातु से पाणि बनता है; क्योंकि उससे पूजाकर्म करते हैं, हाथ का कितना सुन्दर उपयोग है। √नम् से नाम, अभिवादन में कहना पड़ता है इसलिए ?

५. प्रतम से प्रथम बना है ? क्या संस्कृत से भी प्रथमाक्षर का द्वितीयाक्षर हो जाता था ? जैसे प्राकृत या आधुनिक काल में तथा अंग्रेजी में होता है ? कटु से > खट्टा, पट् से > फट, पितर से > फादर आदि ?

६. मण्डूक, मज्जूक (√मस्ज् शुद्धौ), अथवा मन्दूक (√मदि कल्याणे सुखे च) से बना है। अर्थात् तवर्ग की भांति चवर्ग का मूर्धन्य के सम्पर्क के बिना भी टवर्ग हो सकता है ?

७. √गुंह् धातु से कुहू बना है। अर्थात् संस्कृत में भी तीसरे वर्ण का पहला वर्ण हो जाता था, जैसे संस्कृत लगुड से हिन्दी > लकुट, या संस्कृत पीड से अंग्रेजी > बीट।

८. कण्टक√कृत् धातु से बना है, अर्थात् कर्त्तक-कण्टक, त् का ट् तथा र् का न् या ण् हो गया है। ठीक है। शर्कर से > कंकड़, वक्र से > वंक, मर्कट से > मंकी ऐसे ही बना होगा। या पिब; जिघ्र : की भांति पहले कृन्त : कण्टः बना है। फिर स्वार्थिक क से कण्ट :— कण्टकः (कृन्त :—कण्ट :—कण्टकः)।

९. आत्मा√अत् धातु से भी बन सकता है और√आप् धातु से भी, अर्थात् गमनशील या व्यापक दोनों ही इसके अर्थ हो सकते हैं। जहां निर्वचन सन्दिग्ध है, वहां यास्क ने अनेक निर्वचन दिये हैं, यह कोई दोष नहीं है, सचाई प्रकट कर देनी है; जैसे क्षीर/क्षर् धातु से भी बन सकता है, घस् धातु से भी। पय: '√पा' धातु से भी, √प्याय् धातु से भी।

(ग) यह विवाद भी बड़ा रोचक है कि क्या सभी शब्द धातुज ही हैं, या कुछ मूल धातु की भांति मूल प्रतिपादक भी हैं ? कुछ क्रियावाचक कुछ वस्तुवाचक ? प्रथम पक्ष के समर्थक शाकटायन तथा निरुक्त सम्प्रदाय हैं, दूसरे के गार्ग्य तथा वैयाकरणों की एक शाखा। (धातु" का धा धातु से निर्वचन यही प्रकट कर रहा है कि सब शब्दों का धारण ये ही करते हैं। यास्क ने इस प्रश्न पर अपनी ठीक ही सम्मति दी है कि जहां निर्वचनीय शब्द के स्वर, ध्वनिविकार, अर्थ सब निर्वचन, साधन धातु के तुल्य दीख रहे हैं, वे तो स्पष्ट ही पहचान में आ जाते हैं, जैसे गौ:, अश्व, पुरुषः, हस्ती (तद् यत्र स्वर-संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेण अन्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि)।

(आ) पाद और पद शब्द मूलतः पशुओं के पांव के बोधक हैं: उनके सादृश्य से श्लोक के पाद कहे गये, उनके भी सादृश्य से अध्याय आदि के पाद कहे गये । इस उक्ति से सादृश्य-मूलक लक्षणा से बने शब्दों पर प्रकाश पड़ता है । इसी तरह "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" में गोविकार अर्थ में गोदुग्ध के लिए तद्धितान्त "गव्य की जगह मूल शब्द गो का व्यवहार हो गया । यह भी लक्षणा का ही उदाहरण है, "अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि" में गो का अर्थ अधिषवणार्थ गोचर्म है, "गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व" में गो का अर्थ गोस्नायु है, "गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता" में गो का अर्थ ज्या है । सब तद्धितार्थक लक्षणा के उदाहरण है ।

(इ) यास्क ने बहुत-सी ऐसी धातुओं को माना है, जिनका उल्लेख पाणिनीय धातुपाठ में नहीं है, जैसे √नक्ष् से नक्षत्र, √तुक् से तुतुक, √श्नथ से शिश्न, √ग्रन्द से ग्रन्दी, √लत् से लता आदि की सिद्धि की है । इनमें केवल √नक्ष् भ्वादि में प्राप्त है, पर पाणिनि ने नक्ष् धातु से नक्षत्र नहीं बनाया है, निषेधार्थक न के साथ √क्षर् धातु के योग से नक्षत्र का निपातन किया है । इससे सन्देह होता है कि यह पाठ बाद का है ।

(ई) साथ ही कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनके निर्वचन के लिए यास्क को धातु ढूंढनी पड़ी है; जैसे मृग को यास्क ने √मृज् से बनाया है जबकि धातु पाठ में "√मृग अन्वेषणे" प्राप्त है । संग्राम शब्द सम्+√ग्राम से बनाया गया है, पर धातु पाठ में संग्राम एक धातु ही है । ऊर्णा शब्द √वृ धातु या ऊर्ण धातु से बनाया गया है, जबकि धातुपाठ में स्पष्ट ही √उर्ण धातु प्राप्त है और अर्थ भी दोनों का एक ही है । -"पशुः पश्यतेः" से लग रहा है कि कोई दिवादि √पश् धातु था; क्योंकि दृश् से पश् कैसे होगा । दोनों में कोई अर्थसाम्य नहीं । परन्तु आज दिवादि में कोई √पश् धातु नहीं है, चुरादि में बन्धनार्थक √पश् धातु है, जिसका पाशयति रूप बनता है, पर यह प्रक्षेप लगता है । रुशत् को √रुच् धातु से बनाया गया है जबकि √रुश् धातु वर्तमान है । चन्द्रः को चन्द् धातु से बनाया है किन्तु इसका अर्थ यास्क ने दिया है कान्ति, जबकि इसका अर्थ भ्वादि गण में लिखा है आह्लाद; और फिर √चन्द् धातु की सत्ता में ही सन्देह से इसे दूसरे प्रकारों से बनाने की चेष्टा की है । स्त्री का निर्वचन यास्क ने दिया है "स्त्यायतेः अपत्रणकर्मणः अर्थात् √स्त्यै का अर्थ है लजाना, पर भ्वादि में यह "स्त्यै ष्ट्यै" शब्द संघाते रूप में पढ़ा है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क के समय कोई सुव्यवस्थित धातु पाठ नहीं था, भाषाविज्ञानी स्वयं प्रयोग देखकर, आवश्यकता से धातुओं और अर्थों का अनुसंधान कर रहे थे ।

निरुक्ति के विविध मार्ग

(अ) जैसा कि अभी कहा गया है कि यास्क का उद्देश्य यह दिखाना नहीं था कि किसी भी प्रातिपदिक रूप में धातु रूप में कौन-सा सुप् प्रत्यय तथा तिङ् प्रत्यय है, उन्होंने विश्लेषण से केवल उनकी प्रकृति अर्थात् प्रातिपदिक (नाम) तथा धातु (आख्यात) को ही पृथक करके दिखाया है । इतना ही नहीं, यदि वह प्रातिपदिक यौगिक है तो उसकी प्रायः मूल धातु ही बताई है या समास का उल्लेख किया है । उसमें कौन-सा प्रत्यय जुड़ा है, उसका क्या अर्थ है, यह विरले स्थलों में ही प्रदर्शित किया गया है ।

(१) वर्णः वृणोतीति सतः पुरुषः पूरयति यः, तडित् ताडयति, दुहिता दोग्ध्री, मन्मभिः मननीयैः, चित्रम् यापनीयम्, माता निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि जग्मिः गन्ता जक्षिवांसः पपिवांसः खादिवन्तः पीतवन्तश्च आदि के द्वारा धातु-निष्पन्न शब्दों में प्रत्यय के अर्थ तथा प्रकृति भूत धातु का भी संकेत कर दिया । इसी प्रकार "दण्ड्यः पुरुषः दण्डमर्हति, दण्डेन सम्पद्यते" "आर्ष्टिषेणः ऋष्टिसेनस्य पुत्र.", अग्रिया अग्रगमनेन, केशी केशाः रश्मयः तैस्तद्वान् भवति, रजिष्ठः ऋजुतमः, प्रसिष्ठः प्रसिततमः वृषाकपायी

वृषाकेपे पत्नी, द्वीप: दूरतरम् अप्यम् अद्भि: संस्कृतम् इवंयु: इवं कामयमानः आदि नामज यौगिक शब्दों में मूलप्रातिपदिक का तथा प्रत्यय के अर्थ का भी सकेत कर दिया। इन धातुज तथा नामज शब्दों में प्रत्यय तो नहीं बताये, किन्तु जो समुदायार्थ बताये वे ही प्रत्ययार्थ हैं, अत: प्रत्ययों के अर्थ भी व्यक्त कर दिये।

(२) पर कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जहां यास्क ने प्रकृति के साथ प्रत्यय का भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है, जैसे "गौरिति पृथिव्या नामधेयम्, यद्दूरंगता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति, गातेर्वौकारो नामकरण.।" यह सर्वांगपूर्ण निरुक्ति है। इसमें पहले गौ शब्द का अर्थ दिया, फिर इसकी प्रकृति दे दी "गम्" या गा और प्रत्यय भी बता दिया "ओ"। इसी भांति "क्षीर" क्षरते: घसेर्वेरो नामकरण: उशीरमिति यथा" कहकर क्षीर में "√घस" धातु और ईर प्रत्यय भी बता दिया, साथ ही "उशीर" का उदाहरण देकर ईर प्रत्यय की सत्ता में प्रमाण भी दिया। "पय" शब्द के बाद "क्षीर" शब्द की व्याख्या देकर उसका "अर्थ" "पय" (दूध) भी स्पष्ट कर दिया। इसी प्रकार कक्ष में कष् धातु से क्स प्रत्यय मानकर प्रकृति प्रत्यय दोनों दे दिये।

(३) जहां केवल समास दिखाना है, वहां केवल दोनों पदों को तोड़कर पृथक्-पृथक् बता दिया है, जैसे "सुखेव: सुमुख:", "महिव्रत: महाव्रत:", "सोमपीतये सोमपानाय", "इन्द्रशत्रु: इन्द्रोऽस्य शमयिता शातयिता वा", "प्रियमेध: प्रिया अस्य मेधा", हिरण्यरूपम् हिरण्यस्येवास्य रूपम्, "शिपिविष्ट: शेप इव निर्वेष्टित:" विश्वपतिम् सर्वस्य पातारम्, उभयाहस्ति उभाभ्यां हस्ताभ्याम् आदि। इनमें कहीं दोनों पद दिये हैं, कहीं एक पद देकर दूसरे पद का अर्थ ही दिया है। कभी दोनों पदों के बदले दोनों का पर्याय भी देकर अर्थ और समास बता दिया है, जैसे "रत्नधातमम् रमणीयानां धनानां दातृतमम् आदि।

(४) जहां उपपदतत्पुरुष हुआ है, वहां ऐसा विग्रह किया है कि पहला खण्ड नाम एवं दूसरा खण्ड धातु भी स्पष्ट हो जाता है। तथा यह भी पता चल जाता है कि प्रत्यय किस अर्थ में हुआ; जैसे 'क्रव्यादे क्रव्यमदते'; 'उर्वशी उरु अश्नुते'; 'कच्छप: कच्छेन पिबति'; 'नाराशंस: येन नरा: प्रशस्यन्ते स मन्त्र: इत्यादि।

निरुक्ति सिद्धांत

यास्क ने निरुक्ति सिद्धांत के विवेचन के प्रसंग में निम्नलिखित बातें कही हैं —

(१) जिस शब्द का निर्वचन ढूंढना है, उसके लिए ऐसी प्रकृति और प्रत्यय ढूंढें, में यह स्वर (उदात्तादि) और विकार स्वाभाविक और प्रचलित हो, जो इस निर्वचनीय शब्द में मिल रहा है। जैसे √राज् से राजन् - राजा, √द्युत से > ज्योति, √हन् से > घन आदि। अर्थात् सन्देहमुक्त प्रामाणिक निर्वचन वह है, जहां आधार तथा आधेय शब्दों में अर्थ-सादृश्य के साथ ध्वनि सादृश्य भी हो (अथ निर्वचनम् तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्याताम् तथा तानि निब्रूयात)।

(२) यदि बहुत ढूंढने पर भी ऐसा आधार शब्द नहीं मिले, जिसमें आधेय (निर्वचनीय) शब्द के साथ अर्थ-सादृश्य तथा ध्वनि-सादृश्य दोनों मिलते हों, तो ऐसी स्थिति में ध्वनि-सादृश्य की उपेक्षा कर अर्थ-सादृश्य ढूंढें; क्योंकि ध्वनिविकार की दिशा अनन्त है। कहना कठिन है कि इस ध्वनि के स्थान में यह ध्वनि नहीं हो सकती, सभी ध्वनिविकार-नियम अपूर्ण है; जैसे वधू का निर्वचन √वध् धातु से नहीं √वह् धातु से, गाध का √गाध् से नहीं √गाह् से, ओघ का √ऊह से नहीं √वह् से करना चाहिए (अर्थनित्य: परीक्षेत, केनचिद् वृत्तिसामान्येन)।

(३) यदि अर्थ-सादृश्य ठीक से नहीं प्राप्त हो सके, तो भी ध्वनि सादृश्य-मात्र से कोई न कोई निर्वचन (आधार शब्द) अवश्य बतावे ऐसा न करे कि स्पष्ट सम्बन्ध के अभाव में किसी शब्द की निरुक्ति देना ही छोड़ दे। भाषा (व्याकरण) के नियमों की बहुत परवाह न करे; क्योंकि भाषा सम्बन्धी नियम (वृत्तियां) सदा अनिश्चयात्मक होते हैं। जहाँ तक सम्भव हो, अर्थ के अनुकूल प्रकृति और प्रत्यय दोनों भागों की (विभक्तीः) ध्वनियों में परिवर्तन मान ले; जैसे √सृज् से रज्जु, कसिता से सिकता √भिद् से बिन्दु आदि (अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णं सामान्यान्निब्रूयात्। न त्वेव न निब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्)।

(४) जैसे ध्वनिविकार के लिए इतनी दिशाएँ हैं – (क) धात्वादि शेष (ख) धात्वादि लोप (ग) धात्वन्त-लोप (घ) उपधा लोप (ङ) उपधा विकृति (च) एकवर्णलोप (छ) वर्णद्वयलोप (ज) आदिविपर्यय (अ) आद्यन्तविपर्यय (आ) वर्ण का आगम आदि। इन सबों के उदाहरण दिये जा चुके हैं।

(५) इसी प्रकार धातुओं में इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि कुछ धातुएं ऐसी होती हैं कि उनमें दो धातुएं रहती हैं। प्रायः जिन धातुओं में स्वर के अनन्तर अन्तस्थ रहता है, सब ऐसे ही होते हैं। जब कोई शब्द ऐसी धातु के एक रूप से सिद्ध नहीं हो, तो उसके दूसरे रूप से उसे सिद्ध करने की चेष्टा करनी चाहिए। उन दोनों रूपों में एक ही से अधिकांश शब्द सिद्ध होते हैं, दूसरे से कम ही शब्दों की निष्पत्ति होती है; जैसे √अव् √प्रथ्, √यज् आदि में दो-दो प्रकृतियाँ संश्लिष्ट हैं, अव-ऊ, प्रथ-पृथ्, यज-इज् और दोनों से विविध शब्द बनते हैं; जैसे अवन > ऊति, प्रथा > पृथु, यज्ञ > इज्या आदि। यह सम्प्रसारण नियम का संकेत है।

(६) कभी ऐसा भी होता है कि भाषा की प्रकृति से दूसरी भाषा के प्रत्यय हो जाते हैं, जैसे वैदिक √घृ धातु से लौकिक घृत शब्द तथा लौकिक दम धातुओं से वैदिक दमूनाः शब्द सिद्ध होता है।

(७) कभी ऐसा होता है कि किसी धातु का शुद्ध रूप एक भाषा में व्यवहृत होता है, और उसका विकार-युक्त रूप दूसरी भाषा में प्रयुक्त होता है, अथवा प्रत्यय वाला एक भाषा में और दूसरे प्रत्यय वाला दूसरी भाषा में। इस प्रकार का निर्वचन उस शब्द का करना चाहिए, जो पूरा, आदिम से अन्त्य ध्वनि तक केवल एक पद बनता हो।

(८) तद्धित में, जहां एक ही पर्व रहता है और समास में, जहां दो पर्व रहते हैं, निर्वचन कुछ दूसरे ढंग से करना चाहिए। वहाँ पूर्वभाग को परभाग से पृथक् कर निरुक्ति देनी चाहिए। जैसे दण्ड्यः की व्युत्पत्ति होगी— दण्डम् अर्हति। यहाँ एक ही पर्व है दण्ड, और उसमें 'य' यह तद्धित प्रत्यय जुड़ा है, जो एक स्वतन्त्र पर्व नहीं है। पर राजपुरुषः की व्युत्पत्ति होगी राज्ञः पुरुषः यहां दो पर्व हैं, जिनमें राज्ञः पूर्व-पर्व और पुरुषः उत्तर-पर्व है, और दोनों स्वतन्त्र हैं। तद्धित और समास स्थल में जहां कहीं भी निर्वचन करना हो, वहाँ इसी प्रकार यथासम्भव पूर्व-पर्व (खण्ड) तथा पूर्व और उत्तर दोनों पर्वों का विभाजन अवश्य कर लेना चाहिए। एक पर्व वालों का निर्वचन इस प्रकार नहीं करना चाहिए।

भला इससे अधिक सर्वांगपूर्ण व्यापक निर्वचन की कसौटी आज भी कौन बता सकता है? निरुक्ति-विज्ञान के महारथी यास्क ने निर्वचन की कौन सी दिशा इसमें नहीं बताई? वस्तुतः जिस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण या पदविज्ञान से लोगों को आश्चर्य में डाल दिया है, वैसे ही यास्क ने अपने निरुक्ति-विज्ञान से। इस पूरे सन्दर्भ में इतनी बातों पर आनुषंगिक रूप से प्रकाश पड़ता है:

(अ) निरुक्तकार के समय तक यह स्पष्ट हो गया था कि स्वरों (अकारादि) को अक्षर तथा व्यंजनों को वर्ण कहते थे, इसीलिए अक्षर और वर्ण दोनों के सादृश्य की चर्चा की गई है।

(३) यदि अर्थ-सादृश्य ठीक से नहीं प्राप्त हो सके, तो भी ध्वनि सादृश्य-मात्र से कोई न कोई निर्वचन (आधार शब्द) अवश्य बतावे ऐसा न करे कि स्पष्ट सम्बन्ध के अभाव में किसी शब्द की निरुक्ति देना ही छोड़ दे। भाषा (व्याकरण) के नियमों की बहुत परवाह न करे; क्योंकि भाषा सम्बन्धी नियम (वृत्तियां) सदा अनिश्चयात्मक होते हैं। जहाँ तक सम्भव हो, अर्थ के अनुकूल प्रकृति और प्रत्यय दोनों भागों की (विभक्ती:) ध्वनियों में परिवर्तन मान ले; जैसे √सृज् से रज्जु, कसिता से सिकता √भिद् से बिन्दु आदि (अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्ण सामान्यान्निब्रू यात्। न त्वेव न निब्रू यात्। न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्)।

(४) जैसे ध्वनिविकार के लिए इतनी दिशाएँ हैं –(क) धात्वादि शेष (ख) धात्वादि लोप (ग) धात्वन्त-लोप (घ) उपधा लोप (ङ) उपधा विकृति (च) एकवर्णलोप (छ) वर्णद्वयलोप (ज) आदिविपर्यय (अ) आद्यन्तविपर्यय (आ) वर्ण का आगम आदि। इन सबों के उदाहरण दिये जा चुके हैं।

(५) इसी प्रकार धातुओं में इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि कुछ धातुएं ऐसी होती हैं कि उनमें दो धातुएं रहती हैं। प्रायः जिन धातुओं में स्वर के अनन्तर अन्तस्थ रहता है, सब ऐसे ही होते हैं। जब कोई शब्द ऐसी धातु के एक रूप से सिद्ध नहीं हो, तो उसके दूसरे रूप से उसे सिद्ध करने की चेष्टा करनी चाहिए। उन दोनों रूपों में एक ही से अधिकांश शब्द सिद्ध होते हैं, दूसरे से कम ही शब्दों की निष्पत्ति होती है; जैसे √अव् √प्रथ्, √यज् आदि में दो-दो प्रकृतियाँ संश्लिष्ट हैं, अव-ऊ, प्रथ-पृथ्, यज-इज् और दोनों से विविध शब्द बनते हैं; जैसे अवन>ऊति, प्रथा>पृथु, यज्ञ>इज्या आदि। यह सम्प्रसारण नियम का संकेत है।

(६) कभी ऐसा भी होता है कि भाषा की प्रकृति से दूसरी भाषा के प्रत्यय हो जाते हैं, जैसे वैदिक√घृ धातु से लौकिक घृत शब्द तथा लौकिक दम धातुओं से वैदिक दमूनाः शब्द सिद्ध होता है।

(७) कभी ऐसा होता है कि किसी धातु का शुद्ध रूप एक भाषा में व्यवहृत होता है, और उसका विकार-युक्त रूप दूसरी भाषा में प्रयुक्त होता है, अथवा प्रत्यय वाला एक भाषा में और दूसरे प्रत्यय वाला दूसरी भाषा में। इस प्रकार का निर्वचन उस शब्द का करना चाहिए, जो पूरा, आदिम से अन्त्य ध्वनि तक केवल एक पद बनता हो।

(८) तद्धित में, जहां एक ही पर्व रहता है और समास में, जहां दो पर्व रहते हैं, निर्वचन कुछ दूसरे ढंग से करना चाहिए। वहाँ पूर्वभाग को परभाग से पृथक् कर निरुक्ति देनी चाहिए। जैसे दण्ड्यः की व्युत्पत्ति होगी— दण्डम् अर्हति। यहाँ एक ही पर्व है दण्ड, और उसमें 'य' यह तद्धित प्रत्यय जुड़ा है, जो एक स्वतन्त्र पर्व नहीं है। पर राजपुरुषः की व्युत्पत्ति होगी राज्ञः पुरुषः यहां दो पर्व हैं, जिनमें राज्ञः पूर्व-पर्व और पुरुषः उत्तर-पर्व है, और दोनों स्वतन्त्र हैं। तद्धित और समास स्थल में जहां कहीं भी निर्वचन करना हो, वहाँ इसी प्रकार यथासम्भव पूर्व-पर्व (खण्ड) तथा पूर्व और उत्तर दोनों पर्वों का विभाजन अवश्य कर लेना चाहिए। एक पर्व वालों का निर्वचन इस प्रकार नहीं करना चाहिए।

भला इससे अधिक सर्वांगपूर्ण व्यापक निर्वचन की कसौटी आज भी कौन बता सकता है? निरुक्ति-विज्ञान के महारथी यास्क ने निर्वचन की कौन सी दिशा इसमें नहीं बताई? वस्तुतः जिस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण या पदविज्ञान से लोगों को आश्चर्य में डाल दिया है, वैसे ही यास्क ने अपने निरुक्ति-विज्ञान से। इस पूरे सन्दर्भ में इतनी बातों पर आनुषंगिक रूप से प्रकाश पड़ता है:

(अ) निरुक्तकार के समय तक यह स्पष्ट हो गया था कि स्वरों (अकारादि) को अक्षर तथा व्यंजनों को वर्ण कहते थे, इसीलिए अक्षर और वर्ण दोनों के सादृश्य की चर्चा की गई है।

(आ) ध्वनि-सादृश्य के साथ स्वर (उदात्तादि) सादृश्य भी देखा जाता था (वही)।

(इ) ध्वनि-विकार केवल प्रकृति-भाग में नहीं, प्रत्यय-भाग में भी ढूंढे गये थे; जैसे √पच्+त=पक्व, √छिद्+त=छिन्न आदि दोनों में √वप्+त=उप्त. √स्वप+त=सुप्त, आदि मे केवल प्रकृति में तथा √शुष्+त=शुष्क, √लू+त=लून आदि में केवल प्रत्यय में विकृति हुई है।

(ई) यास्क के समय भी शब्दसिद्धि के साधन कृत्, तद्धित तथा समास-रूप वृत्तित्रय का पूरा अनुसंधान और निश्चय हो चुका था। ये चारों पारिभाषिक शब्द भी वृत्ति, कृत्, तद्धित तथा समास खूब प्रचलित हो चुके थे। इनका उल्लेख यास्क ने इसी प्रसंग में कर दिया है, "विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति", 'अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते' (सन्ति अल्पप्रयोगा: कृत: अपि एक-पदिका:) "अथापि तद्धित समासेष्वेक पर्वसु यानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्, एवं तद्धित समासान्निर्ब्रूयात् आदि।

(उ) सबसे आश्चर्य तो यह लगता है कि यास्क ने कृत् प्रत्ययान्त को एक पद तथा तद्धित प्रत्यायान्त को एक पर्व अर्थात् पद से युक्त दूसरा पद कैसे समझा था ? जैसे दातिः, दात्रम्, शवः दमूनाः, उष्णम्, घृतम् आदि को उन्होंने एक पद घोषित किया; क्योंकि कृत् प्रत्ययान्त होने पर इनकी प्रातिपदिक संज्ञा होगी, फिर सुप् विभक्तियां आयेंगी, और सुबन्त की पद संज्ञा होगी। परन्तु दण्ड्यः कक्ष्या आदि तद्धितान्त शब्दों में दण्डम् अर्हति, कक्षं प्रत्यय होता है और तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा मध्यवर्ती सुप् विभक्ति के लोप के बाद समुदाय से फिर से नई सुप् विभक्ति आती है, यही प्रक्रिया है। अत=दण्डयः कक्ष्या आदि शब्दों में समुदाय तो पद है ही; अन्तर्वर्ती प्रातिपदिक खण्ड दण्ड कक्ष आदि भी सुबन्त होने से पद ही है। इन्हीं को यास्क ने पर्व कहा है। दातिः, दात्रम्, घृतम् आदि में दा, घृ रूप धातुखण्ड पद नहीं कहे जा सकते। इसीलिए कृत् प्रत्ययान्त में पर्व का प्रश्न ही नहीं उठाया, वे सब एक पद हैं। केवल कृदन्त-समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा हुई है तथा सुप् विभक्ति आई और समुदाय एक पद बना। समास में तो एक पद के भीतर दो पर्व या पद हैं, राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः में दोनों अलग-अलग भी सुबन्त इसलिए पद हैं, इस कारण इस पद में दो पर्व (या अनेक पर्व) हैं। दण्ड्य, कक्ष्या आदि तद्धितान्त स्थलों में पद पृथक-पृथक नहीं, बल्कि एक समुदाय-रूप पद के भीतर दूसरा अंग-रूप पद प्रविष्ट है, इसलिए यहां पर्व एक ही माना जायेगा, दो नहीं।

इस प्रकार यास्क ने निरुक्ति-विज्ञान पर एक महान् और उत्तम ग्रन्थ की रचना कर के निर्वचन-विज्ञान के सही निर्देश प्रदान किये। यास्क ने निर्वचन करते हुए केवल प्रकृति पर ही ध्यान दिया है—प्रत्यय का वर्णन कम ही है। यास्क का सिद्धान्त है कि जिस नामशब्द में तनिक भी किसी धातु से स्वर, संस्कार तथा अर्थ का सादृश्य हो उसे उस धातु से ही निष्पन्न समझना चाहिए।

वैदिक देवता—स्वरूप एवं संख्या

देव-विद्या के क्षेत्र में तो यास्क का कृतित्व अपने में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। वैदिक देवताओं तथा उनसे सम्बन्धित अन्य बातों को जो कुछ भी हम जान पाते हैं वह निरुक्त के आधार पर ही समझ पाते हैं। देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करने में यास्क ने कहीं भी शाब्दिक खेंचतान नहीं की है। अपितु अपने मन्तव्यों की युक्ति तथा वैदिक उद्धरणों से इतना पुष्ट किया है कि सभी उनकी मान्यता से सहमत हो जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की अपेक्षा भी यास्क ने देवताओं के स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया है।

यास्क के मत में देवता कोई अलौकिक वस्तु नहीं, अपितु प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले अग्नि, वायु, सूर्य आदि हैं। ये सब देवता उनके मत में एक आत्मा की विभिन्न विभूतियाँ हैं। तथा अग्नि, इन्द्र आदि नाम पृथक-पृथक कर्मों के कारण पड़े हैं। 'माहाभाग्याद्देवताया: एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।' सप्तम अध्याय में वैदिक देवता-विज्ञान की भूमिका प्रस्तुत की गई है।

'वैदिक देवता' स्वरूप एवं परिचय

व्युत्पत्ति की दृष्टि से देव' शब्द का सम्बन्ध 'दिव्' से है। दिव् का प्रयोग दो रूपों में होता है: √दिव् और दिव। प्रथम √दिव् धातु है। यास्क ने तीन अर्थ बताये हैं: दान, दीपन, द्योतन (७/१५)। इसके अनुसार 'देव' हम उन शक्तियों को कहते हैं, जो हमें कुछ देती हैं, स्वयं दीप्त हैं। तथा अन्य पदार्थों को भी द्योतित करने की सामर्थ्य जिन में है। दिव प्रातिपदिक है तथा इसका अर्थ है: आकाश। तुलना करें: द्यु-स्थानो भवतीति वा" (७/१५)। देव वह है जो आकाश में है। इन दोनों बातों पर गौर करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषि लोग 'देव' उन तत्वों को कहते थे, जो (क) आकाश में स्थित है, (ख) स्वयं प्रकाशमान हैं, (ग) अन्य पदार्थों को प्रकाशित करते हैं तथा (घ) कुछ देते हैं:

"देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्यु-स्थानो भवतीति वा" (७/१५)

इससे एक बात की ओर संकेत सिद्ध होता है कि यास्क के मत में देवता कोई अलौकिक वस्तु नहीं है, अपितु इसी संसार की किन्तु हमारी पहुंच से बाहर की, प्राकृतिक शक्तियाँ हैं, जो हमारे दैनिक जीवन में हमें प्रकाश देती हैं, वर्षा देती हैं और इस प्रकार वह सब कुछ देती हैं, जो हमें चाहिए। इसीलिए उन्होंने साफ-साफ कहा भी है कि देवताओं से सम्बद्ध विषयों को आकस्मिक नहीं समझना चाहिए। यह तो प्रत्यक्ष दिखलाई देता है: 'स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानाम्। प्रत्यक्ष दृश्यमेतत् भवति' (७/४)

वैदिक संहिताओं में इन प्राकृतिक शक्तियों अथवा पदार्थों का वर्णन ठीक उसी प्रकार से किया हुआ मिलता है, जैसे मनुष्यों का किया जाता है: मनुष्यों का ही आकार, चेष्टाएं, स्वभाव तथा अन्य उपकरण। ऐसी स्थिति में देवता के वास्तविक और वर्णित स्वरूपों में कुछ अन्तर भी आ जाता है। ऋग्वेद-संहिता में देवता के वास्तविक और वर्णित स्वरूप के सम्बन्ध की यह स्थिति है:

(क) जब देवता का नाम उसके प्राकृतिक आधार वाला ही रहता है, तब वर्णित मानवीकरण अपनी आरम्भिक अवस्था में ही होता है: अर्थात् देवता के वास्तविक प्राकृतिक स्वरूप और वर्णित अति-रंजना के सम्बन्धों को आसानी से जाना जा सकता है। उषस् का वर्णन कितना ही 'अलंकृत मानवी नायिका' के समान किया हुआ क्यों न हो, उषस् शब्द ही उसके प्रात:कालीन प्राकृतिक स्वरूप को

भली-भांति स्पष्ट कर देता है। इसी प्रकार द्यौ; सूर्य, पृथिवी, अग्नि और सोम आदि देवताओं के के तत्तद् नामों के वर्णनों में भी मानवीकरण बहुत सूक्ष्म और इनका प्राकृतिक रूप अधिक स्पष्ट होता है।

(ख) जब देवता का नाम उसके प्राकृतिक आधार से भिन्न होता है तब वह देवता अपने प्राकृतिक आधार से हटा हुआ होता है मरुद्गणों का प्राकृतिक आधार वायु है। किन्तु वैदिक वर्णनों में इनका वर्णन वायु के नाम से नहीं होता, एवं यह वर्णन प्राकृतिक की अपेक्षा पुरुष-विद्य अधिक होता है। पर अपने आधार से इनका सम्बन्ध बिल्कुल नहीं छूट पाया है।

(ग) यदि देवता और उसके प्राकृतिक आधार तत्त्व के नाम के भेद के साथ ही आधेय देवता वैदिक काल के आदिम युग से चलता आया है, तो आधार (प्राकृतिक तत्त्व) और आधेय देवता बिल्कुल अपरिचित से हो जाते हैं। 'वरुण' अत्यन्त प्राचीन देवता है। आधुनिक विद्वानों के मत में तो ये भारोपीय (वैदिक युग से भी पूर्ववर्ती) युग के अन्त के हैं। फलत: वेद से इनके प्राकृतिक आधार का ठीक-ठीक अनुमान कर पाना सम्भव एवं सरल नहीं है। हां, वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीन काल से चली आ रही कहानियों से इनका अनुमान-मात्र लगाया जा सकता है कि 'वरुण' आकाश अर्थात् 'द्यौस्' का स्थान लेने वाले देवता है। 'अश्विनौ' भी इसी प्रकार के देवता हैं।

ऋग्वेद-संहिता के प्राचीनतम वर्णनों में वरुण ही सर्वाधिक शक्तिशाली देवता हैं। 'इन्द्र' को तब गौण स्थान ही मिल पाया था। उसके बाद ये दोनों देवता ही अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक, किन्तु आपस में समान, शक्तिशाली के रूप में मिलते हैं। आगे चलकर वरुण का महत्व क्रमश: कम होता गया और इन्द्र का महत्व बढ़ता गया। एक समय आया जबकि विश्व के राजा, महान्, असुर, 'वरुण' नदियों तथा समुद्र से ही सम्बन्धित रह गये। तथा पुराणों में तो पश्चिम दिशा के लोक-पाल-मात्र होकर रह गये। इसके विपरीत 'इन्द्र' 'विजयाकाङ्क्षी आर्यों के प्रिय नेता' तथा 'राष्ट्रीय देवता' हो गये। ऋग्वेद-संहिता में इन दोनों देवताओं के बाद स्थान आता है 'अग्नि' और 'सोम' का। वैदिक काल के अन्त में तो 'इन्द्र' भी अपना महत्त्व अक्षुण्ण नहीं रख पाये। अन्ततः सबसे ऊपर आसीन हुए 'विष्णु' जो ऋग्वेद युग के एक गौण देवता थे। आदित्य की एक अवस्था अर्थात् दुपहर के 'सूर्य' भर थे। और इतिहास, काव्य आदि में परमात्मा, सर्वनियन्ता, जगदीश्वर के रूप में प्रतिष्ठित हो गये हैं।

मन्त्र में देवता को कैसे पहचानें ? मन्त्र दो प्रकार के मिलते हैं :

(क) आदिष्ट-देवत-लिंग, अर्थात् जिन में देवता के चिह्न स्पष्ट हैं, (ख) अनादिष्ट देवत-लिंग, अर्थात् जिनमें देवता के चिह्न स्पष्ट नहीं हैं। प्रथम प्रकार के मन्त्रों का देवता जानने का तरीका यास्क ने यों बतलाया है :

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति" (७/१)

इस वाक्य की व्याख्या शौनक ने की है कि किसी पदार्थ को चाहता हुआ ऋषि जिस देव की प्रधानता से या गौण रूप से स्तुति करता हुआ कहता है कि "यह हो", वह मन्त्र उस देवता का है :

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं—यमाहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रास्तद्दैव सः । बृ० १/६ ।

कात्यायन के अनुसार ऋषि के वाक्य की जो 'प्रतिपाद्य वस्तु है, वही देवता है' : "यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते, सा देवता" (सर्वानुक्रमणी २/४-५) तथा इस पर षड्गुरु-शिष्य : "तेन वाक्येन यत्प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता"।

जिन मन्त्रों में देवता के चिह्न स्पष्ट नहीं होते, उनमें देवता ज्ञान के विषय में प्राचीन आचार्यों में मतभेद थे।

अनाविष्ट-देवता-लिंग मन्त्र दो प्रकार के हैं :

(क) जो मन्त्र किसी यज्ञ में, या उसके अंग-भूत कर्म में विनियुक्त है । इन मन्त्रों का देवता वही होता है, जो उस यज्ञ या यज्ञांग का देवता है, जिस में ये मन्त्र प्रयुक्त हैं । जैसे—अग्निष्टोम यज्ञ का देवता 'अग्नि' होता है, तो उसके विनियुक्त अनादिष्ट-देवता-लिंग मन्त्र का देवता भी अग्नि ही होगा । इस कर्म में प्रयुक्त (ऋषभोऽसि शक्वर) : (घृताचीनां सूनुः प्रियेण नाम्ना प्रिये सदसि सीद (तैत्तिरीय ब्रा० ३/७/६/१०) इस अनादिष्ट-देवता लिंग मन्त्र का वही देवता होगा जो इस 'अंग-कर्म' के अंगी कर्म का देवता होगा ।

(ख) उत्सन्न यज्ञ अर्थात जो मन्त्र यज्ञ या यज्ञांग कर्म में विनियुक्त नहीं है । जैसे—

कि ब्राह्मणास्य पितरं पृच्छसि, किन्नु मातरम् ।
श्रुत-विदस्मिन्वेघं स पितामह : ।। मै० सं० ४/८/११ ।।

कुछ मंत्र उपाकरण (श्रावणी कर्म), ब्रह्मयज्ञ, जप आदि यज्ञेतर कर्म में विनियुक्त हैं । ये भी उत्सन्न-यज्ञ होते हैं । इनके देवता के बारे में यास्क ने कई मत दिये हैं :—

(अ) मीमांसकों का मत । उत्सन्न-यज्ञ मन्त्र अनिरुक्त है अर्थात् इनके देवता का स्पष्ट निर्देश न होने से ये ज्ञातव्य नहीं है । प्रजापति भी अनिरुक्त, अर्थात् किसी कर्म विशेष अधिष्ठाता के रूप में अनुक्त है । अतः उत्सन्न-यज्ञ मन्त्रों के देवता "प्रजापति" हैं ।

(आ) नैरुक्तों का मत । इन मन्त्रों का देवता नराशंस होता है । नराशंस व्याख्या पर नैरुक्तों में दो मत हैं ।

१. कात्थक्य, 'नराशंस' का अर्थ यज्ञ मानते हैं । यज्ञ के अर्थ पर भी दो मत हैं : (क) यज्ञो वै विष्णु : (श० ब्रा० १/१/२/१३) विष्णु आदित्य की एक अवस्था (मध्याह्न का सूर्य) है । अतः इस मत के अनुसार उत्सन्न-यज्ञ मन्त्रों के देवता 'आदित्य' हैं । (ख) यज्ञ का अर्थ ऋतु ही है । यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है : "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ।" यज्ञाय हि तस्मादाह—'श्रेष्ठतमाय कर्मण" (वा० सं० १/१) इति (श० ब्रा० १/७/१/५ तैतिरीय ब्राह्मण ३/२/१/४. "श्रेष्ठतमाय कर्मण") इत्याह यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म । (तस्मादेवमाह) जो वस्तु किसी के लिए निर्धारित नहीं होती, उसका स्वामी श्रेष्ठ ही होता है : "अपरिग्रह च प्रधानगामि" । अतः किसी देवता के लिए अनिर्धारित मन्त्रों का देवता भी यज्ञ ही होता है ।

२. शाकपूणि निरुक्त (८/६) में उद्धृत इनके मत में 'नराशंस' पार्थिव अग्नि ही है । अतः उत्सन्न-यज्ञ मन्त्रों का देवता 'पार्थिव अग्नि' ही है ।

(इ) काम-देवता । कुछ लोग मानते हैं कि इन मन्त्रों का इच्छानुसार देवता समझ लेना चाहिए । दुर्गाचार्य ने काम-देवता के दो अर्थ किए हैं :

(१) ऐसे मन्त्रों में किसी खास देवता के लिए प्रयुक्त शब्द तो प्रयुक्त होते नहीं हैं; केवल ऐसे विशेषण प्रयुक्त होते हैं, जो किसी भी देवता पर लागू हो जाते हैं । अतः उन मन्त्रों का देवता इच्छा से चुन लेना चाहिए ।

(२) जिस काम अर्थात इच्छा की पूर्ति की मन्त्र में कही गई है, उस इच्छा का जो भी अधिष्ठाता हो, उसे ही उस मन्त्र का देवता समझ लेना चाहिए ।

(ई) ऐसा मन्त्र "प्रायो-दैवत" होता है। इसकी भी दो व्याख्याएँ हैं :

१. प्राय: का अर्थ होता है : अधिकार अर्थात प्रकरण। 'उत्सन्न-यज्ञ मन्त्र' जिस देवता के अधिकार अर्थात प्रकरण में आया हो, उसे ही उस मन्त्र का भी देवता समझ लेना चाहिए।

(२) प्राय: का अर्थ होता है : बहुल। अत: ऐसे मन्त्र अनेक देवताओं वाले होते हैं। किसी के लिए निर्दिष्ट वस्तु-विशेष होती है। जो किसी के लिए निर्दिष्ट नहीं है, वह वस्तु साधारण अर्थात सबकी होती है। किसी भी देवता के लिए अनिर्दिष्ट मन्त्र भी सबके होते हैं अर्थात् ऐसे मन्त्रों के देवत: "विश्वे देवा:" = (सब देवता) होते हैं।

आचार्य यास्क ने ये सब अन्य आचार्यों के मत दिये हैं। उनका मत है :

(उ) याज्ञ-दैवतो मन्त्र:। दुर्गाचार्य ने इसकी भी दो व्याख्याएँ की हैं : उस मन्त्र का देवता या तो (१) यज्ञ होता है। सम्भवत: दुर्ग के अनुसार यास्क कात्थक्य के मत (आ (१)) को मानते है। अत: ऐसे मन्त्र का देवता 'आदित्य' है। या (२) सब देवताओं के प्रधान होने से अग्नि ही देवता हैं। दुर्ग ने इस व्याख्या के माध्यम से यास्क को शाकपूणि (आ (२)) का अनुयायी माना है। इस पक्ष में उत्सन्न-यज्ञ मंत्रों का देवता 'अग्नि' होता है।

'अदिव्य पदार्थ देवता कैसे हैं' ? देवता के यास्क द्वारा बतलाये लक्षण के अनुसार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, उषस् आदि पदार्थ देवता है, यह तो समझ में आ जाता है, क्योंकि ये सब स्तोता के काम को पूरा करने में समर्थ हैं। किन्तु जिन मन्त्रों में ऊखल, मूसल, घोड़ा, ओषधि आदि सामर्थ्य हीन पदार्थों से भी कुछ कामना करते हुए उनकी 'देवता' के रूप में स्तुति की गई है, उनमें देवता की पहचान कैसे हो ? उन पदार्थों को देवता कैसे माना जाये ?

देवता की कल्पना मनुष्य अपने को आधार मानकर अर्थात् उन्हें अपने जैसे समझकर करता है। देवताओं के पुरुष-विध शरीर के न होते हुए भी उनका वर्णन 'पुरुष-विध' शरीर से युक्त के रूप में किया गया है। इसी प्रकार मनुष्यों के अंगों-उपांगों तथा उपकरणों की नकल पर ही देवताओं में भी इन सब की कल्पना की गई है। अत: देवता के अंगभूत होने से वे भी देवता के रूप में यत्र-तत्र वर्णित हैं। यह उत्तर भी तर्क-संगत नहीं है। तब तो मनुष्य तथा उनके उपकरणों के समान, 'देवता और उनके ये उपकरण' भी अनित्य मानने होंगे।

यास्क ने इस प्रश्न का उत्तर एकात्मवाद के आधार पर दिया है। एक ही देवता अपने ऐश्वर्य के कारण अनेक कर्तव्यों और उपकरणों के रूप में वर्णित है। कहीं यह स्तुति देवताओं की प्रकृत्य भिन्न रूप में, तो कहीं प्रकृत्या अभिन्न के रूप में मान कर की गई है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:॥ (ऋ १/१६४/४६)

इस मंत्र में एक ही देवता का वर्णन इन्द्र, अग्नि आदि प्रकृत्या भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले देवताओं के रूप में किया गया है। निम्न मंत्र में एक मघवा प्रकृत्या अभिन्न होते हुए ही भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करते बतलाये हैं : यथा ऋग्वेद के ३/५३/८ मंत्र में। अत: अग्नि, इन्द्र, आदित्य और इनके भी भेदोपभेद और इनके उपकरण आदि जो भिन्न-भिन्न रूप से वर्णित हैं, वस्तुत: वह एक आत्मा का ही उन सब रूपों में वर्णन है। ऋ० संहिता (१०/११४/५) में कहा है।

'सुपर्णं विप्रा: कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।'

अश्व आदि पदार्थ भी एक आत्मा के अंग-रूप इन देवताओं के अंग और आत्म-देवता के प्रत्यंग होने के कारण वर्णित हैं। अत: आत्मा के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली होने के कारण ये अश्वादि अदिव्य पदार्थ भी देवता हैं।

पाठ—१०

पृथिवीस्थानी देवता—अग्नि, जातवेदा और वैश्वानर

(सातवें अध्याय में वर्णित देवता ।)

हम यह जानते हैं कि ऋग्वेद में देवताओं का वर्गीकरण उनके स्थान के आधार पर हो चुका था। ऋग्वेद (१०/१५८/१) के निम्न मन्त्र से प्रतीत होता है कि द्यु-स्थान के प्रधान देवता का प्रधान नाम सूर्य था, अन्तरिक्ष के देवता का 'वात' अर्थात् 'वायु' और पृथिवी स्थान के देवता का प्रधान नाम अग्नि था। "सूर्यो नो दिवस्पात वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः"।

परवर्ती विद्वानों ने भी देवताओं का वर्गीकरण इसी प्रकार माना है, नाम, और क्रम में भेद हो सकता है। यास्क ने पृथिवी को प्राथमिकता दी है तथा अन्तरिक्ष के प्रधान देवताओं के नामों का विकल्प 'वायु' या 'इन्द्र' दिया है। 'तिस्र एव देवता। अग्निः पृथिवी-स्थानो, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्ष—स्थानः सूर्यो द्यु-स्थानः (७/५)। आचार्य शौनक ने यास्क का ही अनुकरण किया है।

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवताः ॥बृ १/६९

निघण्टु के दैवत काण्ड के प्रथम खण्ड की व्याख्या ही यास्क ने निरुक्त के सातवें अध्याय में की है। इसमे अग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर - ये तीन देवता परिगणित हैं। अतः इस अध्याय में भी देवता ज्ञान के लिए अपेक्षित बातें बताने के बाद इन तीनों देवताओं की व्याख्या की गई है।

यास्क ने देवताओं के नामों की व्याख्या पद्धति यह रखी है कि प्रथम वे उस 'देवता' के जितने विशिष्ट कार्य हैं उनको प्रकट करने वाले निर्वचन करते हैं। फिर उस देवता के गौण प्राधान्य पर कोई शंका हो, तो उसका समाधान ऊहापोह पूर्वक करते हैं। देवता के स्वरूप को स्पष्ट करने में, शंका समाधान के—वे प्रत्येक पक्ष के मण्डन में मन्त्र उद्धृत करते हैं। फिर तर्कों के बल से या किसी आचार्य की मान्यता बतलाकर वे अपना सिद्धांत देते हैं। देव-विद्या में उनका एवं सभी नैरुक्तों का प्रबल विरोध, लगता है कर्मकाण्डियों से है।

अग्नि :

'अग्नि' भौतिक तत्त्व है। धर्म के साथ अग्नि का संबंध अत्यन्त प्राचीन काल में ही हो गया था तथा क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से समस्त भारोपीय जातियों में इसका विस्तार प्राचीन काल से ही मिलता है। भारत-ईरानी युग में तो यज्ञिय-कर्म-काण्ड बहुत विकसित हो चुका था। अतः आर्यों में धर्म-साधन यज्ञ रूप में था तथा उसका अनन्य साधन—हमें देवता से मिलाने की एकमात्र कड़ी अग्नि ही था। इसीलिये अग्नि को "दूत" कहा गया है। ऐसे महत्व-पूर्ण भौतिक तत्त्व को भी देवता मानना बहुत स्वाभाविक है।, यही कारण है कि 'अग्नि' के वैदिक वर्णनों में हमें एक बात बहुत स्पष्ट नजर आती है कि इन वर्णनों में तात्त्विक रूप से 'अग्नि' सर्वत्र 'भौतिक अग्नि' ही है. समस्त देव-विद्यावर्णन उस पर पारदर्शक चमकीले आवरण के समान है, जो उसके तात्त्विक रूप को तिरोहित नहीं करता, अपितु उसे और भव्य रूप में, प्रस्तुत करता है।

अग्नि के पांच निर्वचन यास्क ने दिए हैं :—

(१) अग्रणीर्भवति: —'अग्रणी' : शब्द का ही एक रूप 'अग्नि' है, जो आगे ले जाता है—या अन्धकार में मार्ग दिखाता है। वह 'अग्रणी' यानी आगे ले जाने वाला है। यही अर्थ "पुरोहित" शब्द का है।

(२) "अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते—यज्ञ में सर्वप्रथम लाया या जलाया जाता है—अतः उसकी 'अग्नि' संज्ञा हुई। शौनक ने और स्पष्ट किया है :—

जातो यदग्रे भूतानामग्रणीरध्वरे च यत्। बृहद्देवता :

जो तत्वों में सर्वप्रथम या यज्ञ में सबसे आगे रहता है।

(३) 'अंग नयति सन्नममान'—झुकता हुआ अन्य वस्तु को अपना अंग (अंश) बना लेता है।

(४) 'अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीवि:'—आचार्य स्थौलाष्ठीवि के मत में यह नाम इसलिए है कि वह प्रत्येक वस्तु को गीली से सूखा बना देता है।

(५) त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते :—आचार्य शाकपूणि के मत में "अग्नि" पद तीन धातुओं से बना है। √इ (या √इण्) √अञ्ज् और √दह् धातु से—जिनका क्रमश: अर्थ है गति, प्रकाश और जलाना एवं धातु √नी (ले जाने) का समावेश किया है, क्योंकि यह 'हवि:' या 'प्राणियों' को देवों तक ले जाता है। तदनुसार "एति" से अकार, अनक्ति से गकार, और दहति या नयति से "नी" ग्रहण किया है।

वेदमन्त्रों में इस तथ्य का बहुधा उल्लेख है कि प्राचीन और नवीन ऋषियों ने अग्नि की स्तुति की थी। पृथिवी स्थानी "अग्नि:" ही देवता रूप में है।

'अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते:'।

यास्क ने लिखा है कि यह नहीं समझना चाहिए की यह "पार्थिव" अग्नि ही एकमात्र अग्नि है। ऊपर के दोनों ज्योति: पुंज (मध्यस्थानी और द्यु-स्थानी) भी अग्नि नाम से अभिहित हैं। यथा।—

"घृतस्य धारा" इस मन्त्र में मध्यस्थानी एवं
"समुद्रादूर्मि:" इस मन्त्र में द्यु-स्थानी है।

मन्त्रों में अग्नि के तीन रूपों का वर्णन मिलता है परन्तु 'अग्नि' नाम से जो सूक्तों में स्तवनीय है तथा जिसे आहुति दी जाती है—वह यही 'पार्थिव अग्नि' होता है—यह यास्क की मान्यता है।

जातवेदस् : —

जात-वेदस् उसका केवल गुणाभिधान है। अर्थात् 'भौतिक अग्नि' में 'देवत्व' का जो आरोप हुआ, उसमें देवता के रूप में जो विशेषता बतलाई गई है. यह उसे व्यक्त करने वाला प्रधान नाम है,। आर्यों ने देवता में जिस गुण की आवश्यकता प्रधान रूप से समझी यह उसे ही 'अग्नि' के संदर्भ में बताता है। देवता और मनुष्यों में एक बड़ा अन्तर यह होता है कि देवता "भूमा" है जबकि मनुष्य अल्प। उसमें यह गुण व्यापकता की दृष्टि से भी है, और ज्ञान की दृष्टि से भी। पृथिवी का प्रधान देवता 'अग्नि' है। वह समूचे पार्थिव जगत् में व्याप्त है : हर एक उत्पत्ति-विकासशील पदार्थ में 'अग्नि' विद्यमान है। अतः यह जात-वेदस् भी है। सब उत्पत्ति-शील पदार्थ भी इसे जानते हैं, अतः यह जात-वेदस् है।

सब विकार इस आत्मा से ही उद्भूत हैं : यह सब की प्रकृति है। अतः ऋषि लोग सूर्य, चन्द्र, अर्क, ओषधि की स्तुति कर के वस्तुतः इस आत्मा अर्थात् विकृतियों की प्रकृति की स्तुति करते हैं। सारे नाम परमात्मा के ही विभिन्न कार्य-कलापों के पृथक-पृथक अभिधान हैं। जब आत्मा देवता है, तब उसके अश्व आदि नाम भी देवता ही हैं।

"मनुष्यों और उनके उपकरणों के समान देवता और उनके ये उपकरण भी अनित्य होंगे" यह कहना भी उचित नहीं है। क्योंकि देवताओं और मनुष्यों में ऐश्वर्यगत अन्तर बहुत है। मनुष्यों में कार्य-कारण सम्बन्ध निश्चित होता है किन्तु देवताओं में यह निश्चित नहीं है। वे एक-दूसरे का कार्य या कारण, दोनों बन सकते हैं। अग्नि के लिए कहा गया है कि वह देवताओं का पुत्र होते हुए (भी) उनका पिता है। रात को जो अग्नि है वही प्रातः होने पर सूर्य हो जाता है। अग्नि ही वरुण एवं मित्र हो जाता है। वरुण सायं को अग्नि बन जाता है, और सवेरे उगता हुआ मित्र (सूर्य) हो जाता है : यथा ऋग्वेद १/६६/१, १०/८८/६, ५/३/१, अ.सं. १३/३/१३ इतना ही नहीं, देवताओं का तो एक दूसरे से जन्म भी बतलाया जाता है :

अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षाददितिः परि ११ (ऋ० १०/७२/४११)
अदितिर्ह्यजनिष्ट, या दक्ष, दुहिता तव । ५ ॥

वास्तव में तो देवताओं के अश्व तथा आयुध आदि उपकरण मनुष्यों के उपकरणों के समान कोई बहिरंग वस्तु नहीं है, अपितु उनके तेज आदि अन्तरंग गुण ही उपकरणों के रूप में वर्णित है :

तेजस्त्वेवायुधं प्राहुर्वाहनं चैव यस्य यत् ॥ बृहद्देवता १/७४ ॥

मनुष्यों से देवताओं की विलक्षणता एक और रूप में भी है। मनुष्यों का जन्म समान जाति वाले पदार्थों में ही होता है। देवताओं का जन्म तो उनके कर्म के अनुसार होता है। षड्गुरुशिष्य (वेदार्थ-दीपिका २/११) के अनुसार एक ही माध्यमिक देव जब वृत्र का हनन कर के अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करता है, तब इन्द्र कहलाता है। जब वर्षा के लिए मेघों को इधर उधर प्रेषित करता है, तब वायु कहलाता है, बादल की गरज को करने पर रुद्र और अन्धड़ और तूफान लाने पर मरुत् कहलाता है।

लोक पर अनुग्रह करने की दृष्टि से ये देवता परमात्मा से ही उसकी इच्छा के अनुसार उत्पन्न हो जाते हैं, इस रूप में भी देवता मनुष्यों से भिन्न हैं।

अतः निष्कर्ष यही है कि आत्मा ही इन देवताओं का रथ है, वही इनका अश्व आदि वाहन है। देवता के बारे में जो कुछ बताया गया है, वह सब आत्मा ही है।

यहां आत्मा से देवता का अपना आपा भी अभिप्रेत हो सकता है। देवता ही रथ आदि उपकरणों के रूप में अपने आपको दर्शाते हैं यथा बृहद्दे०१/७३-७४, बृ० १/८ सर्वानुक्रमणी २/८ १२-१३।

देवताओं का वर्गीकरण। ऋग्वेद संहिता में द्यु, पृथिवी और जल में निवास करने वाले ११-११ देवताओं की चर्चा आई है।

ये देवा दिव्येकादश स्थ, पृथिव्या —

मध्येकादश स्थ, अप्सु —क्षितो महिनैकादश स्थ। १/१३९/११/१ अथर्ववेद संहिता में स्थानों के आधार पर देवताओं के तीन वर्ग स्पष्ट रूप से बताये गये हैं :

ये देवा दिविष्ठ, ये पृथिव्यां, येअन्तरिक्षे ॥ १/३०/३)। ये देवा दिविषदो, अन्तरिक्ष-सदश्च ये चेमे भूम्यामधि। १०/९/१२।

आचार्य यास्क ने भी देवताओं का वर्गीकरण इस आधार पर किया है। उन्होंने निरुक्त (७/५) में निघण्टु के दैवत काण्ड में आगत देवता-पदों को पृथिवी-स्थानीय, मध्य-स्थानीय और द्यु-स्थानीय—इन तीन वर्गों में बांटा है।

ऋग्वेद संहिता के और इनके वर्गीकरण में एक अन्तर है : ऋग्वेद में द्यु-लोक को प्रथम स्थान प्राप्त है, जबकि निरुक्त में पृथिवी को। वस्तुत: प्राचीन काल में दो दृष्टियाँ थी : एक के अनुसार द्यु-लोक तथा उसके देवता का महत्व ही सर्वाधिक माना जाता था। दूसरी के अनुसार पृथ्वी लोक तथा उसके देवता को ही अधिक महत्व दिया जाता था। हमारे विचार में पहली दृष्टि प्राचीन है : ऋग्वेद के प्राचीन भाग में सर्वाधिक महत्व-शाली देवता वरुण द्यौस् के ही प्रतिनिधि हैं, यह विचार-धारा लुप्त नहीं हुई थी। कालान्तर में सर्वातिशायी बनने वाले 'विष्णु' भी द्युलोक के ही देवता हैं। यही कारण है कि याज्ञिक कर्मकाण्ड की परम्परा वाले होते हुए भी आचार्य शौनक द्यु-स्थानीय 'सूर्य' को ही जगत का स्रष्टा तथा संहर्ता मानते हैं, 'अग्नि' को नहीं : यथा—

बृहद्दे १/६१, ६२, ६३

ऊपर के विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन समय से ही देवताओं का वर्गीकरण लोकों के आधार पर होता आया है। यास्क ने भी वही किया है, किन्तु उन्होंने परम्परा से हटकर 'द्यु' की अपेक्षा 'पृथिवी' को अधिक महत्व दिया। पर उनका मत समय के प्रवाह में चिर-स्थायी नही रह सका।

देवताओं की संख्या : — देवताओं की संख्या ऋग्वेद-संहिता में ही भिन्न-भिन्न बताई गई है :

(क) देवता प्रत्येक स्थान में ११ के हिसाब से ३३ हैं :

ये देवासो दिव्येकादश स्थ, पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सु-क्षितो महिनैकादश स्थ-ते देवसो यज्ञयिकं जुषध्वम्॥ १/१३९/११।

ऋग्वेद संहिता के इस संख्या का ब्योरा नहीं बतलाया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (१/१०, २/१८) के अनुसार ३३ देवता ये हैं ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ प्रजापति, १ वषट्कार। यह ब्योरा ऋग्वेद संहिता से मेल खाता नजर नहीं आता। ऋग्वेद में प्रत्येक स्थान में ११ देवता बतलायें हैं, यह हम ऊपर देख चुके हैं। इस ब्योरे में दिये ८ वसु ऋग्वेद संहिता (७/३५/६) के अनुसार इन्द्र के साथी हैं, अत: वे अन्तरिक्ष स्थानी हैं। ऐसी स्थिति में इन ३३ में से १९ देवता अन्तरिक्ष-स्थानी हुए, जबकि ऋग्वेद के अनुसार ११ ही होनी चाहिए। द्यु-स्थानीय आदित्य भी बारह हैं, ग्यारह नहीं। पृथिवी स्थानीय जबकि इनमें एक भी नहीं है, ११ तो दूर रहे।

(ख) त्रीणि शता, त्री सहस्राण्यग्नि, त्रिंशच्च देवा-नवचासपर्यन्। जैः ३/९/९

इस मंत्र के देवताओं की संख्या ३३३९ बतायी है, जबकि अग्नि इनमें नहीं है। अत: इस मंत्र के अनुसार देवताओं की संख्या ३३४० होती है। प्रथम मत में भी अग्नि ३३ से पृथक है। अत: ऋग्वेद सहिता के अनुसार देवताओं की संख्या या तो ३४ है, या ३३४० है।

संहिताओं से परिवर्ती साहित्य से विदित होता है कि देवताओं की इस संख्या को धीरे धीरे कम करने के प्रयास किए गए थे, किन्तु लोक-रुचि के विरोध के कारण वे सफल नहीं हो पाये। अन्त में तो ३३४० को छोड़ कर देवताओं की संख्या तैंतीस कोटि (करोड़) हो गई।

याज्ञवल्क्य ने (श०ब्रा० ११/६/३/४ में) ३३३३ देवता बताये हैं तथा फिर उनका समाहार क्रमश ३३,३,२,१ और १ में किया है। यास्क भी मूलतः एक ही देवता मानते हैं। वही देवता अपने ऐश्वर्य के कारण स्थान-भेद से तीन रूप में तथा प्रत्येक स्थान में भी कार्य-भेद से अनेक रूपों में स्तुत है। इसमें तात्विक भेद नहीं है

औपाधिक भेद हैं : "माहा-भाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति (७/४)। तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। तासां माहा-भाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।" अपि वा कर्म-पृथक्त्वाद। यथा-होताऽध्वर्यु र, ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः (७/५)।

यास्क के त्रि-देवता-वाद का आधार भी ऋग्वेद संहिता ही है :

सूर्यो बो दिवस्पातु, वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ऋ० १०/१८१/१

मीमांसक लोग मानते हैं कि वेदों में जितने भी देवता वर्णित हैं, वे सभी अलग-अलग देवता हैं। इसका कारण यह है कि यज्ञ में स्तुति और देवता के नाम से नियम होता है : 'अग्नि' के नाम से जो स्तुति है वह 'जात-वेदस्' आदि अन्य किसी के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकती। यदि कदाचित् यजमान से इस विषय में प्रमाद हो जाये तो उसके लिए यजमान को प्रायश्चित्त करना पड़ता है। स्तुति के भेद से स्तुत्य देवता भिन्न है, यह जैसे सिद्ध होता है, वैसे अलग-अलग नाम रखने से भी उन नामों के अभिधेयों में भिन्नता होनी ही चाहिए। बहुत से कर्ता जब बहुत से कार्यों को आपस में बांट कर सकते हैं, तब उनके भी तो अपने अपने कर्म करने के आधार पर अलग-अलग नाम पड़ जाते हैं। वे सब जैसे अलग-अलग हैं, वैसे ही अलग-अलग कार्यों से स्तुत देवता वस्तुतः अलग-अलग हैं। उनमें पार्थक्य औपाधिक नहीं है। एकात्मता की बात भी ठीक नहीं है। स्थान की एकता और कर्म की एकता के आधार पर जो एकता बतायी जाती है, वह गौण ही है। क्या पृथिवी वासी होने से गाय, घोड़ा, गधा और मनुष्य वास्तव में एक हो जायेंगे? यदि नहीं, तो अग्नि, जातवेदस् आदि एक कैसे हो सकते हैं? इसी प्रकार फसल उगाने में मिट्टी, हवा, पानी, धूप तथा बीज की उपयोगिता है—ये सब बीज की सहायता करते हैं, तो क्या ये एक ही हैं, कि अलग-अलग? इसी प्रकार पृथिवी पर भी अग्नि का पृथक कार्य है और जातवेदस् का पृथक। ये भी तत्वतः एक नहीं हो सकते। जनता कहने से जैसे देश में रहने वाले मनुष्यों का ही बोध होता है, और राष्ट्र कहने से मनुष्य, पशु, पक्षी, ग्राम, नगर, वन, पर्वत सबका बोध होता है किन्तु ये सब वस्तुतः एक नहीं हो जाते। वैसे ही पार्थिव देवता कहने से अग्नि, जातवेदस्, अश्व आदि सबका बोध अवश्य होगा, किन्तु ये सब औत्पत्तिक रूप से एक – अभिन्न व्यक्तित्व वाले नहीं होंगे।

निष्कर्ष। इस विवरण से हमारे सामने तीन मत आए हैं। (क) एक-देव-वाद, (ख) त्रि-देव-वाद और (ग) नाना-देव-वाद। ये तीनों ही मत ऋग्वेद-संहिता में भी ओत-प्रोत हैं। प्रथम दो मत बौद्धिक चिन्तन के उत्कृष्ट प्रमाण हैं। तथा अन्तिम मत जन-साधारण की धारणा का प्रतिनिधित्व करता है।

देवताओं का आकार :—

देवताओं का वर्णन आकारवान् पदार्थों के रूप में किया हुआ मिलता है। यास्क के मत में देवता सूर्य, अग्नि आदि प्राकृतिक पदार्थ ही हैं। ऐसी स्थिति में वे पुरुषादि के आकार से युक्त कैसे हो सकते हैं? अतः यह विचार करना अत्यावश्यक है कि देवताओं का आकार क्या वही है जो मंत्रों में वर्णित है, या उससे भिन्न और किसी प्रकार का है? यास्क ने (७/६-७) में इस विषय पर चार पक्ष ऊहापोह-पूर्वक प्रस्तुत किये हैं :

(क) पुरुष-विधाः स्युरित्येकम्। अर्थात् आकार की दृष्टि से देवता मनुष्यों जैसे ही हैं। क्योंकि :

(आ) 'चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति'। उनकी स्तुति ठीक उन ही गुण-धर्मों से युक्त के रूप में की गई है, जैसी चेतना मनुष्यों की होती है।

(आ) तथाऽभिधानानि। देवताओं के नाम भी ठीक उसी तरह के हैं, जैसे कि मनुष्यों के नाम होते हैं इनकी बातचीत आदि भी यम-यमी, उर्वशी-पुरुरवस् आदि सूक्तों में उसी तरह मिलती है जैसे मनुष्यों में आपस में होती है।

(इ) अथापि पौरुष—विधिकैर्द्रव्य,—संयोगैः। इनके भी वे ही उपकरण बताये गये हैं जो मनुष्यों के होते हैं :

'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि' (ऋ० २/१८/४)।
'अपा : सोममस्तामिन्द्र, प्रयाहि, कल्याणीर्जाया, सुरणं ग्रहेते' (ऋ ३/५३/६)

(ई) अथापि पौरुष—विधिकैरंगै संस्तूयन्ते। इनकी स्तुतियों में मनुष्यों जैसे अंगों का ही वर्णन मिलता है :

ऋष्वा त इन्द्र, स्थाविरस्य बाहू (ऋ ६/४७/८)।

(उ) अथापि पौरुष—विधिकैः कर्मभिः। मनुष्यों जैसे खाना, पीना, सुनना आदि कर्म ही देवताओं के भीवर्णित हैं :

तुभ्यं सुतो मघवन्, तुभ्यं पक्शोऽद्धीन्द्र, पिब च प्रस्थितस्य ।। (ऋ० १०/११६/७)

(ख) 'अ...पुरुष —विधा : स्युरित्यपरम्' (७/७)। दूसरा पक्ष यह है कि देवताओं का आकार पुरुषों जैसा नहीं है। इस पक्ष के तर्क ये हैं,

(अ) अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधम् तद्,यथाग्निर् वायुर, आदित्य :, पृथिवी चन्द्रमा इति।

प्रत्यक्ष प्रकरण से सिद्ध है कि देवताओं का आकार मनुष्यों जैसा नहीं है। उदाहरण के रूप में अग्नि, वायु, सूर्य आदि को देख लें।

इस युक्ति के बाद यास्क ने प्रथम मत की युक्तियों का खण्डन प्रस्तुत किया है। निघण्टु के दैवत काण्ड में अक्षा (५/३/४) से लेकर औषधयः (२२) तक के सभी नाम अचेतन पदार्थों में हैं। पर उनका वर्णन चेतन के समान—चेतन पुरुष के जैसे नामों, हाथ-पैरों आदि अंगों, उपकरणों, क्रियाओं से युक्त, के रूप में किया जाने से क्या वे मनुष्य —विध हो जाते हैं जब वे मनुष्य-विध नहीं हो जाते, तब सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ ही इस आधार पर—चेतन के समान वर्णन के आधार पर मनुष्य विध कैसे हो जायेंगे।

(३) "अपि वा उभयविधाःस्युः" देवता पुरुषविध और 'अपुरुषविध' दोनों प्रकार के हो सकते हैं। अग्नि आदि देवता देखने में अपुरुषविध होते हुए भी अलंकारिक रूप से 'पुरुषविध' ही वर्णित हैं। इसी प्रकार "कर्मात्मान एते स्युः" ऐसा यास्क ने कहा है। अर्थात कर्म की सिद्धि के लिए आत्मा उस रूप का हो जाता है। प्रतिपाद्य कर्म जिन अंगों और द्रव्यों से सम्पन्न हो सके...वे ही अंग और द्रव्य देवता में कल्पित कर लिये जाते हैं। आचार्य दुर्ग एवं यास्क दोनों ही मानते हैं कि अधिष्ठान 'अपुरुषविध' होता है तथा उसका अधिष्ठातृ देवता पुरुषविध होता है। पृथिवी देखने में अपुरुषविध है परन्तु स्त्री रूप में भी स्तुति होती है।

आधुनिक विद्वानों ने वैदिक-साहित्य का गम्भीर अनुशीलन करके जो निष्कर्ष निकाले हैं उनके अनुसार देवताओं के मानवीकरण के विविध रूप प्राप्त होते हैं। कभी प्राकृतिक पदार्थों के नाम से देवताओं को पुकारा जाता है, तो कभी उच्चतर मानवीकरण की रूपरेखा मिलती है। सूर्य की किरणें उसकी भुजाएँ हैं। अग्नि की ज्वालाएँ उसकी जिह्वा हैं। वृत्र को मारने में इन्द्र की शक्ति देखने लायक है। यज्ञ करने वालों को देवता सहायता प्रदान करते हैं किन्तु कृपणों को दण्ड भी देते हैं। नैतिकता उच्च कोटि की है। इन देवताओं की शक्ति और महिमा तो प्रसिद्ध है। हम मैक्डानल के कथन से सहमत हैं कि "वेद के सच्चे देवता उत्कृष्ट मनुष्य ही हैं जिन्हें मनुष्य की प्रवृत्तियां और वासनायें प्रेरित करती हैं। मनुष्य के समान होते हुए भी ये अमर हैं। इन्हें अतिमानव कहना (सुपर मैन) असंगत नहीं है।

जातवेदस् :—व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द 'जात और वेदस्' शब्दों का समस्त रूप है। 'जात' शब्द √जन्+त (क्त) से और 'वेदस्' विद् से निष्पन्न है। जात का तो कोई विशेष अर्थान्तर नहीं है, पर विकरण भेद से अर्थ-भेद के कारण 'विद्' धातु के कई अर्थ होते हैं। इस शब्द में कौन-सी एक या अनेक धातुओं का अर्थ अभीष्ट रहा होगा, इस पर ऋग्वेद संहिता कुछ प्रकाश डालती है :

(क) जन्मञ्जन्मन् निहितो जात-वेदाः । ३/१/२० ॥

(ख) जात आपृणो भुवनानि रोदसी ॥ ३/३/१० ॥

(ग) विश्वा वेद जनिका जात-वेदाः ॥ ६/१५/१३ ॥

(घ) जातो यदग्ने भूवना व्यख्यः ॥ ७/१३/३ ॥

चार निरुक्तियां यास्क ने दी हैं :—

(१) जातानि वेद । (२) जातानि वेनं विदुः । (३) जाते जाते विद्यते । (४) जातवित्तो वा जात-प्रज्ञानः ।

यहां प्रथम मन्त्र में √विद् सत्ता अर्थ में अभिप्रेत है : अग्नि प्रत्येक जन्मधारी में स्थित—सत्तावान् है। दूसरे मंत्र में लाभार्थक √विद् अभीष्ट है : उत्पन्न होते ही तुमने भुवनों (और) धरती-आकाश को भर दिया—उन्हें प्राप्त कर लिया। तीसरे मन्त्र में ज्ञानार्थक √विद् ही है। अथर्व-वेद-संहिता (१/८/४) में भी यही निर्वचन दिया गया है : 'यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदः'। चौथे मन्त्र से भी यही अर्थ लक्षित होता है।

वैश्वानर : –'वैश्वानर' भी 'अग्नि' का ही गुणाभिधान है। यह नाम पार्थिव पदार्थों में अग्नि की व्यापकता बताता है। यह दो शब्दों—'विश्व'=सब, 'नर'...पुरुष के मेल से बने 'विश्वानर' शब्द का तद्धित रूप है। यों इसे विश्वान्+अर विश्वानर का भी तद्धित रूप कहा जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से यास्क हमें शाकपूणि आचार्य से सहमत प्रतीत होते हैं। यह साधारण अग्नि के लिए प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि 'औत्पत्तिक' 'अग्नि' के लिए प्रयुक्त होता है। अर्थात् सूर्य और बिजली से उत्पन्न जो अग्नि है उसे वैश्वानर कहते हैं। आतिशी शीशे (सूर्यकान्त मणि) के द्वारा प्रकट होने वाली आग 'वैश्वानर' है और बिजली से जो आग पैदा हो जाती है, वह वैश्वानर है।

यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि मूलतः एक शक्ति ही विभिन्न प्रकार के कर्म विभिन्न स्थानों में करने के कारण अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि कहलाती है। 'अग्नि' पार्थिव होने के कारण ही सर्व-प्रथम हो, ऐसी बात नहीं है। 'इन्द्र' और 'सूर्य' भी वस्तुतः अग्नि ही हैं। पार्थिव आग तो इनका एक साधारण रूप है। यही कारण है कि इन्द्र सूर्य भी न केवल औष्ण्य तथा प्रकाश-धर्मा हैं, अपितु इनसे 'पार्थिव' आग भी पैदा हो जाती है। अतः वस्तुतः अग्नि ही एक तत्त्व है, जो पृथिवी पर 'अग्नि', 'जात-वेदस्', 'वैश्वानर' आदि नामों से तथा अन्तरिक्ष में इन्द्र, वायु, रुद्र आदि नामों से और द्यु में सूर्य, आदित्य, मित्र आदि नामों से जाना जाता है। यही कारण है कि अग्नि और उसके अन्य जात-वेदस् आदि पर्याय अपने प्रधान अर्थों में तो प्रयुक्त हैं ही, कई बार मध्यम तथा उत्तम लोकों की ज्योतियों के लिए भी प्रयुक्त मिल जाते हैं। उनके स्वरूप को स्पष्ट समझाने के लिए यास्क का इस विषय पर यह मत है कि तत्त्वतः एक होते हुए भी इन देवताओं में 'स्थान-कृत' भेद अवश्य है। इस भेद के कारण ही पृथिवी के देवता का नाम 'अग्नि' प्रसिद्ध हुआ है। अतः 'अग्नि' नाम प्रधान रूप से तो पार्थिव ज्योति के लिए ही प्रयुक्त है; गौण रूप से वह अन्य लोकों की 'ज्योतियों' के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। 'अग्नि' आदि नाम वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। अतः गौण प्रधान का निश्चय भी वैदिक-साहित्य और परम्पराओं के ही आधार पर होगा। उस दृष्टि से हमारा यह निष्कर्ष है कि देवता जिस नाम से किसी समूचे सूक्त में वर्णित है, या जिस नाम से यज्ञ में हवि प्रदान की जाती है, वह उस लोक का प्रधान देवता नाम है। अन्य आने वाले नाम प्रयोग गौण हैं। 'यस्तु सूक्तं

भजते यस्मै, हविर्निरूप्यते, अयमेव सोऽग्निः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' (७/१८, २० और २८ भी देखें)

आचार्य शौनक ने भी यही कहा है :

निरूप्यते हविर्यस्यै, सूक्तं च भजते च या।
सैव तत्र प्रधानं स्यात्, न निपातेन या स्तुता ॥ बृ० १/७८ ॥

देवताओं के वर्गीकरण में केवल स्थान ही आधार नहीं है। तत्तत् स्थान के साथ प्रत्येक देवता के कुछ प्रातिस्विक (बिल्कुल अपने कार्य) भी निश्चित हैं :

'अग्नि' अर्थात पार्थिव देवता के दो प्रमुख कार्य हैं : (क) हवि को देवताओं तक पहुँचाना तथा (ख) देवताओं को यज्ञ - वेदी पर लाना। इनके अतिरिक्त आंख का विषय बनने वाला चमकना, प्रकाश करना आदि कार्य भी 'अग्नि' के ही कार्य हैं। वायु अथवा इन्द्र के कर्म हैं (क) जल बरसाना (ख) वृत्र को मारना तथा अन्य भी जो कुछ ताकत का कार्य हो, वह। इन्द्र कर्मैव तत्।

सूर्य अर्थात 'द्यु' के देवता का कार्य (क) किरणों से जल को धरती से उठाना, (ख) उसे धारण किये रखना, (ग) जो कुछ महत्ता से संबंध रखता है, वह सब कार्य भी सूर्य का ही है।

इनका व्यभिचार दिखलाई देने पर गौण/प्राधान्य के आधार पर देवता का निश्चय कर लेना चाहिए।

वैश्वानर :—इस देवता के भौतिक स्वरूप पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। वैश्वानर के वर्णन वाले मंत्रों में कई ऐसे कार्य बताये हैं, जो या तो किसी माध्यमिक (अन्तरिक्ष-स्थानीय) देवता के हो सकते हैं, या औत्तमिक (द्यु-स्थानीय) देवता के। ऐसी स्थिति में यह पार्थिव है, या अन्तरिक्ष-स्थानीय, या द्यु-स्थानीय है, ये तीन विकल्प उपस्थित होते हैं। यास्क इन्हें अग्नि मानते हैं। उनका विरोधी मत मीमांसकों (पूर्व याज्ञिकों) का है। एक पक्ष इन्हें माध्यमिक विद्युत भी मानता है।

(क) 'वैश्वानर' माध्यमिक है। निम्नलिखित मंत्र में वैश्वानर अग्नि को वृत्र, शम्बर और दस्यु को मारने वाला, जल को प्रदान करने वाला, तथा वृषभ बताया है। 'अग्नि' शब्द यद्यपि इसे पार्थिव ही सिद्ध करता है, तथापि नाम का तो गौण प्रयोग भी हो सकता है, वह क्योंकि माध्यमिक भी है तो ज्योति ही। 'ज्योति' अन्ततः 'अग्नि' का ही रूपांतर है। वर्षा आदि कार्य, जबकि केवल माध्यमिक के ही हैं। इनका गौण प्रयोग 'अग्नि' (पार्थिव) के लिए नहीं हो सकता। अतः इस मंत्र में वर्णित वैश्वानर 'अग्नि' पार्थिव नहीं, अपितु 'अन्तरिक्ष स्थानीय ज्योति' है।

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं, यं पूरवो वृत्र-हणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वानधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥ ऋ० १/५९/६

इस प्रकार यास्क कहते हैं कि वर्षा का वर्णन, तथा इसी प्रकार अन्य विशेष बातें 'अग्नि' और 'आदित्य' के कार्यों के रूप में भी वर्णित हैं। मरुत् तो वर्षा को पृथिवी पर लाने का कार्य भर करते बतलाये हैं :

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ १/१६४/४७ ॥

(ख) वैश्वानर सूर्य भी है। याज्ञिक प्रक्रिया दो प्रकार की है :

(अ) कल्प सूत्रों द्वारा बतलाये विधान के अनुसार वैदिक तथा स्मार्त मन्त्रों का प्रयोग करते हुए तत्तद् देवता के लिए अग्नि में तत्तद् आहुति देना। ब्राह्मणों और कल्प-सूत्रों (श्रौत तथा गृह्य सूत्रों) में इसी प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। इसी विषय पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने वाला शास्त्र 'मीमांसा' है, जिसे पूर्व-मीमांसा कहा

जाता है। (आ)) आरण्यकों में बताये विधानों के अनुसार यज्ञ की विभिन्न क्रियाओं को आध्यात्मिक प्रतीक मानकर मानसिक रूप से उन-उन क्रियाओं को करना। ब्राह्मणों तथा कल्प-सूत्रों में बहुत विस्तार से प्रतिपादित अश्वमेध यज्ञ का ही बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन इसका उदाहरण है। इस यज्ञ में पार्थिव अग्नि तथा पार्थिव आहुति न होकर सब कुछ मानसिक होता है अर्थात आत्म-चिंतन ही होता है। वेदान्त का आरम्भिक रूप यही है। इसका वर्णन ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यकों और उपनिषदों में प्रतिपादित है। इस विषय का गंभीरतापूर्वक निरूपण बादरायण ने अपने ब्रह्म सूत्र में किया है।

यास्क ने सम्भवतः ब्राह्मणों ग्रन्थों के पूर्व भाग में प्रतिपादित यज्ञ-विद्या के आचार्यों को इसलिए 'पूर्व याज्ञिकाः' कहा है। इसका अर्थ पूर्वमीमांसक है। इन पूर्व-याज्ञिकों का कथन है कि :

(अ) सोम याग में प्रातः मध्याह्न और सायं कालों में कुछ विशिष्ट होम किये जाते हैं, जिन्हें याज्ञिक भाषा में 'सवन' कहा जाता है। ये 'सवन' क्रमशः एक एक लोक के प्रतीक हैं। प्रातः सवन का संबंध पृथिवी से, 'माध्यन्दिन सवन' का अन्तरिक्ष से और सायन्तन अथवा 'तृतीय सवन' का द्यु से है। ये लोकों तथा सवनों का आरोह का, अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर जाने का क्रम है। इससे उल्टा क्रम अवरोह कहलाता है।

इन सवनों का संबंध तीन लोकों से है, यह उन के देवताओं से स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसके अनुसार 'सायन्तन सवन' का संबंध "वैश्वानर" अर्थात उत्तम लोक के देवता सूर्य से है। अग्नि मरुत शस्त्र नामक एक कर्म विशेष में तृतीय सवन में वैश्वानर देवता के सूक्त का प्रयोग किया जाता है। उसके बाद, अर्थात मध्याह्न 'सवन 'में माध्यमिक देवता के सूक्त का। इससे सिद्ध होता है कि वैश्वानर' द्यु-स्थानीय देवता है।

लोकों और सवनों के इस संबंध को यास्क काल्पनिक मानते हैं। अर्थात यह संबंध वास्तविक न होकर अर्थ-वाद-मात्र है। अर्थ-वाद में कही गयी बातें वास्तविक नहीं होतीं, जबकि 'देवता' वास्तविक है।

हमारे विचार में यह तर्क दुर्बल है। 'अर्थवाद' वास्तविकता पर आधारित भले न होता हो, वह उस के प्रवक्ताओं के चिन्तन की दिशा को भी तो बतलाता है। इस 'अर्थवाद' की कल्पना करने वाले लोग 'वैश्वानर' को जब द्यु-स्थानीय मानते होंगे तभी तो उन्होंने इन दोनों के संबंधों को कर्म-काण्ड में प्रतिष्ठित किया।

(आ) आदित्य की विशिष्ट गतियों के कारण मासों के १२ भेद होते हैं। यही कारण है कि आदित्य का १२ की संख्या से विशिष्ट संबंध है। कर्म-काण्ड में भी यह संबंध दृष्टि में रखा गया है। आदित्य के लिए बनने वाला पुरोडाश (एक विशेष प्रकार की रोटी) १२ कपालों (मिट्टी के तवों) पर बनाया जाता है। 'वैश्वानर' का पुराडोश भी बारह कपालों पर ही सेंका जाता था। इससे सिद्ध होता है कि 'वैश्वानर' आदित्य के समान ही द्यु-स्थानीय हैं।

यास्क १२ (द्वादश) संख्या का आदित्य से अविनाभाव संबंध नहीं मानते हैं। अन्यथा सूर्य के लिए एक 'कपाल' और 'पंच-कपाल पुरोडाश' नहीं दिया जाता। वेदों में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं।

(इ) ब्राह्मण ग्रन्थों में वैश्वानर अग्नि को तृतीय लोक का (असौ=वह दूर) बताया गया है : "असौ वाऽग्नि—वैश्वानरः" (मैत्रायणी संहिता २/१/२)।

यास्क : ब्राह्मणों में तो एक ही विशेषता को कई वस्तुओं में बतला देना साधारण बात है। जैसे— 'वैश्वानर' को ही कहीं 'पृथिवी' बताया है, 'कहीं संवत्सर', तो कहीं 'ब्राह्मण'। एक 'वैश्वानर' ये तीनों तो होने से रहा। अतः उपर्युक्त वचन भी इस बारे में प्रमाण नहीं है।

(ई) ऋतु विशेष पर किये जाने वाले ऋतु-याजों और प्रातः सवन आदि कर्मों में सोम-पान के लिए देवताओं को बुलाने के निमित्त उच्चारित पद-समूह 'निवित' कहलाते हैं। इनमें से एक – 'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्' (शांखायन श्रौत-सूत्र ८/२२/१) के देवता 'सूर्य और वैश्वानर' बतलाये हैं कि सूर्य-वैश्वानर द्यु और पृथिवी को प्रकाशित करते हैं। अतः वैश्वानर' सूर्य के साथ आने से औत्तमिक ही है, पार्थिव नहीं।

यास्क : उपर्युक्त निवित् में "यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत्" (जो मनुष्य प्रजाओं के लिए प्रकाशित होता हो) में मनुष्य लोक से सम्बद्ध अत एव 'पार्थिव अग्नि' को ही 'वैश्वानर' कहा गया है।

(उ) द्वादशाह कतु के ८ वें ९ वें और १०वें दिन गाये जाने वाले ३ छन्दोम स्तोमों के सूक्तों के देवता 'सूर्य और वैश्वानर' हैं। उस सूक्त के "दिवि पृष्टो अरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहन्" (वा० सं० ३३/९२) मन्त्र में वैश्वानर को द्यु-लोक में प्रकाशित होता बतलाया है। द्यु-लोक में सूर्य प्रकाशित होता है, अतः वैश्वानर सूर्य (उत्तम-स्थानी) ही है।

यास्क: —छान्दोमिक सूक्त में 'पार्थिव अग्नि' ही अभिप्रेत है। 'वृषा पावक दीदिहि—जमदग्निभिराहुतः (शांखायन श्रौत-सूत्र १०/१०/८ तथा आश्वलायन श्रौत सूत्र ८/९/७) —इस सूक्त में अग्नि प्रज्वलित कर चुके ऋत्विजों द्वारा आहुत पार्थिव अग्नि को ही वैश्वानर कहा गया है।

(ऊ) हविष्पान्त शब्दों से प्रारम्भ ऋ० १०/८८ सूक्त 'सूर्य' और 'वैश्वानर' की स्तुति में है। यहां 'वैश्वानर' से 'दिव्य देवता' ही इष्ट है यह निम्न मंत्रों से स्पष्ट है, क्योंकि इनमें 'वैश्वानर' को 'दिनों का सूचक 'उषा को प्रकट करने वाला', 'अपनी महिमा से लोकों को परिभूत करने वाला' बताया है, जो सूर्य के लिए ही सम्भव है।

> विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
> आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषायन्॥
> वैश्वानरं विश्वहा दीदिवांसं मन्त्रैरग्नि कविमच्छा वदामः।
> यो महिम्ना परि बभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात्॥

यास्क: इस सूक्त का प्रारम्भ 'पार्थिव अग्नि' के वर्णन से मानते हैं। वही आगे 'वैश्वानर' आदि शब्दों से चला है। अतः उपर्युक्त मन्त्रों में भी उसी का वर्णन है। निम्न मंत्र में द्यु-स्थानीय' 'विवस्वत्', 'अन्तरिक्ष-स्थानीय' मातरिश्वन् और 'वैश्वानर अग्नि' का पृथक पृथक उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि यह दिव्य और माध्यमिक से भिन्न पार्थिव ही है। (यथा ऋ० ६/८/४)।

निम्न मंत्र में वैश्वानर को पर्वत, ओषधी एवं मनुष्य-इन पदार्थों में स्थित वसुओं (धनों) का स्वामी बताया है। यह गुण इसे पार्थिव बनाता है।

> आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि।
> या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु, या मानुषेष्वसि तस्य राजा॥ ऋ० १/५९/३

इसके अतिरिक्त बहुत से मन्त्रों में 'आदित्य' की ही स्तुति 'अग्नि' के रूप में है, तो कई मंत्रों में 'अग्नि' को 'आदित्य' के रूप में बताया गया है। यदि 'वैश्वानर आदित्य' हुआ होता, तो उसका वर्णन उन ही सूक्तों और हविर्भागों के संदर्भ में होता जो द्यु लोक से संबद्ध हैं। आदित्य के ही उदय, अस्त, जगत् की परिक्रमा आदि कर्मों का वर्णन वैश्वानर' नाम से हुआ होता, जबकि 'वैश्वानर' की चर्चा अग्नि (पार्थिव) के ही सूक्तों तथा हविर्भागों में मिलती है। पार्थिव अग्नि के ही वहन दहन पचन आदि कर्मों का वैश्वानर के कर्म के रूप में वर्णन मिलता है। इस से यह सिद्ध होता है कि 'वैश्वानर' पार्थिव अग्नि ही है, दिव्य नहीं। अतः निष्कर्ष यही है कि जहां वैश्वानर सूक्त के प्रधान देवता के रूप में वर्णित है, या जहां उनके लिए हविष् प्रदान करने का विधान है' वहां तो 'वैश्वानर पार्थिव अग्नि' ही है। इस नाम से जहां ऊपर की दो ज्योतियों का वर्णन वैश्वानर के नाम से आता है, वहां वैश्वानर का प्रयोग गौण समझना चाहिए।

तीन ही देवताओं की व्याख्या करते हुए यास्क देवता-वाची पद का निर्वचन करते हैं। इसके बाद वैदिक ऋचायें उद्धृत करके उनका प्रयोग दिखलाते हैं तथा यह सिद्ध करते हैं कि ऊपर के दोनों ज्योतिष्पुंज, विद्युत और

सूर्य भी इन नामों से पुकारे जाते हैं। जैसे —'अग्नि' यों तो पार्थिव अग्नि का नाम है किन्तु विद्युत एवं सूर्य का उल्लेख भी लाक्षणिक रूप से इस नाम से अभिगृहीत है।

अन्त में वे निष्कर्ष निकालते हैं कि सूक्तों में संबोधित तथा हवि पाने वाले इसी 'अग्नि' को क्रमश: अग्नि, जातवेदस् तथा वैश्वानर कहते हैं। इन नामों से शेष दोनों ज्योतिष्पुंज कभी कभी सूक्तों से संबोधित होते हैं, या हवि पाते हैं।

वैश्वानर के विषय में यास्क ने बहुत बड़ा विवेचन किया है तथा कई मनोरंजक बातें उद्धृत की हैं। बिजली और सूर्य से अग्नि किस प्रकार निकलती है उसका वैज्ञानिक वर्णन उस समय के प्रारम्भिक पदार्थ-विज्ञान का परिचायक है। यास्क कहते हैं कि जब किसी ठोस वस्तु पर बिजली गिरती है उस समय तक यह अपना ही गुण लिये रहती है जब तक ठहर नहीं जाती। उसका गुण है जल में प्रज्वलित होना और ठोस वस्तु में बुझ जाना। किन्तु स्थिर होने पर 'पार्थिव अग्नि' का गुण ग्रहण कर लेती है। अर्थात ठोस में प्रज्वलित होना और जल में बुझ जाना। इस प्रकार विद्युत से अग्नि का संबंध स्थापित किया गया है। इसी प्रकार सूर्य से भी अग्नि का संबंध दिखलाया गया है। जब सूर्य उत्तरायण में होते हैं तब कांसा या मणि को साफ करके उसकी किरणों के सामने सूखे गोबर के पास रखें तो वह जलने लगेगा।

वैश्वानर का वर्णन जिस पाण्डित्य प्रकर्ष के साथ उन्होंने किया वह उनकी विलक्षण-वैदुषी का परिचायक है। वैश्वानर को सूर्य के रूप में सिद्ध करने के लिए जितने तर्क दिये गये है उनके खण्डन में यह स्पष्ट हो जाता है कि यास्क का अध्ययन कितना विस्तृत एवं गम्भीर था।

पाठ ११

औपनिषदिक विचारधारा और भारतीय संस्कृति के निर्माण में उसका योगदान

(खण्ड I)

समस्त संस्कृत वाङ्मय का सर्वोत्कृष्ट रत्न, भारतीय तत्त्व-चिन्तन का अनर्घ नवनीत, श्रुति-साहित्य का परम पुनीत सार उपनिषद् हैं। भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने एकस्वर से इनकी गुणवत्ता को स्वीकार किया है तथा मुक्तकण्ठ से इनकी प्रशस्तियां गाई हैं। आधुनिक काल में जर्मन विद्वान् शोपेनहॉअर (Schopenhauer) का कहना है, "सम्पूर्ण संसार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन इतना कल्याणकारक और शान्तिदायक नहीं है जितना उपनिषदों का। यही मेरे जीवन की शान्ति रही है, यही मेरी मृत्यु की भी शान्ति रहेगी।"

भारतीय परम्परा में अपौरुषेय रचना के रूप में स्वीकार की जाने वाली 'श्रुति' का, उपनिषद् अन्तिम (चरम) चरण हैं (—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्=श्रुति), अतएव बहुधा इन्हें वेदान्त कहा जाता है। ये वेद का (चिन्तन अथवा विचार की दृष्टि से) सार-तत्त्व हैं (=अन्त, essence), इसलिये भी इन्हें वेदान्त कहा जाता है। व्यवहार की दृष्टि से, प्राचीन काल में, सामान्यतः अध्ययन वेद से प्रारंभ किया जाता था, तदनन्तर गार्हस्थ्य जीवन में यज्ञ-यागादि करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ती थी, और अन्त में, अरण्यवास करते हुए आरण्यकों तथा उपनिषदों का अध्ययन-मनन किया जाता था। इस दृष्टि से भी उपनिषदों का स्थान वेद के अन्त में ही आता था।

उपनिषद् शब्द का सामान्य अर्थ है (आचार्य के) 'समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना'। अनेक उपनिषदों में शिष्यों के आचार्य के पास जाकर उनसे उपदेश प्राप्त करने की प्रार्थनाओं के उल्लेख हैं। जिन उपनिषदों में ऐसे स्पष्ट उल्लेख नहीं भी हैं उनमें भी 'संवाद' की पद्धति स्पष्ट है[1]। भारतीय परम्परा में 'केवल अधिकारी को ही ज्ञान प्राप्त हो' इस बात का कठोरता से पालन किया जाता था। इसीलिये जिज्ञासु शिष्यों को पास बिठाकर आचार्य उपदेश देते थे। इस दृष्टि से, उपनिषद् रहस्य, गूढ़-विद्या अथवा गुह्य-ज्ञान कहे जाते हैं। व्याकरण की दृष्टि से यह शब्द 'उप' 'नि' पूर्वक षद्लृ धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगकर बना है (उप+नि+√ षद्लृ+क्विप्)। षद्लृ धातु के 'विशरण', 'गति' तथा 'अवसादन' ये तीन अर्थ प्रसिद्ध हैं। इन्हें दृष्टि में रखते हुए शङ्कराचार्य इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं—

"ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते ।.................पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्

---

1. उदाहरण के लिए केनोपनिषद् में गुरु-शिष्य का उल्लेख नहीं है तथापि यह स्पष्ट है कि शिष्य प्रश्न पूछ रहा है तथा गुरु उत्तर दे रहे हैं।

ब्रह्मविद्योपनिषद् ।" (कठोपनिषद् पर शाङ्कर भाष्य की भूमिका)। इसमें आचार्य शङ्कर ने दो तरह से यह सिद्ध किया है कि उपनिषद् शब्द का वाच्यार्थ है ब्रह्मविद्या: (i) जो मोक्ष के अभिलाषी व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक विषयों से विरक्त हो कर इस विद्या की प्राप्ति के हेतु गुरु के समीप जा कर, निष्ठापूर्वक इसका परिशीलन करते हैं, उनके अविद्या आदि संसार के बीज का विशरण अर्थात् हिंसन करने से (इस अर्थयोग से) यह विद्या ही उपनिषद् कही जाती है। (ii) पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त, मोक्ष की कामना करने वालों को ब्रह्मविद्या परब्रह्म के पास पहुँचा देती है, इस प्रकार ब्रह्म के पास पहुँचाने वाली होने के कारण (इस अर्थयोग से) यह विद्या ही उपनिषद् कही जाती है। इसी प्रसङ्ग में आचार्य शङ्कर ने यह भी स्पष्ट किया है कि वस्तुतः उपनिषद् शब्द से ब्रह्मविद्या अभिप्रेत है, किन्तु कुछ विशिष्ट ग्रन्थ इस ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने के निमित्त ही रचे गये हैं अतएव लक्षणा शक्ति से वे भी उपनिषद् कहलाते हैं।

सामान्यतः एक सौ आठ उपनिषद् कहे जाते हैं। इनमें से कोई परम्परा अट्ठाईस को तो कोई अठारह को प्रमुखता देती है। शङ्कर ने दस पर भाष्य रचा है, अतएव वे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। निश्चय ही, सभी उपनिषदों की रचना एक ही काल में नहीं हुई है, यद्यपि यह निश्चित है कि सभी प्रमुख उपनिषद् बुद्ध तथा बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव से पहले के हैं (अर्थात् ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी से पहले के)। डॉयसन (Deussen) के अनुसार गद्य में रचित उपनिषद् (जैसे छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि) सबसे पुराने हैं; इनसे बाद के हैं (ईश०, कठ० आदि) पद्योपनिषद्; इनके भी बाद के हैं (प्रश्न, मैत्रायणी जैसे) वे उपनिषद् जो गद्य में रचित होने पर भी अपनी भाषा तथा विषय-सामग्री के कारण स्पष्टतः उत्तरवर्ती दिखाई पड़ते हैं[1]।

उपनिषद् न केवल परम्परा की दृष्टि से पूर्ववर्ती संहिता साहित्य से जुड़े हुए हैं, अपितु ये संहिताओं में प्रारम्भ हुई चिन्तन-धारा की स्वाभाविक परिणति दिखाई पड़ते हैं। स्वयं भारतीय परम्परा, विषय की दृष्टि से, वेदों का कर्म-काण्ड तथा ज्ञान-काण्ड के रूप में द्विविध विभाजन करती है और ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेद के कर्म-काण्ड का तथा उपनिषदों में उसके ज्ञान-काण्ड का चरम विकास स्वीकार करती है।

ऋग्वेद में द्यौ, पृथिवी, सूर्य, वायु, पर्जन्य, मरुत् आदि (देवरूप में परिकल्पित) प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की स्तुतियां दिखलाई पड़ती हैं। ऋग्वेद का ऋषि इन प्रकृति की शक्तियों को देवता मान कर भिन्न

---

1. देखिये —There is more of pure speculation present in the early prose Upaniṣads, while in the later ones there is more of religious worship and devotion. (Radhakrishnan, Indian Philosophy, Part I, p. 142)

पहले के गद्योपनिषदों में अधिक विशुद्ध (दार्शनिक) विचार-विमर्श है, जबकि बाद के उपनिषदों में धार्मिक उपासना एवं भक्ति अधिक है।

यह उल्लेखनीय है कि आस्तिक परम्परा समस्त श्रुति साहित्य को (जिसमें संहिताएं, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषद् शामिल किये जाते हैं) अपौरुषेय रचना स्वीकार करती है। तदनुसार, न केवल उपनिषदों में आपस में, अपितु संहिताओं और उपनिषदों में भी काल की दृष्टि से कोई पौर्वापर्य नहीं है।

कल्याण-प्राप्ति के निमित्त इनकी उपासना करता है। मानव विकास के प्रथम चरण में यह स्वाभाविक भी है क्योंकि इस काल में प्रकृति के विभिन्न रूपों का मानव जीवन पर प्रभाव अत्यन्त प्रत्यक्ष तथा गहरा अनुभव किया जाता था। लोभ और भय की सहज वृत्तियाँ मनुष्य को इन शक्तियों के प्रति उन्मुख बनाती थीं और वह सहज भाव से उपासना के द्वारा इन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करता था। स्वभावतः, इस अवस्था में मनुष्य की वृत्ति प्रधानतः बहिर्मुखी थी और वह प्रकृति की उस प्रत्येक शक्ति को देवता के रूप में स्वीकार करता था जो उसके जीवन को किसी भी रूप में प्रभावित करती हुई लक्षित होती थी। वैदिक ऋषि, कदाचित् अधिक चिन्तनशील था। उसने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि सूर्य, वायु, पर्जन्य, मरुत् आदि प्राकृतिक शक्तियाँ मानव जीवन पर जो भी अच्छा या बुरा प्रभाव डालती हैं वह अपनी इच्छा या स्वतन्त्र शक्ति के कारण नहीं डालतीं; वस्तुतः ये सभी शक्तियाँ एक अटल नियम अथवा विधान से बंधी हुई होने के कारण ही ऐसा करती हैं। ऋग्वेद में इस विधान की संज्ञा 'ऋत' है और वरुण को इसका स्वामी कहा गया है। 'ऋत' के दर्शन ने वैदिक ऋषि की वृत्ति को अन्तर्मुखी बना दिया। वह न केवल बाह्य प्रकृति में 'ऋत' के दर्शन करने लगा अपितु आभ्यन्तर प्रकृति में भी उसे इसके दर्शन होने लगे! फलस्वरूप, वरुण न केवल बाह्य प्रकृति का नियमन करने वाला देवता स्वीकार किया गया अपितु मनुष्य की आभ्यन्तर प्रकृति का, उसके आचरण का, उसकी नैतिकता का भी वह नियन्ता स्वीकार किया गया। इस अभिनव दृष्टि ने एक ओर प्राकृतिक देवों की साख घटा दी (देखिये—कस्मै देवाय हविषा विधेम—ऋ. X121/1) और दूसरी ओर (नाना देवों के स्थान पर) एक परम शक्ति को स्वीकार करने और उसी की उपासना करने की प्रेरणा जगा दी। ऋग्वेद में इस भावना की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में दिखाई पड़ती है जैसे 'विश्वेदेवाः', 'हिरण्यगर्भ', 'प्रजापति', 'विराट् पुरुष' आदि की कल्पनाओं में। फिर भी, वैदिक ऋषि की धार्मिक भावना मूलतः वही पुरानी ही रही, इस दृष्टि से कि अब भी वह निज कल्याण-सिद्धि के लिए (नाना देवों के स्थान पर) एक परम शक्ति की उपासना करता था। लोभ और भय की भावनाएं उसमें यथापूर्व रहीं; वह उपासक अथवा याचक ही रहा तथा दिव्य शक्ति उससे भिन्न उपास्य अथवा दाता ही रही। किन्तु मानव के अन्तर की आँख जब एक बार खुल जाती है तब वह ऐसे भेद-दर्शन से सन्तुष्ट नहीं रह पाता। वह सत्य को और भी गहराई और निकटता से देखने का प्रयत्न करता है और अन्ततः (उपासक और उपास्य के बीच के) भेद के पर्दे को उठाकर ही चैन पाता है। ऋग्वेद में ही 'वाक्' और 'नासदीय' जैसे सूक्तों में वैदिक ऋषि एकेश्वरवाद (Monotheism) से ऊपर उठकर अद्वैतवाद (Monism) की झलक पाता हुआ दिखाई पड़ता है। वेद में विचारों के इस विकास को यदि कुछ पारिभाषिक शब्दावली में प्रकट करने का प्रयत्न करें तो ऐसा कह सकते हैं कि बहुदेववाद (=बाह्य प्रकृति की शक्तियों की देवता के रूप में उपासना) से प्रारम्भ करके वैदिक धार्मिक भावना एकेश्वरवाद की ओर अग्रसर हुई और अपनी परिणति में उसने अद्वैतवाद की झलक पाई।[1]

ऋग्वेद में तत्त्व की खोज जिस बिन्दु पर आकर रुकती है उपनिषदों में यह वहीं से शुरू होती है। ऋग्वेद में ऋषि विश्व की नाना-रूपता में एक ही तत्त्व की विद्यमानता को देखने, पहिचानने लगा था (एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, I 164/46; एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति, X 114/5)। जब एक के समक्ष कोई दूसरा विद्यमान होता है तब एक दूसरे की पहिचान करने के लिये प्रत्येक को अलग-अलग बखाना जा सकता है; किन्तु जब हो ही एक, एक से भिन्न कोई दूसरा न हो तब उस एक की पहिचान अथवा उसका बखान भी असंभव हो जाता है। नासदीय सूक्त में इस (अद्वितीय) एक सत्य की अनिर्वचनीयता को ऋषि बड़े सहज भाव से अभिव्यक्त करता है—"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्।" (X 129/1)। यह परम सत्य विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। पुरुषसूक्त इसी तथ्य की घोषणा करता है—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा.........।" (X 90/1)। किन्तु इस सूक्त का यह मन्त्र परम सत्य की विश्व-व्यापकता का ही उल्लेख करके नहीं रुक जाता अपितु (चतुर्थ चरण में 'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' कहकर) उसकी विश्वातीतता का भी उल्लेख करता है। विश्व (अथवा जगत्) स्वभाव से

1. इसके विषय में ध्यान देने योग्य है डॉ० राधाकृष्णन् की यह टिप्पणी—This progression is as much chronological as logical. Indian Philosophy, Part I, p. 98-90.

ससीम (finite) है । यदि परम सत्य केवल विश्व को व्याप्त करने वाला ही हो तो वह भी विश्व की तरह ससीम ही स्वीकार किया जायेगा ।[1] इस कठिनाई को पार करने के लिए तत्त्वदर्शी परम सत्य को विश्व व्यापी ही नहीं अपितु विश्वातीत भी घोषित करते हैं । इस प्रकार ऋग्वेद के इन मंत्रों में परम सत्य (Ultimate Reality) के विषय में दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हुई दिखाई पड़ती हैं—

1. जगत् की इस (बाहरी) नानारूपता में एक ही अन्तस्तत्त्व है जो स्वतः अनिर्वचनीय है । 2. यह परम तत्त्व विश्वव्यापी (Immanent) तथा विश्वातीत (Transcendent) है । परम तत्त्व के विषय में ये विचार सभी उपनिषदों में व्यापक रूप से स्वीकार किये गये हैं ।

उपनिषद् प्रधानरूप से दार्शनिक ग्रन्थ हैं । तत्त्व की खोज अथवा तत्त्व का चिन्तन, यही उपनिषदों का एक मात्र आलोच्य विषय है । ऋग्वेद में जैसे ऋषियों की रहस्यमय अनुभूतियों के कवित्वमय उद्गार हैं वैसे ही उपनिषदों में भी मात्र दार्शनिक परिकल्पनाएं (Philosophical speculations) हैं ; दार्शनिक तथ्यों को युक्ति अथवा तर्क के द्वारा सिद्ध करने का अथवा दार्शनिक वादों (isms) को प्रतिष्ठित करने का इनमें कोई प्रयास नहीं है । यह सर्वविदित है कि प्राचीन भारत के यावन्मात्र (सांख्य, प्रयोग आदि) आस्तिक तथा (लोकायतिक आदि) नास्तिक दर्शनों में से किसी एक का भी उपनिषदों के समय तक प्रादुर्भाव नहीं हुआ था (यह और बात है कि इनमें से अधिकांश के बीजरूप सिद्धान्त उपनिषदों में बिखरे हुए उपलब्ध हो जाते हैं) ।

उपनिषदों में परम तत्त्व को दो शब्दों—आत्मा तथा ब्रह्म—के द्वारा अभिहित किया जाता है । परम तत्त्व एक ही है (एकमेवाद्वितीयम्—छा. VI 2/1) तथापि जैसे एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं उसी प्रकार एक ही परम तत्त्व को आत्मा तथा ब्रह्म के नामों से कहा जाता है । लोक-व्यवहार में ज्ञान की प्रवृत्ति विषयी (subject, ज्ञाता) और विषय (object, ज्ञेय) की दृष्टियों से होती है । परम-तत्त्व का आत्मा तथा ब्रह्म के रूप में अभिधान अथवा व्याख्यान इन्हीं दृष्टियों से है, यद्यपि यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं ; इनमें से एक को विषयी तथा दूसरे को विषय मानना कोरा अज्ञान है, क्योंकि एक ही तत्त्व में ऐसे किसी भी प्रकार के भेद की कल्पना ही नहीं की जा सकती । इस परम तत्त्व की पहिचान सांसारिक विषयों की तरह इन्द्रियादि कारणों के द्वारा नहीं हो सकती । इन्द्रियाँ स्वभाव से बाहर की ओर ही प्रवृत्त होती हैं और बाहरी विषयों को ही पकड़ पाती हैं (पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्—कठ II 1/1) अतएव समस्त ज्ञान का आधार 'अन्तरात्मा' इनकी पहुँच के बाहर है । यह परम-तत्त्व बुद्धि की भी पहुँच से बाहर है (नैषा तर्केण मतिरापनेया—कठ I 2/9), क्योंकि बुद्धि की प्रवृत्ति विषय तथा विषयी के द्वैत की संभावना को मानकर ही होती है ; अद्वैत परमतत्त्व (अर्थात् वह परमतत्त्व जो देशकालातीत तथा निर्द्वन्द्व (ज्ञाता-ज्ञेय के भेद से रहित) है) बुद्धि के द्वारा नहीं पहिचाना जा सकता । परम-तत्त्व की पहिचान आत्मज्ञान के रूप में (देखिये-योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ईशा. 16) केवल शुद्ध-सत्त्वों को ही होती है । (देखिये- ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः—मुण्डक III 1/8) । यह एक प्रमाणनिरपेक्ष अन्तर्दृष्टि है जो (ज्ञाता-ज्ञेय के भेद से ऊपर उठकर) सत्य को साक्षात् देखती है । परमतत्त्व सर्वथा अज्ञेय नहीं है, केवल लौकिक ज्ञानों की तरह शब्दों (अथवा अन्य साधनों) के द्वारा दूसरे के समक्ष बताया नहीं जा सकता (देखिये—"God put it into my head, and I can not put it into yours", is the last word of mystic experience." Dr. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Part I, p. 178 । उपनिषद् भी कहता है, "अहं तु वच्मि, त्वं न वेत्थ ।) ।

1. दर्शनशास्त्र में इस विचार को Pantheism (=Universe is God) कहते हैं । इसके दोष को देखते हुए विचारकों ने बाद में इसका परिहार करने के लिये Pantheism के स्थान पर Panentheism (=Universe is in God) कहना शुरू किया । इसका अभिप्राय यह हुआ कि परमात्मा (God) जगत् में निःशेष नहीं हो जाता अपितु वह जगत् को अतिक्रान्त करके भी स्थित है । पुरुषसूक्त का यह मन्त्र भी Panentheism के भाव को ही व्यक्त करता है ।

आत्मा के रूप में परमतत्त्व समस्त ज्ञान का अधिष्ठान है। इस आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये छान्दोग्योपनिषद् में (VIII 7-12) एक कथा आती है। कहा गया है कि आत्मा को जानने की इच्छा से असुरों के प्रतिनिधि बन कर विरोचन तथा देवों के प्रतिनिधि बनकर इन्द्र प्रजापति के पास (उपदेश प्राप्त करने के लिये) गये। प्रजापति ने कहा, बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन करो तदनन्तर तुम्हें आत्मा का उपदेश दूंगा। तदनुसार जब दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करके उपदेश के लिये आये तब प्रजापति ने कहा, 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति" अर्थात् यह जो आँख में (प्रतिबिम्बित) दिखाई देता है, यही आत्मा है। आँख में शरीर का ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, अतएव, यही सत्य है, यही आत्मा है, यही उपास्य है ऐसा समझकर विरोचन अपने साथी असुरों के पास लौट गया। किन्तु मार्ग में जाते हुए इन्द्र ने विचार किया कि शरीर को सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत कर लें तो इसका प्रतिबिम्ब भी वैसा ही अलङ्कृत दिखाई पड़ेगा ; ऐसे ही यदि शरीर अंधा, लूला या लंगड़ा हो जावे तो उसका प्रतिबिम्ब भी वैसा ही अंधा, लूला या लंगड़ा दिखेगा। फिर, शरीर तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार विचार करने से इन्द्र प्रजापति के इस उपदेश से सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह बीच से ही लौटकर फिर प्रजापति के के समक्ष उपस्थित हुआ तथा उसने अपनी कठिनाई जताते हुए निवेदन किया, "नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति" अर्थात् ऐसी आत्मा का तो मैं कोई लाभ नहीं देखता। प्रजापति ने उसे फिर बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये कहा। तदनन्तर प्रजापति ने उपदेश दिया "य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति" अर्थात् स्वप्नावस्था में जो चैतन्य रहता है, वही आत्मा है। निश्चय ही, देह की तरह यह चैतन्य अन्धत्वादि दोषों से प्रभावित नहीं होता तथापि यह जाग्रत् अवस्था के अनुभवों से बंधा हुआ है। हमारे जाग्रत् अवस्था के सभी अनुभव देश, कालादि की सीमा से परिच्छिन्न, सतत परिवर्तनशील हैं। इन्हीं पर आधृत स्वप्नावस्था का चैतन्य भी इसी प्रकार देश, कालादि की सीमा में बंधा हुआ, नित्य परिवर्तनशील ही होगा। यह न तो अविनाशी हो सकता है और न ही निर्बाधरूप से स्वतन्त्र। अतएव इन्द्र इस उत्तर से भी असन्तुष्ट हो कर फिर मार्ग में से ही लौट आया। प्रजापति ने इस बार भी इन्द्र को बत्तीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-पालन करने के लिये कहा। तदनन्तर जब इन्द्र उपस्थित हुआ तब प्रजापति ने कहा, "तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा", अर्थात् सुषुप्ति (=स्वप्न के बिना गहरी नींद की अवस्था) में जब कोई ज्ञेय विषय नहीं होता तथापि ज्ञाता (विषयी) चैतन्य विद्यमान रहता है (जो एक ओर गहरी नींद के आनन्द को अनुभव करता है तथा दूसरी ओर सोने से पहले के अनुभवों और जागने के बाद के अनुभवों का एक ही आधार बनता है) वही आत्मा है। प्रजापति का यह उत्तर इन्द्र की पिछली शङ्काओं का निराकरण करते हुए उसकी जिज्ञासा का नया समाधान प्रस्तुत करता है। सुषुप्ति की अवस्था में जो चैतन्य रहता है वह न तो अन्धत्वादि देह के दोषों से प्रभावित होता है और न ही स्वप्नावस्था के चैतन्य की तरह देश, कालादि की सीमाओं से परिच्छिन्न होता है। विषयों की सत्ता विषयी के अधीन है, किन्तु इसी रूप में विषयी विषयों पर निर्भर नहीं करता। सुषुप्ति की अवस्था में विषयी चैतन्य विषय-निरपेक्ष विद्यमान रहता है। इस बार भी इन्द्र असन्तुष्ट होकर मार्ग में से ही लौट आया। उसने प्रजापति से अपनी शङ्का जताई, "नाह खल्वयं भगव एवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति।" (अर्थात् इस अवस्था में न तो यह चैतन्य अपने को जानता है और न ही किसी अन्य को। इस प्रकार यह अनुभूति-शून्य अवस्था नाश के तुल्य है)। बाह्य जगत् का आत्यन्तिक निषेध करने से अन्तरात्मा भी शून्य हो जाती है।[1] यह ध्यान देने योग्य है कि इसी कठिनाई का परिहार करने के लिये परमतत्त्व की विश्वातीतता के साथ विश्वव्यापकता स्वीकार की जाती है। यह वह सत्य है जो विश्व को अपने में समेटे हुए है किन्तु उससे परिच्छिन्न नहीं है। यह ज्ञाता भी

---

1. तुलना कीजिये—"To deny the life without is to destroy the god with in". इसीलिये प्रजापति का आशय केवल इतना दर्शाना था कि चेतना की विभिन्न अवस्थाएं परम-तत्त्व (=आत्मा) नहीं हैं। वस्तुस्थिति तो कुछ इस प्रकार है जैसी Dr. Mc Taggart प्रतिपादित करते हैं : What does the self include ? Everything of which it is conscious. What does it exclude ? Equally—Everything of which it is conscious———Dr. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Part I, p. 156

है और ज्ञेय भी। यह समस्त चेतनाओं का आधार है किन्तु कभी भी चेतना का विषय नहीं बनता। इसीलिये लोक-व्यवहार की दृष्टि से न इसे देखा जा सकता है और न ही शब्दों के द्वारा इसका वर्णन किया जा सकता है।

प्रजापति ने इन्द्र को पाँच वर्ष और ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये कहा और तदनन्तर इन्द्र के उपस्थित होने पर कहा, "मघवन्! यह शरीर नाशवान् है; सभी कुछ मृत्यु के अधीन है। (किन्तु) यह नाशवान् शरीर एवं मरणशील विश्व जिस आत्मा का निवासस्थान है वह स्वयं अविनाशी एवं अशरीरी है। चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, मन आदि केवल देखने, सूंघने, सुनने तथा सङ्कल्पादि करने के करणमात्र हैं; इनके भीतर आत्मा ही इन समस्त व्यवहारों को करता है। शरीर तथा जगत् के अन्य पदार्थों में व्याप्त यह आत्मा (लोकव्यवहार की दृष्टि से) नामरूपात्मक नानात्व को ग्रहण कर लेता है, किन्तु विश्व में व्याप्त यह वह अविनाशी एवं अविकारी तत्त्व है जो इस सब का आधार अथवा आश्रय है। इसी की सत्ता से परिदृश्यमान अखिल विश्व का व्यवहार है, किन्तु यह स्वयं वह सत्य है जो नाम-रूप के बिना है (आकाशो) वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं अ आत्मा)।

प्रजापति की इस व्याख्या में इन्द्र की अब तक की सभी शङ्काओं का निराकरण हो जाता है। देह अथवा जगत् के देश-काल से परिच्छिन्न अन्य पदार्थों की तरह आत्मा ऐसी प्रतीति नहीं है जो देशकाल के परिवर्तनों से होने वाली परवर्ती प्रतीतियों से बाधित या खण्डित हो जाये। बाध्य-बाधक प्रतीतियों के होते हुए भी शुद्ध सत्ता बाधित नहीं होती अतएव यह सत् (शुद्धसत्ता, pure existence) ही आत्मा है। स्वयं प्रकाशता (=चित्) सत् का अनन्य लक्षण है। अतएव, जो सत् है वह चित् भी है। केवल सत्ता शून्य रूप है[1]; यह न अपने को जान सकती है और न ही अन्य को। इसलिये, जैसे सत् का अनन्य लक्षण है चित् वैसे ही अनुभूति (=केवल आनन्द रूप अनुभूति) भी इसका स्वतः सिद्ध लक्षण है। इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार परम-तत्त्व (Uliimate Reality) सच्चिदानन्द स्वरूप (Infinite Existence, Absolute Truth, Pure Delight) है। सत्, चित् और आनन्द परम-तत्त्व के तीन गुण अथवा लक्षण नहीं हैं अपितु उसके स्वरूप का परिचय है, क्योंकि जो सत् है वही चित् है और वही आनन्द है।

ऊपर कही हुई बात अधिक संक्षिप्त किन्तु अधिक पूर्ण एवं सुश्लिष्ट रूप से माण्डूक्योपनिषद् में कही गई है। कहा गया है कि चैतन्य की जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति, ये तीन स्थान (अवस्थाएं) हैं। पहली (जाग्रत्) अवस्था में चैतन्य की शरीर पर प्रबल निर्भरता होती है। इस अवस्था में चैतन्य शरीर के अङ्गभूत श्रोत्रादि करणों की सहायता से जगत् के स्थूल विषयों का उपभोग करता है। दूसरी (स्वप्न) अवस्था में यही चैतन्य (जाग्रत अवस्था के अनुभवों के आधार पर) मन द्वारा परिकल्पित सूक्ष्मविषयों का उपभोग करता है। तीसरी (सुषुप्ति) अवस्था में चैतन्य अस्थायी रूप से कुछ समय के लिए निर्द्वन्द्व हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह कामनाजनित उद्वेगों से मुक्त हो जाता है। किन्तु, शुद्ध चैतन्य (=आत्मा) दुःख के अभाव की स्थिति नहीं है अपितु अजस्र आनन्दात्मक अनुभूति है (देखिये—रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति—तैत्तिरीय II)। इसीलिए, एक चौथी (तुरीय) अवस्था कही गई है जो पूर्ववर्ती तीनों अवस्थाओं को व्याप्त करती हुई भी उनसे अतीत है। यही आत्मा है (देखिये—नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः—माण्डूक्य 7)। ओङ्कार (ॐ) इसका प्रतीक है जिसके (अ, उ, म्) अवयव (क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति) तीन स्थान (अवस्थाएं) हैं।

विषय की दृष्टि से (from the objective point of view) उपनिषदों में परम-तत्त्व को ब्रह्म कहा जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली में भृगु (पुत्र) तथा वरुण (पिता) का संवाद है। पुत्र ने पिता के पास जाकर निवेदन किया, 'अधीहि भगवो ब्रह्मेति' अर्थात् भगवन्! मैं ब्रह्म की शिक्षा प्राप्त करना चाहता हूं। पिता ने पुत्र को

---

1 सुषुप्ति की अवस्था में यह इसी रूप में प्रतीत होती है, अतएव, जैसा हमने ऊपर देखा, इन्द्र ने आपत्ति प्रकट की थी कि यह सुषुप्ति अवस्था का चैतन्य न तो अपने आप को जानता है कि मैं हूं और न ही इस भूत-जगत् को; यह तो विनाश की सी स्थिति है।

ब्रह्म का लक्षण बता दिया—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।' अर्थात् जिसमें से ये समस्त भूत (प्राणी, पदार्थ) जन्म-ग्रहण करते हैं, जिसके द्वारा (जन्म-ग्रहण करने के अनन्तर) ये जीवित रहते हैं, जिसकी ओर ये (सदा) चलते हुए (अन्त में जिसमें) विलीन हो जाते हैं उसी को जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है"—और उसे (=पुत्र को) तप (=गंभीर चिन्तन) द्वारा उस सर्वव्यापी सत्य को स्वयं पहिचानने के लिए कहा। पिता के इस कथन का आशय यह है कि जगत् के नित्य परिवर्तनशील नाना नाम रूप केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं; पारमार्थिक सत्य वही हो सकता है जो इन समस्त परिवर्तनों का आधार है, जो सभी परिवर्तनों को व्याप्त करता हुआ भी स्वयं अपरिवर्तनशील है। पुत्र ने प्रथम प्रयत्न में 'अन्न' (Matter[1], स्थूल द्रव्य) को ब्रह्म-रूप में पहिचाना (अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्)। (परिदृश्यमान विषय जगत् में 'अन्न' ही सबको व्याप्त करता हुआ, सबका आधार परिलक्षित होता है। किन्तु गति (अथवा क्रिया)—शून्य जड़ 'अन्न' जगत् में प्रतिक्षण होने वाली (परिवर्तन की) क्रिया की व्याख्या नहीं कर सकता, अतएव) पिता ने कहा, अभी और तप करो। इस बार पुत्र ने 'प्राण' (=Life, वह तत्त्व जो जीवों में उनके भोजन को रक्त, मज्जा आदि में बदलने का हेतु है) को ब्रह्म रूप में पहिचाना (प्राणं ब्रह्मेति व्यजानात्)। (जीव-सृष्टि की उत्पत्ति एवं स्थिति का आधार प्राण ही प्रतीत होता है, इसलिए, इस बार पुत्र ने 'प्राण' को ब्रह्म समझा। किन्तु, जड़ 'अन्न' एवं 'प्राण' मिलकर भी चैतन्य की व्याख्या नहीं कर सकते, अतएव) पिता ने कहा, अभी और तप करो। इस बार पुत्र ने 'मन' (Perceptual Consciousness, विषयों का ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय तथा मन की शक्ति) को ब्रह्मरूप में पहिचाना (मनो ब्रह्मेति व्यजानात्)। (निश्चय ही, 'मन', 'अन्न' तथा 'प्राण' से व्यतिरिक्त शक्ति है। चैतन्य (अर्थात् 'मैं' और 'तू' (subject and object) के ज्ञान) की प्रथम अभिव्यक्ति मन के स्तर पर ही होती है। इसलिए, इस बार पुत्र ने जड़ के स्तर से ऊपर उठकर 'मन' के रूप में चैतन्य को पहिचाना। किन्तु 'मन' विज्ञान (Intelligence) की व्याख्या नहीं कर सकता, अतएव) पिता ने कहा, अभी और तप करो। इस बार पुत्र ने 'विज्ञान' (Intelligence, चैतन्य अर्थात् वह शक्ति जो समस्त प्रतीतियों का आधार है) को ब्रह्मरूप में पहिचाना (विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्)। ('विज्ञान' की समस्त प्रतीतियां ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत (=भेद) को मान कर चलती हैं। 'विज्ञान' नाम-रूपात्मक जगत् में व्याप्त परमतत्त्व की अद्वैतता की व्याख्या नहीं कर सकता। (विश्व व्यापी) सत्ता की अद्वैतता इस बात की अपेक्षा रखती है कि हमें 'विज्ञान' के स्तर से ऊपर उठना चाहिए। अतएव) पिता ने कहा, अभी और तप करो। अन्ततः, इस बार पुत्र सही लक्ष्य पर पहुंच गया। उसने जान लिया कि 'आनन्द' (Pure Delight) ही ब्रह्म है (आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्)।

इस कथा में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं:—

1. ब्रह्म (अर्थात् पारमार्थिक सत्य) का ज्ञान सहसा नहीं होता; इसके लिए निरन्तर तप[2] करने की आवश्यकता है। उपनिषद् काल के ऋषियों ने भी लगातार तप करके इसे क्रमशः पहिचाना।

2. पुत्र (भृगु) ने स्थूल 'अन्न' से क्रमशः बढ़ते हुए 'प्राण', 'मन', 'विज्ञान' और अन्त में 'आनन्द' को ब्रह्मरूप में पहिचाना। इनमें से प्रत्येक उत्तरवर्ती तत्त्व अपने से पूर्ववर्ती की तुलना में अधिक व्यापक

---

1. इस उपनिषद् में आये हुए अन्न, प्राण, मन, विज्ञान तथा आनन्द शब्दों के लिए डॉ० राधाकृष्णन् ने क्रमशः Matter, Life, Perceptual Consciousness Intelligence तथा Delight अंग्रेजी रूपान्तर दिये हैं। यहां वे ही गृहीत हैं।

2. यह ध्यान देने योग्य है कि 'तप', उपनिषदों में, देह को सुखाने वाली अथवा कष्ट देने वाली क्रियाओं का नाम नहीं है। तप का अभिप्राय है डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में, "But 'tapas' only means the development of soul force, the freeing of the soul from slavery to body, severe thinking or energising of mind."
Indian Philosophy, Part I, p. 215

है। इसीलिए अन्त में जो 'आनन्द' को ब्रह्म कहा गया वह वस्तुतः सत्, चित् (स्वयं प्रकाश) आनन्द—(सुख-दुःख से अनिर्भिन्न केवल आनन्दरूप अनुभूति) स्वरूप है, क्योंकि विश्व की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय का आधार अद्वितीय ब्रह्म ही हो सकता है।[1]

इस प्रकार संक्षेप में परमतत्त्व सच्चिदानन्द है। हम (ससीम ज्ञान-सम्पन्न मनुष्य) भले ही इसे विषयी अथवा विषय की दृष्टि से आत्मा और ब्रह्म के रूप में पहिचानें, वस्तुतः यह एक है; जो आत्मा है सो ही ब्रह्म है, जो ब्रह्म है सो ही आत्मा है।

मनुष्य का समस्त ज्ञान मूलतः जीवन के लिए है—जीवन को सार्थक, पूर्ण, आनन्दमय बनाने के लिए। उपनिषदों का तत्त्व-चिन्तन भी जीवन-निरपेक्ष नहीं था, अपितु जीवन के लिए ही था। जैसा डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं "Their aim was not science or philosophy, but right living" (p. 145). स्वभावतः, औपनिषदिक विचारधारा का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है आचार-नीति (Ethics)।

कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि जब उपनिषदों के अनुसार परमतत्त्व एक ही है तब इनके अनुसार नैतिक सम्बन्धों की चर्चा के लिए कहाँ अवकाश है? जब शुद्ध-बुद्ध आत्मा सिद्ध सत्य है तब उसकी प्राप्ति के प्रयत्न की चर्चा का क्या औचित्य है? इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि उपनिषदों के अनुसार यह विविधता सम्पन्न जगत ब्रह्म द्वारा व्याप्त है; उपनिषद् कहीं भी यह नहीं कहते कि ब्रह्म अथवा आत्मा जगत् से बाहर है। जैसा डॉ० राधाकृष्णन् कहते हैं, उपनिषदों के अनुसार, "The finite is in the infinite. This Atman is the universe" (p 190)। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, सत्य के विभिन्न स्तर हैं, और तदनुसार सुख के भी विभिन्न रूप हैं। इनमें परम सत्य 'आनन्द' है और यही औपनिषदिक नैतिकता का लक्ष्य है।[2] यह सत्य सिद्ध है, इस दृष्टि से कि यह देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके सदा सर्वत्र विद्यमान है; किन्तु साथ ही, यह साध्य है, इस दृष्टि से कि मनुष्य को देश-काल की सीमाओं में बंधे हुए अपने ज्ञान (वास्तव में अज्ञान) से ऊपर उठकर इसे पहिचानना, अनुभव करना है। औपनिषदिक नैतिकता जीवात्मा के विकास का एक मार्ग है, जीवन की एक पद्धति है जिसमें अपने-पराये का भेद विलीन हो जाता है। जैसा ईशोपनिषद् कहता है, "यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो नविजुगुप्सते ।। यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (6, 7)। औपनिषदिक विचारधारा का यह अद्भुत विरोधाभास है कि एक ओर यह प्रत्येक मनुष्य को 'आत्म-ज्ञान' के रूप में स्वार्थ-चिन्तन का उपदेश देती है और दूसरी ओर आत्म-ज्ञान के फलस्वरूप स्वार्थ और परार्थ के भेद को ही समाप्त कर देती है।[3]

देह और (प्रकृति के अनुसार—देखिये, "न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्") देह से किये जाने वाले कर्मों के प्रति उपनिषदों की एक विशिष्ट किन्तु अत्यन्त स्पष्ट दृष्टि है। यह देह केवल जीवात्मा का बन्धन, उसका कारागार नहीं

---

1. यह हम पीछे आत्मा के विचार में देख चुके हैं कि सत्, चित् और आनन्द परमतत्त्व के तीन लक्षण नहीं हैं, अपितु एक ही हैं क्योंकि जो परमतत्त्व सत् है, वही चित् है और वही आनन्द है।

2. इसी दृष्टि से उपनिषदों में ऐहिक और आमुष्मिक सुख-भोगों की तुच्छता तथा हेयता कही जाती है। इसी दृष्टि से ब्रह्म-प्राप्ति के लिए आवश्यक कहे जाने वाले साधन-चतुष्टयों में 'इहामुत्रफलभोगविरागः' की गिनती की जाती है।

3. तुलना कीजिये—"In one sense the Upanisad morality is individualistic, for its aim is self-realisation; but 'individualistic' ceases here to have any exclusive meaning. To realise oneself is to identify oneself with a good that is not his alone."

Dr. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Part I, p. 212.

है[1]; यह जीवात्मा का सेवक, उसकी कार्य-सिद्धि का साधन है। देह के द्वारा जीवात्मा जगत् में नानाविध कर्म करता है। जब तक जीवात्मा के द्वारा निज को शेष से भिन्न समझते हुए (अहं-भावना अथवा आसक्ति के साथ) कर्म किये जाते हैं तब तक (अज्ञान प्रेरित) वे कर्म, निश्चय ही, बन्धन का हेतु होते हैं; किन्तु जब जीवात्मा निखिल विश्व में व्याप्त एक ही परम-तत्त्व को देखता हुआ अनासक्त भाव से कर्त्तव्य रूप में कर्म करता है तब कर्म का कोई बन्धन नहीं होता (देखिये—ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।। कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। ईशोपनिषद् 1, 2)। इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने योग्य बात है कि कोई भी कर्म अपने आप में न अच्छा है, न बुरा, न कल्याणकारी और न ही अकल्याण-कारी। वस्तुतः कर्म का स्वरूप-निर्धारण करने वाली है वह भावना जो जीवात्मा में कर्म की प्रेरणाशक्ति के रूप में विद्यमान रहती है। शास्त्र अथवा महापुरुष का केवल बाहर से अनुवर्तन तब तक श्रेयस्कर नहीं हो सकता जब तक कि वह ज्ञानजनित अन्तःप्रेरणा से स्वभाव रूप में आचरित न हो। स्पष्ट ही, कर्म के लिए ज्ञान की अपरिहार्य उपादेयता है, और इस सन्दर्भ में ज्ञान का अर्थ है "अपने अन्दर और बाहर एक ही सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का दर्शन (देखिये—तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः, ईशोपनिषद् 5)।"

जगत् में यदि हम मनुष्यों का व्यवहार देखें तो हमें स्पष्टतः उनकी तीन श्रेणियां दिखाई देंगी : 1. प्रथम ऐसे मनुष्य जो अहंभाव से प्रेरित होकर विषयभोग की लालसा से कर्म करते हैं। निश्चय ही, ये यदि कोई अच्छा कर्म करते हैं तो उसके मूल में लोभ (जैसे स्वर्गादि की प्राप्ति) अथवा भय (जैसे नरक आदि का) विद्यमान रहता है। 2. दूसरे ऐसे मनुष्य जो शास्त्रादि से शुभ कर्म को जानकर बलात् अपनी प्रवृत्तियों का निग्रह करके आयासपूर्वक शास्त्रों के निर्देशों का पालन करते हैं। 3. तीसरे वे द्वन्द्वातीत शान्तात्माएं जो जीवन के चरमोद्देश्य को साक्षात् देखते हुए आन्तरिक प्रेरणा से स्वभाव रूप में शुभ आचरण करते हैं। निश्चय ही, औपनिषदिक नैतिकता का लक्ष्य यह तृतीय श्रेणी की कर्म-प्रवृत्ति है (तुलना कीजिये—गीता XVIII 23-25)।

[खण्ड II]

उपलब्ध उपनिषदों की विपुलता तथा इनमें न केवल ब्राह्मणों एवं ब्रह्मचारियों की अपितु गृहस्थों (शौनको ह वै महाशालः—मुण्डक I 1/3), वानप्रस्थों, संन्यासियों (अत्याश्रमिभ्य—श्वेताश्वतर VI 21), क्षत्रिय राजाओं (जनक), राजकुमारों (हिरण्यनाभः कोसल्यो राजपुत्रः— प्रश्न VI 1), स्त्रियों (सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृतां स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति—बृ० IV 5/4) तथा दासी पुत्रों (सत्यकाम जाबाल—बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे छा० IV 4/2) की भी एकान्त रूप से प्रकट की गई तत्त्व-जिज्ञासा यह सिद्ध करती है कि श्रुति के अन्तिम चरण में भारतीय समाज व्यापक रूप से जीवन के सत्य को खोजने में लगा हुआ था। निश्चय ही, ज्ञान की यह लहर क्रमशः काल के पारावार में विलीन हो गई किन्तु साथ ही यह इस देश के जीवन पर ऐसी गहरी और व्यापक छाप छोड़ गई जो शताब्दियों के बीत जाने पर भी अमिट है।

औपनिषदिक विचारधारा का सबसे महत्त्वपूर्ण देन है 'पुरुषार्थ कल्पना'।[2] इस कल्पना के अन्तर्गत जिन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया जाता है उनमें मानव की यावन्मात्र कामनाएं समाविष्ट हैं। यह कल्पना एक ओर ठोस यथार्थ को स्वीकार करती हुई 'अर्थ' और 'काम' को पुरुषार्थ (अर्थात् मानव जीवन का लक्ष्य) की प्रतिष्ठा प्रदान करती है और दूसरी ओर चरम आदर्शवादिता का प्रदर्शन करती हुई 'धर्म' से भी आगे 'मोक्ष' को परमपुरुषार्थ घोषित करती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुरुषार्थ-कल्पना में चारों में से न किसी एक को

1. जो लोग देह को आत्मा का कारागार मानकर आत्महत्या (suicide) के द्वारा आत्मा को बन्धनमुक्त करने का प्रयास करते हैं वे घोर अंधियारे में डूबते हैं। ईशोपनिषद् (3) कहता है, "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।"

2. पुरुषार्थ-कल्पना के लिए देखिये पाठ 2।

भी परिहार्य स्वीकार किया जाता है और न किसी एक को ही ग्राह्य अथवा उपास्य माना जाता है। जीवन के प्रति समग्रता की यह दृष्टि उपनिषदों की ही देन है।

बहुधा विद्वानों में भी यह भ्रम है कि ज्ञान और कर्म में अहिनकुलवत् स्वाभाविक विरोध है। उपनिषदों की दृष्टि इस विषय में नितान्त निर्भ्रान्त है। निज को विश्वात्मा से पृथक् अनुभव करते हुए अहं-भावना से प्रेरित होकर स्वार्थ-साधना के निमित्त जो भी कर्म किया जाता है वह (अविद्याजनित होने के कारण), निश्चय ही, बन्धन का कारण बनता है[1]; इसके विपरीत अन्तरात्मा का विश्वात्मा में तथा विश्वात्मा का अन्तरात्मा में दर्शन करते हुए विश्व-कल्याण की भावना से जो कर्म किया जाता है वह न केवल ज्ञान का अविरोधी है अपितु वह (स्वाभाविक होने के कारण) आवश्यक एवं अपरिहार्य है (देखिये—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे—ईश० 2 । पुरुषार्थ-कल्पना में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग इसी भाव को अद्भुत रूप में व्यक्त करता है। अर्थ्यते काम्यते इति अर्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ शब्द पुरुष (अर्थात् मनुष्य के जीवन) के लक्ष्य का वाची है। साथ ही, लक्षणा शक्ति से यह उस उद्यम अथवा पुरुषकार (= पुरुषार्थ) का भी वाची है जो उस लक्ष्य-प्राप्ति का साधनभूत है। अतएव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ केवल जानने या स्वीकार करने के आदर्श नहीं हैं अपितु मानव उद्यम के द्वारा साध्य जीवन के लक्ष्य हैं। कर्म-फल के प्रति अनासक्त होकर केवल कर्तव्य-भावना से कर्म करना यह 'निष्काम कर्मयोग' उपनिषदों की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पुरुषार्थ-चतुष्टय में धर्म तथा मोक्ष की विशिष्ट अवधारणाएं हैं जो प्रत्यक्ष ही औपनिषदिक विचारधारा से प्रभावित एवं निष्पन्न हैं। पहले धर्म की अवधारणा पर विचार करें। सामान्यतः धर्म शब्द अंग्रेजी के 'रिलिजन' शब्द का प्रति रूप माना जाता है। अंग्रेजी के 'रिलिजन' का लक्षण इस प्रकार दिया जाता है :—Religion in its widest sence includes on the one hand the conception which man entertains of the divine or supernatural powers and on the other hand, that sense of dependence of human welfare on these powers which finds its expression in various forms of worship. स्पष्ट ही, इस लक्षण में तीन तत्त्व हैं : 1. दिव्य अथवा अलौकिक शक्तियों में विश्वास; 2 मानव कल्याण की इन शक्तियों पर निर्भरता की भावना; 3. पूजा के विविध रूप (जिनके द्वारा, ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये शक्तियाँ अनुकूल होकर मानव-कल्याण का निष्पादन करेंगी। थोड़ा सा भी विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रिलिजन' के इस लक्षण में मूल-तत्त्व है 'मानव-कल्याण' जिसकी सिद्धि (मानव उद्यम से असंभाव्य प्रतीत होने पर) दिव्य शक्तियों की कृपा से संभाव्य मानी जाती है, और तब, स्वभावतः, पूजा के विविध रूपों के द्वारा उन शक्तियों को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जाता है। विचार करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'रिलिजन' की इस सम्पूर्ण अवधारणा में मानव को एक नितान्त दीन-दुर्बल प्राणी के रूप में स्वीकारा गया है जो अपनी कामनाओं से विवश होकर दीनता-पूर्वक दिव्य शक्तियों का अवलम्ब खोजता है। हम देख चुके हैं कि औपनिषदिक दृष्टि तत्त्वतः इससे भिन्न, इसके विपरीत है। उपनिषद् (तत्त्वतः) मनुष्य को सच्चिदानन्दस्वरूप मानते हैं। वे कहते हैं, "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" (ईश० 16), "ब्रह्मणः कोशोऽसि" (तैत्ति० 1 4/1)। अतएव उनकी दृष्टि में, यह दैन्य (अज्ञानजनित होने के कारण) मानव के विरुद्ध एवं असङ्गत है।[2]

1. ऐहिक (वित्त, पुत्र आदि) तथा आमुष्मिक (स्वर्गादि) फलों के प्रति आसक्ति के कारण उनकी प्राप्ति के साधन के रूप में जो यज्ञ-यागादि किये जाते हैं उनकी निन्दा उपनिषदों में इसी कारण की गई है। ऐसे प्रसङ्गों में कर्म शब्द विशिष्ट (सङ्कीर्ण) अर्थ में प्रयुक्त होता है और इसीलिए उसका ज्ञान से विरोध है।

2. देखिये E W Hopkins की रोचक टिप्पणी—In the vedic hymns man fears the gods and imagines God. In the Brahmanas man subdues the gods, and fears God In the Upanishads man ignores the gods, and becomes God.——History of Religions, p. 2/6.

संस्कृत साहित्य में धर्म शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के समय से ही दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद की ऋचाओं में यह शब्द नपुंसकलिङ्ग (धर्मन् के रूप में) तथा पुल्लिङ्ग में भी प्रयुक्त हुआ है, यह विशेषण के रूप में भी आया है तथा संज्ञा के रूप में भी। डॉ० काणे के अनुसार पूर्व-वैदिक-साहित्य में धर्म शब्द के अर्थ हैं—(i) धार्मिक विधियाँ अथवा धार्मिक क्रिया संस्कार, (ii) निश्चित नियम अथवा आचरण-नियम, (iii) धार्मिक क्रिया-संस्कार करने से अर्जित पुण्य अथवा गुण, (iv) सकल धार्मिक कर्तव्य[1]। यह शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसके अर्थ हैं 'धारण करना', 'अवलम्ब देना', 'पालन करना'। इस दृष्टि से धर्म शब्द का एक प्रमुख अर्थ है, "वह आन्तरिक तथा नैसर्गिक तत्त्व जिस पर किसी भी पदार्थ की सत्ता निर्भर करती है।" उदाहरण के लिये अग्नि का धर्म है 'दाहकता', जल का 'आर्द्रता', सिंह का 'हिंसा-वृत्ति' आदि। इन पदार्थों में दाहकता आदि धर्म बाहर से अर्जित अथवा आरोपित गुण नहीं हैं अपितु आन्तरिक, सहजात, अभिन्न लक्षण हैं; स्पष्ट ही इनका अग्नि, जल, सिंह आदि पन इनके दाहकता, आर्द्रता, हिंसकता आदि के साथ अनन्य रूप से जुड़ा हुआ है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म एक सर्वव्यापक तत्त्व है जो समस्त सृष्टि को धारण किये हुए है। महाभारत में धर्म का सुप्रसिद्ध लक्षण इसी दृष्टि से किया गया है। कर्णपर्व में कहा गया है, "धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः। यत्स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः" (म० भा० VIII 69/58)।

धर्म के इस लक्षण की दो विशेषताएं हैं—1. व्यापकता तथा 2. अवलम्बकता। अपनी व्यापकता में धर्म समस्त सृष्टि और उसके व्यवहार को समेटे हुए है। जड़ अथवा चेतन, स्थूल अथवा सूक्ष्म, मनुष्य अथवा देवता, स्त्री अथवा पुरुष, बाल अथवा वृद्ध, राजा अथवा प्रजा—कोई भी धर्म की परिधि से बाहर नहीं है[2]। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का सुनिश्चित, सुनिर्धारित धर्म का पालन होने से ही उस पदार्थ को (और उसके सम्बन्ध से शेष सृष्टि को) अपनी स्थिति में बने रहने का अवलम्ब मिलता है। यदि किसी भी कारण से कोई भी निज-धर्म का पालन नहीं करता तो वह इस धर्म-लोप से अपनी स्थिति से भ्रष्ट होता है (और दूसरी ओर सृष्टि-व्यापार में बाधा उपस्थित करता है।[3] धर्म की इस अवधारणा को प्राचीन भारत के समाजशास्त्रियों ने (=धर्मशास्त्रकारों ने) मानवसमाज के लिये एक ठोस रूप में विकसित तथा प्रतिष्ठित किया। उन्होंने धर्मशास्त्र में विशेष-धर्म और साधारण-धर्म के नाम से धर्म को दो भागों में बांटा। इनमें से प्रथम (अर्थात् विशेष धर्म) की विशिष्टता देश, काल और अधिकारी के भेद के आधार पर परिकल्पित हुई जबकि द्वितीय (अर्थात् साधारण धर्म) सभी स्थानों पर, सभी कालों में सभी व्यक्तियों के लिये मान्य स्वीकार किया गया। इस साधारण धर्म में आचरण के नैतिक आदर्श स्वीकार किये गये जो एक ओर मानवसमाज के सुचारू व्यवहार के लिये परमावश्यक हैं और दूसरी ओर मानवता के गौरव के परिचायक हैं। मनुस्मृति में (VI 92) "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्" के रूप में इन नैतिक आदर्शों का सामान्य निर्देश है। सब अवस्थाओं में मनुष्यमात्र से इनके पालन की अपेक्षा की जाती है। मनुष्यों की आन्तरिक प्रवृत्तियों तथा क्षमता के भेद को और साथ ही लोक-व्यवहार में देश-काल के भेद से उत्पन्न होने वाले गुणात्मक अन्तर को दृष्टि में रखकर विशेष धर्म की कल्पना की गई। धर्म-शास्त्रों में विशेष धर्म का आधार बनाई गई 'वर्ण' तथा 'आश्रम' नाम की दो व्यवस्थाएं जो क्रमशः मनुष्य के सामाजिक तथा वैयक्तिक हितों को दृष्टि में रखकर परिकल्पित हुई थीं। इन व्यवस्थाओं की अद्भुत विशेषता यह थी कि ये मनुष्य के सम्पूर्ण वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को अपने में समाविष्ट किये हुए निरन्तर ऐसी

---

1. देखिये डॉ० पाण्डुरङ्ग विनायक काणे का 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (हिन्दी) प्रथम भाग, पृ० 3-4

2. मनुष्य के सन्दर्भ में धर्म उसके जीवन के हर पक्ष और हर अवस्था में उसका आधार होता है। इसी दृष्टि से पितृधर्म, मातृधर्म, सन्तानधर्म, स्वामिधर्म, सेवकधर्म, नृपधर्म, प्रजाधर्म, वैद्यधर्म, आतुरधर्म आदि असंख्य धर्मों की कल्पना की जाती है।

3. इसी दृष्टि से कहा जाता है, "धर्म एवं हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।"
यह उल्लेखनीय है कि धर्म की यह अवधारणा वैदिक काल की 'ऋत' की अवधारणा का ही रूपान्तर है।

समानान्तर चलतीं थीं कि कभी भी मनुष्य के सामाजिक तथा वैयक्तिक हितों में टकराव उपस्थित नहीं होता था। जगती के कल्याण के लिये हर व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती थी कि विशुद्ध कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर वह स्वधर्म का पालन करे— भय अथवा लोभ के कारण न तो स्वधर्म का परित्याग करे और न ही परधर्म को अङ्गीकार करे। भारतीय परम्परा में धर्म की यह अवधारणा तथा उसके पालन करने में निःसङ्ग निष्ठावृत्ति ये दोनों ही औपनिषदिक विचारधारा से प्रभावित हैं।

पुरुषार्थ परम्परा में धर्म के साथ जुड़ी हुई है मोक्ष की कल्पना। मोक्ष शब्द 'मोक्ष्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगकर बना है। इसका सामान्य अर्थ है 'छुटकारा'। पारिभाषिक दृष्टि से मोक्ष का अर्थ 'आत्मा का देह के बन्धन से आत्यन्तिक छुटकारा', 'आत्मा का संसार-चक्र से छुटकारा', 'आत्मा का अज्ञान अथवा अविद्या से छुटकारा', 'जीवात्मा का सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म में लीन होना' आदि लिया जाता है। शब्दों की दृष्टि से ये अर्थ भले ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हों, किन्तु तत्त्वतः ये एक ही हैं। परमार्थतः मोक्ष की कल्पना के मूल में निहित है (जीव +) आत्मा, परमात्मा तथा जगत् के प्रति विशिष्ट दृष्टि। उपनिषदों में हम देख चुके हैं, नामरूप के भेद से दृष्टिगोचर होने वाली जगत् की विविधता असत्य स्वीकार की गई है किन्तु ब्रह्म अथवा परमात्मा से व्याप्त जगत् सत्य स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार, यह भी स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है कि देह से परिच्छिन्न जीवात्मा जब तक अपने को शेष से भिन्न अनुभव करता है तभी तक वह योग-क्षेम की भावना से प्रेरित होकर नानाविध कामनाओं के जाल में भटकता है।[1] और परिणाम में शोक और मोह से ग्रस्त रहकर नानाविध दुःख भोगता है। मोक्ष का, इसलिये, एक ही अर्थ है तद्यथा 'जगत् में नामरूप के भेद के पीछे एक परमात्मा का दर्शन तथा जीवात्मा में अहं-भावना का विसर्जन करके विश्वात्मा (=परमात्मा) का दर्शन।[2] इस मोक्ष की साधना अथवा प्राप्ति का अर्थ है अविद्यारूप भेदबुद्धि से ऊपर उठकर विश्व के साथ अभेद अथवा तादात्म्य की अनुभूति। निश्चय ही, यह जगत् से बाहर अथवा मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होती है यह मानना कोरा भ्रम ही है। इसी प्रकार शरीर को यातनाएं देकर इसकी प्राप्ति होती है यह मानना भी वैसा ही भ्रम है। मोक्ष, वस्तुतः, (जीव +) आत्मा के पूर्ण परिष्कार की स्थिति[3] है जो ज्ञान का ही फल है। [इसलिये कहा जाता है, ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः]। स्पष्ट ही, यह समूची मोक्ष-कल्पना उपनिषदों से ही उपजी है।

इस पर्चे के पहले पाठ में हम देख चुके हैं कि संस्कृति का अर्थ है 'जीवन की समझ"। दूसरे पाठ में हमने देखा है कि कर्तव्यभावना से धर्म, अर्थ तथा काम का सेवन करते हुए अन्त में परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति, भारतीय संस्कृति में, मानव जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया गया है। अब इस पाठ में, ऊपर की गई चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि चतुर्वर्ग अथवा पुरुषार्थ-चतुष्टय की, इस रूप में आविष्कृति एवं स्वीकृति औपनिषदिक विचारधारा

---

1. कठोपनिषद् (12/1-2) इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिये श्रेयमार्ग और प्रेयमार्ग का प्रतिपादन करता है। परमपुरुषार्थ की प्राप्ति धीर व्यक्ति को ही होती है (श्रेय आददानस्य साधु भवति) जबकि मन्दबुद्धि लोग भोग की लालसा से प्रेयमार्ग को चुनकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं (हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते)।

2. देखिये—"Mokṣa literally means release, ralease from the bondage to the sensuous and the individual, the narrow and the finite', Dr. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Part I, p. 209.

3. तुलना कीजिये— 'The path of deliverance is the path of soul growth" (p 209) तथा, "We have different kinds of pleasures answering to the different levels of our existence the vital pleasure, the sensuous, the mental and the intellectual, but the highe t is ananda.' (208) Dr. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Part I, pp. 209, 208.

ना ही परिणाम है। इस प्रसङ्ग में यह निर्देश करना उपपन्न होगा कि जीवन की यह समझ भारतभूमि पर प्राचीन काल में भारतीय मनीषियों के द्वारा उद्भावित होने पर भी देश, काल और जाति की सीमाओं को अतिक्रान्त करती हुई विशुद्ध रूप से मानव कल्पना, मानव आकांक्षा, मानव आदर्श की पराकाष्ठा को निरूपित करती है अतएव यह सार्वदेशिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन है। इसीलिये और इसी अर्थ मे इसे 'सनातन संस्कृति' भी कहा जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Indian Philosophy, S. Radhakrishnan
2. भारतीय दर्शन, श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त
3. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पाण्डुरङ्ग विनायक काणे

पाठ १२

उपनिषदों का सामान्य परिचय

—श्री चन्द्रकान्त दवे

वेद के अन्तिम भाग को उपनिषद् कहा गया है। जो तत्त्व समग्र वेदों में अनुस्यूत है उसी ब्रह्म तत्त्व की विशद एवं सार भूत विवेचना उपनिषदों में की गयी है। वस्तुतः उपनिषद् वैदिक विषय वस्तु का उपसंहार है। आध्यात्मिक तत्त्वों के गूढ़ रहस्यों का हृदयस्पर्शी बोधगम्य भाषा में यहाँ उद्‌घाटन किया गया है। इसीलिए उपनिषदों को भारतीय तत्त्व-ज्ञान का मूलस्रोत माना जाता है। जर्मन विद्वान् शॉपेन हॉवर ने उपनिषदों को विश्व में सर्वोच्च, उदात्त एवम् अत्यन्त लाभप्रद अध्ययन की वस्तु घोषित किया है :

"In the world there is no study...so beneficial and so elevating as thal of Upanishads .. (They) are a Product of highest wisdom···it is destined sooner or later to become the faith of the People."

वस्तुतः उपनिषद् विचारधारा ही सार्वजनीन धर्म का रूप ले सकती है। वैदिक औपनिषद् विचारधारा पर आधारित धर्म ही शाश्वत है। यही सनातन धर्म भी कहलाता है। वैदिक दर्शन का आचार शास्त्र ही धर्म की संज्ञा से अभिहित किया गया है। वैचारिक पृष्ठभूमि दर्शन है तो आचार भूमि धर्म।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उपनिषद् शब्द का अर्थ सामान्यतः विद्वज्जन, उस शास्त्र के अर्थ में किया करते हैं जिसका गुरु के समीप जाकर अध्ययन किया जाये। उप शब्द का अर्थ समीप होता है। किन्तु भारतीय पारम्परिक शास्त्रीय मान्यता के अनुसार सभी शास्त्रों, वेदों तथा वेदांगों के अध्ययन के लिए गुरुपसदन की ही विधि बतलायी गयी है। उसी के अनुसार गुरुकुल में जाकर उनके अध्ययन करने का विधान है।

भगवान् आद्य शंकराचार्य ने कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति तथा व्याख्या दी है तदनुसार यह शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक षद् धातु से क्विप् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है।

षद् धातु के तीन अर्थ होते हैं--(1) विशरण=विनष्ट होना, (2) गति=प्राप्ति, (3) अवसादन=शिथिल करना। इन तीनों ही अर्थों में उपनिषद् शब्द ब्रह्म विद्या या अध्यात्मविद्या के ही अर्थ में प्रयुक्त होते हुए तत्प्रतिपादक ग्रन्थ परक भी होता है।

"उपनिषच्छब्देन व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसार-बीजस्य विशरणाद्=हिंसनाद विनशनाद् विद्या उपनिषद्।" मुमुक्षुन्वा परब्रह्म गमयतीतिब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्या उपनिषद्। गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य अवसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थ योगादग्निक्रियाप्यु-पनिषद्। आयुर्वै घृतमितिवत् विद्यायां मुख्यया वृत्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्या।" कठ० उ० सम्बन्धभाष्य।

उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार अविद्या काम कर्मादि क्लेशबीज का विनाश, मुमुक्षुओं को ब्रह्म प्राप्ति तथा गर्भ-वास जन्म, जरा, मृत्यु-चक्र को शिथिल करने के कारण ब्रह्मविद्या, अध्यात्मविद्या अथवा द्वितीय वर के रूप में नचिकेता

द्वारा प्रापणीय अग्नि विद्या उपनिषद् है । प्रमुख रूप से शब्द, घृत ही आयु है इस लौकिक कथन के अनुसार उपनिषद् शब्द ब्रह्मविद्या अर्थ में तथा गौण रूप से ग्रन्थ अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

उपनिषदों की संख्या

उपनिषद् साहित्य अत्यन्त विशाल है । वैसे उपलब्ध उपनिषदों की संख्या लगभग दो सौ से भी अधिक है । किन्तु सम्पूर्ण उपनिषद् वाङ्मय के दो भाग किये जा सकते हैं । तेरह प्रमुख उपनिषद् तथा उनके अतिरिक्त अन्य सभी गौण उपनिषद् अथवा साम्प्रदायिक उपनिषद् । ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि, प्रश्न, मैत्री और श्वेताश्वतर ये तेरह प्रमुख हैं । अन्य उपनिषदों का विभाजन विषय अथवा सम्प्रदायानुसार है जैसे—शैव उपनिषद्, वैष्णवोपनिषद्, शाक्तोपनिषद्, योगोपनिषद्, सामान्य वेदान्तोपनिषद् आदि ।

काल

रामचन्द्र द० रानाडे के अनुसार उपनिषद्, जो प्राचीन एवं प्रामाणिक माने जाते हैं, वे कालक्रम की दृष्टि से पाँच भागों में विभक्त किये जा सकते हैं यद्यपि इदमित्थम् रूप से उपनिषद् के काल का निर्णय अत्यन्त कठिन है और सम्भव भी नहीं हो पाया है ।

(1) बृहदारण्यक, छान्दोग्य-प्राचीन गद्य उपनिषद्

(2) ईश और केन

(3) ऐतरेय और तैत्तिरीय, कौशीतकि

(4) कठ, मुण्डक और श्वताश्वतर

(5) प्रश्न, मैत्री और माण्डूक्य ।

श्री रानाडे के अनुसार यद्यपि किसी भी उपनिषद् का ठीक-ठीक रचना काल निश्चित करना कठिन है फिर भी ईसवी पूर्व 12वीं शती से लेकर छठी शती को उपनिषद् काल की दो सीमाएं माना जा सकता है । प्रमुख उपनिषदों की रचना बुद्ध से पूर्व ही हो चुकी थी किन्तु परवर्ती उपनिषद् उस समय रचे गये जब भारत में बौद्ध धर्म का बीज अंकुरित हो रहा था और सांख्य और योग दर्शन एक सुव्यवस्थित रूप ले रहा था । ईश्वरीय रहस्यवाद एवं निरीश्वरवादियों के मुख मर्दन के लिए श्रीमद्‌भगवद् गीता की रचना हो रही थी ।

प्राचीन भारतीय विचारधारा के अनुसार वेद अपौरूषेय माने जाते हैं । तथा मन्त्र ब्राह्मणात्मक समग्र वाङ्मय ही वेद-राशि है । ब्राह्मण भाग का ही एक अंश विशेष उपनिषद् है । जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का एक अंश है । ईशोपनिषद् यजुर्वेद संहिता के अन्तर्गत है । केनोपनिषद् सामवेदीय तलवकार शाखा का नवम अध्याय है । इसी प्रकार छान्दोग्य भी सामवेदीय तलवकार ब्राह्मण का उपनिषद् है । कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत कठोपनिषद् है । प्रश्न एवं माण्डूक्य अथर्ववेदीय ब्राह्मण भाग के तथा मुण्डक अथर्ववेदीय मन्त्र भाग के उपनिषद् हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि मुक्तिकोपनिषद् में उल्लिखित तेरह उपनिषदों को अपौरूषेय वेद का अपौरूषेय अंग मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए । यद्यपि भाषा, शैली, शब्दावली, व्याकरण के प्रयोग आदि द्वारा उपनिषदों के काल परीक्षण की पर्याप्त चेष्टा की गयी । ड्यूसन, पहले सर्व प्राचीन गद्य, पुनः पद्य तथा तदनन्तर गद्य इस प्रकार उपनिषद् के तीन काल स्तरों की कल्पना करते हैं जो आज के विद्वानों का आलोच्य विषय बनी हुई है । यह कल्पना रानाडे के अनुसार असंगत प्रतीत होती है । फिर भारतीय परम्परा को ही क्यों न स्वीकार कर लिया जाये । रही शब्दावली एवं व्याकरण की बात तो यह सम्पादन और लेखन का चमत्कार है । वेद उपनिषद् सभी मौखिक परम्परा का अंग है; और जब वे लेख

बद्ध होने लगे तब एक प्रतिलिपि से दूसरी प्रतिलिपि और उससे तीसरी, इस प्रकार लिखित भूर्ज पत्र, ताड़ पत्र, आदि में कीट भक्षित भी अनेक अंश हो सकते हैं। और वहां स्व स्व बुद्धि के अनुसार लेखकों ने क्वचित् कोई शब्द योजना कल्पित कर ली हो तो कोई असम्भव बात नहीं। अत: प्राचीन त्रयोदश या एकादश उपनिषदों के विषय से कालनिर्णय में काल-यापन की चेष्टा औपनिषद् ब्रह्मानन्द से च्युत होकर माया व्युत्थान में पतित होने की चेष्टा ही प्रतीत होती है। हां, जब अनेक उपासना सम्प्रदाय व्यूह बद्ध हो रहे थे तब अर्वाचीन उपनिषदों की रचना हो रही थी और हुई है। इसमें दो मत नहीं हो सकते। मुक्तिकोपनिषद् उपनिषदों की केवल 108 संख्या का निर्देश करता है। यद्यपि प्रत्येक वेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं के अनुसार उनसे पृथक् पृथक् उपनिषद् होने चाहिए, तथापि वे उपलब्ध नहीं। अतः सम्प्रति सारभूत 108 उपनिषद् हैं। जिनमें ऋग्वेद से संबद्ध 10 उपनिषद्, शुक्ल यजुर्वेद से संबद्ध 19 उपनिषद्, कृष्ण यजुर्वेद से संबद्ध 33 उपनिषद्, सामवेद के 16 उपनिषद् तथा अथर्ववेद के 31 उपनिषद् हैं। इस विषय में विद्वत्समुदाय में मुक्तिको-निषद् का निम्न श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है।

सर्वोपनिषदा मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्।
सकृच्छ्रवण मात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्॥

श्री शंकराचार्य और उपनिषद्

भगवान् आद्यशंकराचार्य ने ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय; नृसिंहपूर्वतापनीय, तथा श्वेताश्वतर पर भाष्य लिखा है। कतिपय विद्वान् श्वेताश्वतर के भाष्य को आद्यशंकराचार्य कृत नहीं मानते किन्तु आचार्य पीठस्थ परवर्ती शंकराचार्य की कृति मानते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् के भाष्य पर सुरेश्वराचार्य (मण्डनमिश्र) का श्लोकबद्ध वार्तिक भी उपलब्ध होता है। बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक तो अद्वैत सम्प्रदाय का प्राण भूत है ही, क्योंकि इसके अध्ययन के बिना अद्वैत वेदान्त का अध्ययन अध्यापन पूर्णतः अपूर्ण ही रहता है। शंकराचार्य के भाष्य के कारण, इन उपनिषदों की अध्ययन अध्यापन में बहुत महत्ता है। इसीलिए ये उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन भी हैं। अन्यान्य बहुसंख्यक उपनिषद् जिनका प्रतिपाद्य विषय वेदान्त अथवा आत्मा, जीव, ब्रह्म का स्वरूप, तथा तदनुसार सृष्टि मुक्ति नहीं, किन्तु शिव, विष्णु शक्ति परक हैं, उनकी रचना शनैः शनैः, अनेक शताब्दियों में जाकर हुई होगी ऐसी कल्पना विचारक गण करते आये हैं।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय

प्रमुख तात्पर्य : सभी उपनिषदों में एक ही तत्त्व की ध्वनि, प्राय: उनका विश्लेषण करने पर, प्रवाहित होती प्रतीत होती है। वह है एकेश्वर वाद का एक अखण्ड ब्रह्म की सर्वकारण कारणत्वेन सत्ता। वही ब्रह्म सर्वत्र ब्रह्माण्ड में ओत प्रोत है। उसी की सत्ता से समग्र विश्व सत्तावान् है, स्थित है, उसी के प्रकाश से प्रकाशित होता है। ("तस्य भासा सर्वमिदं विभाति") उसी में पुष्ट होता है एवं उसी में लीन भी होता है।

उपनिषदों में अद्वैतवाद परक वाक्य, विशिष्टाद्वैत परक वाक्य, द्वैत (मध्व) परक वाक्य, सभी प्रकार के मतों के परिपोषक वाक्य उपलब्ध होते हैं। सभी आचार्य, शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ आदि, उपनिषदों में अपने-अपने मत के पारिपोषक एवं प्रतिपादक वाक्यों को प्रधान मानकर इतर वाक्यों को गौण मानते हुए उनके साथ समन्वय का प्रतिपादन अपने अपने टीका ग्रन्थों में करते आये हैं।

आधुनिक विद्वानों एवं विचारकों के अनुसार उपनिषद्, सभी प्रकार के प्रचलित परवर्ती दार्शनिक विचारों का कोषागार हैं। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, भेदाभेद, अजातिवाद (माण्डूक्य उपनिषद्कारिका) तो वहां हैं ही किन्तु इसके अतिरिक्त जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि नास्तिक मत मतान्तरों के भी बीज भूत मूल सिद्धान्तों की झलक हमें उपनिषदों में प्राप्त हो जाती है। वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द ने इसे वेदान्तसार में दर्शाने की चेष्टा भी की

है। वस्तुतः उपनिषद् वैदिक ऋषियों के आध्यात्मिक चिन्तन, मनन अनुभव और परस्पर विचार मन्थन से उत्पन्न अनुपम नवनीत है। सर्वोच्च ऋतम्भरा आर्षप्रज्ञा का प्रकृष्ट विस्तृत मूर्तिमान् विग्रह है।

वैदिक सिद्धान्त ही उपनिषद् सिद्धान्त : उपनिषदों को वेदान्त अर्थात् वेद का अन्तिम भाग इसीलिए कहा गया है कि वेदों के आध्यात्मिक सिद्धान्त का ही निष्कर्ष ऊहापोह पूर्वक उपनिषदों में प्रतिपादित किया गया है। और यह वेदों का सारभूत सिद्धान्त है एकेश्वरवाद जिसका प्रतिपादन वेदों में यत्र तत्र सर्वत्र तथा उपनिषदों में भी मुख्य तात्पर्य के रूप में किया गया है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान वेदों में बहुदेव वाद, एकदेव वाद, सर्वेश्वरवाद आदि अनेक वादों की कल्पना करते हैं, किन्तु भारतीय दृष्टि और परम्परा के अनुसार तो वेदों में अथवा उपनिषदों में एक ईश्वर, एकदेव अथवा चराचर जगत की अधिष्ठातृ एक पूर्ण सत्ता, जिसे उपनिषदों में ब्रह्म नाम दिया गया, का ही सर्वत्र प्रतिपादन है। समग्र वैदिक वाङमय का विश्लेषण करने पर यही एकमात्र मुख्य उद्देश्य प्रतीत भी होता है। यही नहीं, यास्क, शौनक प्राचीन वैदिक विश्लेषण व्याख्याता ऋषि महर्षियों का भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है। यह मानना भूल होगी कि आद्य शंकराचार्य ही वेदों में एक 'ब्रह्मवाद के तत्वानुसन्धाता है"। यास्क महर्षि ने निरुक्त में लिखा है कि एक ही देवता का आत्मा है अन्य उसके अंग, प्रत्यंग हैं। उस एक आत्मा की ही अनेक रूपों में स्तुति की जाती है। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।" वह एक सत् तत्त्व ही उपनिषदों का प्राण भूत प्रतिपाद्य तत्त्व है। यास्क का कथन है— "महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।" महर्षि शौनक अपने ग्रंथ 'बृहद्देवता' में निरुक्तकार का समर्थन करते हैं। ऐतरेय आरण्यक भी इसी आशय को प्रकट करता है, जब वह कहता है कि यही एक परम सत तत्त्व है जिसकी उपासना ऋग्वेद 'उक्थं में,' यजुर्वेद अग्निरूप में तथा सामवेद महाव्रत नामक यज्ञ में किया करते हैं। ('एतंह्येव बह् वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यं एतं महाव्रते छन्दोगाः।' यही नहीं ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के 55वें सूक्त में सर्वत्र एक वाक्य अन्तिम निष्कर्ष के रूप में आया है—"महद्देवानामसुरत्वमेकम्।" यहां असुर शब्द बल या शक्ति का वाचक है। सभी देवों में एक ही शक्ति है। एक ही शक्ति के पृथक् पृथक् रूप भिन्न भिन्न देव हैं। "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।" एवं "अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षम्, विश्वे देवा अदितिः, पंचजना अदितिः, जातम् जनित्वम् सर्वमदितिः (आकाश अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, समग्र देव गण, समग्रप्रजा, उत्पद्यमान तथा उत्पन्न समस्त तत्त्व अदिति ही है") आदि वाक्य सभी रूपों में उस एक सद्रूप ब्रह्म अथवा शक्ति की ही सत्ता का वर्णन करते हैं।

इसी तत्त्व को नासदीय सूक्त में 'तदेकम्' (आनीद वातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास) पद के द्वारा कहा गया है। यहाँ नपुंसकलिंग के प्रयोग का रहस्य उपनिषद् बतलाता है—"नैव स्त्री न पुमानेष न चायं नपुंसकः।" ऐसी स्थिति में जब परम तत्त्व का लिंग निर्धारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह एक अव्यक्त, अनिर्देश्य, अगोचर सत् सर्वान्तर्यामी तत्त्व है इसलिए 'तत् एकम्' (नपुंसकलिंग) पद का प्रयोग करके वैदिक ऋषि कहता है 'और कुछ नहीं कहा जा सकता बस यही कहा जा सकता है कि वह एक है और उससे परे कुछ भी नहीं—"अर्थात आदेशो नेति नेति," "न ह्येतस्मादन्यत्परमस्ति," "नेह नानास्ति किंचन" आदि आदि। इसी एकम् पद का प्रयोग सर्वजन प्रसिद्ध ऋग्वेद के मन्त्र में भी है। "इन्द्रंमित्रंवरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातारिश्वानमाहुः॥ यही मन्त्र सार रूप में उपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय का भी निर्देश करता है। अग्निवरुण, यम, वायु सब उसी सत् तत्त्व के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। यही भाव महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नान्दी में भी दर्शाया है। समग्र ब्रह्माण्ड उस एक सत् चित् आनन्द ईश तत्त्व का विलास मात्र है; उसी की सत्ता से अनुप्राणित है - "ईशावास्यमिदं सर्वम्"। इस भेदमय नाना तत्त्वों में अनुस्यूत अभिन्न एक अद्वय सत् तत्त्व ब्रह्म है। भेद में अभेद दर्शन, अनेक में एक की व्याप्ति, इसी वैदिक विषय का व्यवस्थित एवं रोचक ढंग से पल्लवीकरण, तथा विस्तार उपनिषदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है।

उपनिषदों की विषय वस्तु

उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ज्ञान, तथा तदनुसार चरम पुरुषार्थ कैवल्य की प्राप्ति ही है। क्योंकि उपनिषद् ही ज्ञानकाण्ड कहलाता है, इसीलिए मुण्डकोपनिषद् "द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च," कहकर यह बतलाया गया है कि दो ही विद्याएं हैं और उन्हें ही जानना चाहिए। एक अपरा दूसरी परा। समग्र कर्मकाण्ड परक वेदभाग और सांसारिक शिल्प शास्त्रादि विद्याएं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द ज्योतिष आदि वेदांगों में ही समाहित है। अतः ये सब अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं। परा विद्या वह विद्या है जो अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कराती है, जिसके जानने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है (यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति)। औपनिषद् ज्ञान काण्ड के अन्तर्गत परा विद्या (ब्रह्मविद्या) ही सभी उपनिषदों का मूल विषय है। हां, मूल के ज्ञान के लिए शाखा प्रशाखा का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसी कारण से समझाने की विभिन्न पद्धतियों के द्वारा परा विद्या ही सर्वत्र उप-निषदों में समझायी गयी है। यह परा विद्या सबका मूल है, क्योंकि इसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है अतः यही कठोपनिषद् का वह सनातन अश्वत्थ वृक्ष है, जिसकी शाखाएं नीचे की ओर तथा मूल ऊपर की ओर है। यहां परा विद्या ही मूल है वह ऊपर की ओर ले जाने वाली है। इसीके लिए अर्चि आदि मार्गों से ब्रह्मलोक गमन का वर्णन, उच्च गति या श्रेष्ठतम गति के लिए किया गया है। वे ही अपरा विद्या है। परा के जान लेने पर अपरा स्वतः विज्ञात होती है का रहस्य उद्घाटित है। किन्तु सीधे-सीधे परा का ज्ञान नहीं हो सकता जब तक कि अपरा हो। एतदर्थ उपनिषदों में सृष्टि विद्या, कर्मवाद, लिंग शरीर, स्थूल शरीर, विराट् पुरुष, देह, स्नायुमण्डल, मन, प्राण, इन्द्रिय, जीवन, मृत्यु, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएं, पुनर्जन्म, परलोक, जीवात्मा की विभिन्न गतियां, पुण्य, पाप, ईश्वर, जीव, आत्मा, जगत्, काल आदि सभी विषयों का पूर्ण विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दों में कहें; तो ज्ञानवाद, अध्यात्मवाद, कर्म-वाद, नीति, मनोविज्ञान, आदि अथवा तीन शास्त्रीय शब्दों में कहें तो, अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म का विस्तृत विचार उपनिषदों में प्राप्त होता है।

यही नहीं अपितु आस्तिक नास्तिक सभी दर्शनों का मूल भी उपनिषदों में ही हमें प्राप्त होता है। सभी परवर्ती दर्शनों का मूल स्रोत उपनिषद् ही है। यही नहीं शरीर (Anatomy) का वर्णन भी योग शास्त्र को समझाने के लिए उपनिषदों में वर्णित है। शरीर में 72 हजार नाड़ियां होती हैं। यह उल्लेख भी उपनिषदों का ही है। आयुर्वेद में कहीं भी इतना स्पष्ट एवं विस्तृत नाड़ी विज्ञान हमें नहीं मिलता जैसा उपनिषद् में मिलता है। मन की नाड़ी, स्वप्न की नाड़ी, निद्रा की नाड़ी, प्राण संचार आदि सभी विषय उपनिषदों में सम्यक् व्याख्यात हैं। लगता है महाभारत के बारे में जो उक्ति है "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" वह उपनिषद् के बारे में भी सच है। जो उपनिषदों में है वही ज्ञान अन्यत्र भी फैला हुआ है। जो उपनिषदों में नहीं वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। यद्यपि उपनिषदों में मुख्य रूप से ब्रह्मात्म-विज्ञान ही, उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उत्पत्ति इस प्रकार षड्विध तात्पर्य निर्णायक लिंगों द्वारा परीक्षा करने पर प्राधान्येन प्रतिपादित प्रतीत होता है, फिर भी कतिपय मुख्य मुख्य व्याख्यात तत्त्वों का विहंगम दृष्टि से अवलोकन करना उचित प्रतीत होता है।

कतिपय प्रमुख व्याख्यात तत्त्व

आत्मा : प्रायः सभी उपनिषदों में आत्मा का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है। क्या आत्मा वर्तमान शरीर से ही सम्बन्ध है अथवा वर्तमान जीवन के पश्चात् भी आत्म की सत्ता है?" कठोपनिषद् में नचिकेता यम संवाद का प्रमुख प्रश्न यही है। यमराज ने स्वयं ही आत्मा तत्त्व की व्याख्या करते हुए मृत्यु को परम रहस्य बतलाया है। उनके अनुसार आत्मा नित्य, अजर, अमर, शाश्वत वस्तु है। बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओं अथवा निरुक्त वर्णित — जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, नश्यति इन षड्भावविकारों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं होता। आत्मा इनसे असम्बद्ध है, परे है। कोई दोष, परिणाम, विकार आदि का आत्मा से त्रिकाल में भी संसर्ग नहीं

होता। इसी प्रकार आत्मा मन, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, बुद्धि, तथा शरीर से सर्वथा पृथक् तत्व है। आत्मा एवं शरीर, इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध की व्याख्या बड़े ही सुन्दर सरल रूपक के द्वारा की गयी है। तदनुसार यह आत्मा रथ का मालिक है, शरीर ही रथ है, बुद्धि सारथि है। मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, तथा ये घोड़े ही विषयभोग के मार्ग पर चलते हैं।

"आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥"

आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है, आत्मा के लिए ही सब कुछ होता है। जैसा कि बृहदारण्यक में कहा गया है— "आत्मनस्तुकामाय सर्वं प्रियं भवति।" शरीराधिष्ठात् होने के कारण आत्मा के दो प्रकार, निरुपाधिक तथा सोपाधिक भेद किये गये हैं। सोपाधिक जीव पदवाच्य शरीराधिष्ठाष्तृ शरीर आत्मा को ही "आत्मेन्द्रिय मनोयुक्त भोक्ता कठोपनिषद् में कहा गया है। शुद्ध निरुपाधिक आत्मा भोक्ता, कर्ता नहीं हो सकता।

आत्मा पद का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ : आत्मा पद का वैदिक ढंग से निर्वचन दिखलाते हुए आचार्य ने अपने उपनिषद् भाष्य में एक प्राचीन श्लोक लिखा है। उसके द्वारा ही स्पष्ट रूप से आत्मा क्या है? इस समस्या का समाधान हो जाता है तथा आत्मा पद की सार्थकता भी सिद्ध होती है। वह श्लोक इस प्रकार है-

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चास्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

श्लोकागत प्रत्येक क्रिया पद के अनुसार आत्मन् पद की व्युत्पत्ति की जा सकती है। यथा क्रमशः—जो विश्व के समग्र चराचर स्थावर, जंगम जड़, अजड़ पदार्थों में व्याप्त है, जो सब वस्तुओं, विषयों पदार्थों को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है, जो स्थिति काल में समग्र विषयों का भोग करता है या अनुभव करता है, तथा जिसकी सत्ता शाश्वत है, अथवा जो निरन्तर सदा सर्वदा अपनी सत्ता बनाये रखता है, सर्वथा सत् है, वही आत्मा है। इसीलिए उसे आत्मा नाम दिया गया है। कल्पित सर्प आदि पदार्थ की प्रतीति अधिष्ठान रज्जु आदि की सत्यता माने बिना सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी प्रकार इस कल्पित संसार की सत्ता के लिए आत्मा रूप अधिष्ठान की सतत सत्ता अनिवार्यतः स्वीकार करनी पड़ती है। आत्मा के कारण ही प्राणियों का जीवन है। कठोपनिषद् कहता है कि—

न प्राणेन मापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्वेतावुपाश्रितौ ॥

प्राणी न प्राण से जीता है न अपान से न इन्द्रिय मन आदि से, जिसके आश्रित इन्द्रिय मन प्राण आदि हैं, उस शाश्वत सत् आत्मा के कारण ही प्राणिमात्र जीवित रहते हैं।

आत्मा ही चैतन्य स्वरूप है : उपनिषदों में भिन्न दृष्टान्तों एवं आख्यायिकाओं द्वारा आत्मा क्या है? उसका क्या स्वरूप है? चैतन्य और आत्मा एक ही तत्व है, भिन्न-भिन्न नहीं; इन विषयों का प्रतिपादन रोचक एवं सर्वजनगम्य रीति से अत्यन्त सरल रूप में किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में इन्द्र एवं विरोचन के आख्यानक द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि शरीरावछिन्न चैतन्य, स्वप्नचैतन्य, तथा सुषुप्ति चैतन्य से पृथक सर्वथा अमिश्रित शुद्ध चैतन्य ही आत्मचैतन्य है।

असुरों के प्रतिनिधि के रूप में विरोचन तथा देवों के प्रतिनिधि रूप में इन्द्र प्रजापति के पास जाकर आत्म तत्त्व के बारे में प्रश्न करते हैं। प्रजापति दोनों को एक ही उत्तर देते हैं—चक्षु में, जल में तथा दर्पण (आदर्श) में जो प्रति-

बिम्बित प्रतीत होता है, वही आत्मा है । असुरेन्द्र विरोचन संतुष्ट हो जाते हैं । किन्तु देवराज, इन्द्र विचार करते हैं, 'यह कैसे हो सकता है ?' शरीर में आभूषण आदि धारण करने पर क्या आत्मा भी उन अलंकारों से आभूषित होता है ? क्या अंधता, पंगुता आदि शरीर के दोषों से आत्मा भी दोष युक्त होता है ? तो क्या शरीर आत्मा का तादात्म्य है ? यदि है, तो जैसे शरीर में परिणाम परिवर्तन आदि होते हैं तथा शरीर नष्ट भी होता है । तो क्या आत्मा भी परिणामी परिवर्तन-शील तथा नष्ट होने वाला है। शरीर अस्थिर है तो क्या आत्मा भी अस्थिर नश्वर है ? इन्द्र पुनः प्रजापति के पास जाकर इसी रूप में प्रश्न करते हैं । दूसरी बार प्रजापति स्वप्न पुरुष का उपदेश करते हैं ।

"य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा" ।

पुनः इन्द्र विचार करते हैं । अन्धत्व, काणत्व, क्षीणत्व आदि दोष जो शरीर को आत्मा मानने पर प्रसक्त होते हैं; वे दोष स्वप्न चैतन्य को आत्मा मानने पर प्रसक्त नहीं होते । किन्तु अन्य अनेक दोष पुनः उपस्थित होते हैं । स्वप्न, में रुदन, दुःखानुभूति, प्रताड़ना आदि की प्रतीति होती है किन्तु आत्मा में तो दुःखलेश का भी संपर्क नहीं होना चाहिए क्योंकि शाश्वत आनन्द रूप आत्मा सुना गया है । असन्तुष्ट हो इन्द्र पुनः प्रजापति के पास जाते हैं । प्रत्येक आगमन के समय प्रजापति इन्द्र को उत्तर देने से पूर्व बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य पूर्वक तप करते हुए व्यतीत करने के लिए कहते हैं । तब उत्तर देते हैं । इस बार प्रजापति सुषुप्ति कालीन चैतन्य का आत्मा रूप में उपदेश करते हैं । पुनः इन्द्र विचार करते हैं और स्वयं को असन्तुष्ट अनुभव करते हैं । इन्द्र विचार करते हैं कि सुषुप्ति काल में तो यह भी ज्ञान नहीं रहता कि स्वयं की भी सत्ता है या नहीं, 'यह मैं हूं' इस प्रकार का बोध भी नहीं रहता । आन्तरिक भान नहीं रहने पर बाह्य भान का तो प्रश्न ही नहीं उठता । भूतात्मक प्रपंच का ज्ञात होता ही नहीं, अतः विनष्ट हुआ सा प्रतीत होता है ।" नाह खल्वयं भगव एवं सन्प्रत्यात्मनं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेनिभूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहम-मात्रभोग्यं पश्यामीति ।" पुनः इन्द्र अपनी समस्या यथावत् रूप में प्रजापति के समक्ष रखते हैं । प्रजापति ठीक है 'कहकर अन्त में आत्मा के वास्तविक स्वरूप का परिचय कराते हुए कहते हैं हैं कि उपर्युक्त तीनों प्रकार के प्रतीयमान चैतन्य से पृथक् शुद्ध अमिश्रित उपाधि रहित चैतन्य स्वरूप आत्मा है, चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप है । अतः शुद्ध चैतन्य ही आत्मा है तथा शरीर, स्वप्न, सुषुप्ति आदि उपाधियां हैं । यह शरीर तो मरणधर्मा है एवं अशरीर आत्मा का एक प्रकार से अधिष्ठान है, "अशरीरस्यात्मनोऽ-धिष्ठानम् अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।" अशरीर आत्मा का सुख दुःख से संस्पर्श नहीं होता । शरीर में प्राण की स्थिति उसी प्रकार होती है जैसे शंकट (गाड़ी) में घोड़ा या बैल । और इन्द्रिय आदि के द्वारा जो अनुभविता, ज्ञाता है, वही आत्मा है । वही इन सबके अन्दर रमण करता है ।

माण्डूक्य के अनुसार : आत्मा की चार अवस्थाएं

माण्डूक्य उपनिषद् में आत्मा की चार अवस्थाएं बतलायी गयी हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय । इनमें शुद्ध आत्मा 'तुरीय' कहा गया है । वही निरुपाधिक सर्वावस्था विवर्जित पूर्ण आत्मा है । जाग्रत् अवस्थापन्न बाह्य प्रपंच का अनुभव करता है । स्वप्नावस्थापन्न आत्मा आन्तरिक मनो जगत् का अनुभव करता है । तथा सुषुप्ति कालीन (घोर गहन निद्रावस्था) अवस्था में केवलमात्र आनन्दरूपता का अनुभव होता है । जाग्रत् अवस्थापन्न आत्मा की संज्ञा 'विश्व', स्वप्नकालीन की 'तेजस', एवं सुषुप्ति कालीन की 'प्राज्ञ' है । इन सभी अवस्थाओं में आत्मा को आंशिक भान ही हो पाता है । पूर्ण आत्मा जो 'तुरीय' संज्ञक है शुद्ध है, निर्गुण है । तुरीय अवस्था में केवल मात्र आत्म स्वरूप की ही प्रतिष्ठा है । वही पूर्ण अवस्था है उसमें न बाह्य है न आभ्यन्तर, न बाह्याभ्यन्तर उभय, न बहिश्चेतन विश्व, न अन्तश्चेतन स्वप्न ओर न उभय रहित सुषुप्त । उस आत्मस्वरूप दशा में न प्रज्ञा है न अप्रज्ञा । वह अवस्था अदृष्ट, अग्राह्य, अलक्षण, अतर्क्य, अव्यपदेश्य, अव्यवहार्य, अचिन्त्य, आत्मप्रत्ययसार, केवल आत्मसत्ताभान मात्र वाली अवस्था है । उसे प्रपंचोपशम, शान्त, शिव, अद्वैत, चतुर्थ या तुरीय कहा गया है । उस समय बाह्य जगत् की स्थिति नहीं रहती। यह जाग्रदादि अवस्थात्रय से सर्वथा भिन्न कूटस्थ अविनाशी अविकारी निर्गुण निर्विकार निराकार आत्मा है, प्रणव या ओंकार इसी का द्योतक है और इसे ही अक्षर ब्रह्म भी कहा गया है । इसी शुद्धात्मा के ज्ञान के लिए जिज्ञासु को प्रयत्न करना चाहिए ।

इस प्रपंचात्मक प्रतिक्षण परिणमनशील नश्वर जगत् के मूल में जो इस जगत् को बनाये रखती
ब्रह्म तत्त्व : इस प्रपंचात्मक प्रतिक्षण परिणमनशील नश्वर जगत् के मूल में जो इस जगत् को बनाये रखती
है या सत्तावान् रखती है, वह एक शाश्वत सत्ता या तत् तत्त्व है। उस सत् तत्त्व के अन्वेषण, विश्लेषण और विवेचन के
लिए प्रवृत्त उपनिषद् तीन प्रकारों या पद्धतियों— आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक का सहारा लेते हैं।
आधिभौतिक पद्धति के अनुसार इस समग्र भूत भौतिक जगत् की उत्पत्ति स्थिति लय या संहार के कारणों का अन्वेषण
करने पर एक नित्य, भूत भौतिक से सर्वथा विलक्षण तत्त्व पर ही एक मात्र कारणता का पर्यवसान दृष्टि-गोचर होता
है। आधिदैविक प्रकार यह बतलाता है कि समग्र देवताओं या अधिदेव का शक्ति रूप तत्त्व, जो सबमें मणियों में सूत्र के
समान अनुस्यूत है वह एक अद्वय परमात्म तत्त्व है। आध्यात्मिक पद्धति के अन्तर्गत शरीर इन्द्रिय मन प्राण आदि का
संचालक एकमात्र एक चेतन तत्त्व आत्मा है वही मूल है, उसके बिना सब कुछ निरर्थक निष्क्रिय है। इसी मूलतत्त्व को
उपनिषद् में ब्रह्म नाम से अभिहित किया गया है।

उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विवेचन है—एक सगुण साकार स्वरूप तथा
सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म : उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विवेचन है—एक सगुण साकार स्वरूप तथा सविशेष या सगुण को अपर
दूसरा निर्गुण निराकार रूप। इसी निर्विशेष या निर्गुण स्वरूप को परब्रह्म, अक्षर ब्रह्म तथा सविशेष या सगुण को अपर
ब्रह्म कहा गया है। निर्विशेष का तात्पर्य किसी लक्षण या चिह्न विशेष का न होना है। पर ब्रह्म निर्गुण निरुपाधि
निर्विकल्प है। उसका परिचायक लिंग विशेष या धर्म विशेष कोई हो ही नहीं सकता अतः उसे निर्विशेष कहा जाता है।
और ब्रह्म के इन्हीं दो भावों के लक्षण दो प्रकार के वाक्य, शंकराचार्य के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म की विवेचना के
लिए प्रयुक्त है—निर्विशेष लिंग तथा सविशेष लिंग। 'अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्' आदि वाक्य निर्विशेष परक
तथा 'सर्वकर्मा सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः' आदि वाक्य सविशेष परक है। ब्रह्म प्रतिपादन वाक्यों में इस प्रकार भेद
होने पर भी वस्तुतः ब्रह्म तत्व एक ही है अद्वितीय है। यहां वस्तुगत भेद कथमपि नहीं। सगुण, निर्गुण, सोपाधि निरूपाधि
आदि शब्दों के द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्म एक अद्वितीय ब्रह्म ही है—वही अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षुः, अश्रोत्र,
अपाणिपाद, होते हुए भी, नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म अव्यय, है। वही समग्र भूतों का कारण है। और इसी रूप में
ज्ञानी जन ब्रह्म का दर्शन करते हैं। इस प्रकार उपनिषद् ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि परम तत्त्व एक ही है,
तथापि उक्त वाक्यों को आचार्य शंकर निर्गुण प्रतिपादक मानते हैं और आचार्य रामानुज सगुण प्रतिपादक।

वेदान्त के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म के दो प्रकार के लक्षण प्राप्त होते हैं। एक 'तटस्थ
ब्रह्म के दो लक्षण—वेदान्त के अनुसार उपनिषदों में ब्रह्म के दो प्रकार के लक्षण प्राप्त होते हैं। एक 'तटस्थ गुण धर्म का वर्णन किया जाता
लक्षण', तथा अन्य 'स्वरूप लक्षण'। तटस्थ-लक्षण के द्वारा वस्तु के अस्थायी परिवर्तनशील गुण धर्म का वर्णन किया जाता
है। तथा स्वरूप-लक्षण के द्वारा वस्तु के शुद्ध तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है। यद्यपि ये दोनों लक्षण सगुण ब्रह्म
के कहे जाते हैं, तथापि स्वरूप लक्षण के द्वारा निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि 'सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इन स्वरूप लक्षण परक वाक्यों में, सत्य, ज्ञान, आनन्द, सत्, चित् आदि पद ब्रह्म-
निष्ठ गुणों के परिचायक नहीं अपितु ब्रह्म स्वरूप के ही परिचायक हैं। ये ब्रह्म के गुण नहीं अपितु सत्, चित्, आनन्द
ब्रह्म का स्वरूप ही हैं।

'स्वाभाविकी, ज्ञान, बल, क्रिया च' शक्तियों का कथन करना छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार
ब्रह्म की, 'स्वाभाविकी, ज्ञान, बल, क्रिया च' शक्तियों का कथन करना तीन पद पृथक कर जगत् की ब्रह्म
"तज्जलानिति शान्त उपासीत" यहाँ 'तज्जलान्' पद द्वारा तज्ज, तल्ला तथा तदन् तीन पद पृथक कर जगत् की ब्रह्म
से उत्पत्ति, (तज्ज) जगत् का ब्रह्म में लय, (तल्ल) जगत् की ब्रह्म में ब्रह्म कारणक स्थिति, या ब्रह्म के कारण ही प्रपंच
का प्राण धारण करना (तदन्) इस प्रकार उत्पत्ति, लय एवं स्थिति प्रतिपादक वाक्य तटस्थ लक्षण कहे जाते हैं। यही
लक्षण "जन्माद्यास्य यतः" सूत्र द्वारा परमर्षि बादरायण ने भी कहा है। उपनिषदों के अनुसार यही सगुण ब्रह्म सृष्टि
का कारण है, यही सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है और सर्वकारण भी है। समग्र जीवों का प्रभाव एवं लयस्थान है। ईश्वर,
विराट्, हिरण्यगर्भ इसी के रूप हैं। यही कर्मफल प्रदाता है। केनोपनिषद् के उमा-हेमवती आख्यान के द्वारा इसी ब्रह्म
की सर्वशक्तिमत्ता का प्रतिपादन प्राप्त है।

निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए प्रमुख पद्धति निषेध की है, क्योंकि ब्रह्म चिन्हविशेष वर्णित नहीं किया जा सकता। वह निर्विकल्प, निरुपाधि है। अतएव अनिर्देश्य अव्यपदेश्य है। बाष्कलि द्वारा ब्रह्म के बारे में पूछे जाने पर बाध्व ने अवचन मौन के द्वारा ही ब्रह्म का उपदेश किया। बृहदारण्यक उपनिषद् में "स एष नेति नेति आत्मा" यह नहीं, वह नहीं कहकर ही वर्णन किया। इससे परे कुछ भी नहीं कहा। अन्यत्र भी 'न' का प्रयोग करते हुए, अग्राह्य अगोचर, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस अगन्धवत्, अनादि अनन्त कहकर ही ब्रह्म का वर्णन किया। वह ब्रह्म श्रोत्र तथा वाणी का विषय नहीं। वह ब्रह्म न प्राण है, न तेज है, न उसका कोई परिमाण ही है। न वह भीतर है न बाहर, न वह भोक्ता है न भोग्य। जिसे वाणी वर्णन नहीं कर सकती किन्तु जिसकी शक्ति से वाणी बोलने में समर्थ होती है। वही ब्रह्म है, यह नहीं जिसे ब्रह्म समझा जा रहा है—और ब्रह्म मानकर उपासना की जा रही है। "यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युपद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥"

वह निर्गुण परब्रह्म देश, काल, निमित्त रूप उपाधियों से रहित है, प्रमाणातीत है, अप्रमेय है। वह अन्तःकरण वृत्तिभूत ज्ञान का विषय नहीं अपितु स्वयंविषयी है। जगत् के समग्र प्रकाश हेतुभूत मूलस्रोत वह ब्रह्म ही है।

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकम् नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ क—2-2-15

न वहां सूर्य की चमक है न चन्द्रमा की, न तारागण की न बिजलियों की, अग्नि की तो बात ही क्या है। उस परब्रह्म के परम प्रकाश से ही इन सबमें प्रकाश है, इनकी चमक है। वही इनके प्रकाश का स्रोत है। उसके प्रकाश में ये सब तथा समग्र ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है।

सृष्टि : यह ब्रह्म ही सृष्टि का उभय कारक उपादान तथा निमित्त कारक है। शंकराचार्य का यह अभिन्न निमित्तोपादान कारण वाला सिद्धांत मुण्डकोपनिषद् की देन है। मकड़े वाला दृष्टान्त यहीं का है। जैसे मकड़ा अपने शरीर से जाला बुनता है, और शरीर में ही पुनः समेट लेता है। जैसे पृथिवी में औषधियां, पुरुष के शरीर में केश लोम, वैसे ही नित्य ब्रह्म अक्षर परमात्मा से समग्र जगत् उत्पन्न होता है। सृष्टि के क्रम में सर्वप्रथम परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से समस्त प्राणिमय संसार—यह उत्पत्ति क्रम है। लय क्रम ठीक इसके विपरीत है।

उपनिषद् का आचार सिद्धांत

औपनिषद् आचार सिद्धांत अत्यन्त मनोरम एवं सरल है। तदनुसार आध्यात्मिक मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है और उस पर अग्रसर होने के लिए जो आचरण आवश्यक है, वे केवल मात्र एक अक्षर द, द, द के तीन बार उच्चारण के द्वारा ही बृहदारण्यक में प्रजापति ने प्रकट कर दिये। वे तीन हैं, दाम (इन्द्रिय दमन) दान और दया, दाम्यत, दत्त, दयध्वम्। इसी प्रकार छान्दोग्य में, तप दान, आर्जव, अहिंसा, सत्य आदि को आध्यात्मिक उत्थान का साधन कहा गया है। तैत्तिरीय में तो पूरी की पूरी शिक्षा वल्ली है वहाँ सत्यं वद, धर्मं चर आदि सिद्धांत वर्णित हैं। प्रश्नोपनिषद् में अनृत भाषण की निन्दा करते हुए कहा गया है कि जो मिथ्या भाषण करता है वह समूल नष्ट हो जाता है—"समूलो वाएष परिशुष्यति योऽनृतं वदति।"

मुण्डक में "सत्यमेव जयते नानृतम्।" यह प्रसिद्ध सिद्धांत प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त शम, दम, तितिक्षा उपरति, समाधान भी साधन के रूप में वर्णित है। सर्वोपरि विवेक एवं वैराग्य है, इनके अपनाये बिना ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।

कर्म सिद्धांत : उपनिषद् कहते हैं कि यह पुरुष काममय है। जैसी उसके मन में कामना होती है तदनुसार ही उसकी चेष्टा और जैसी चेष्टा तदनुसार ही उसका कर्म होता है। और फिर कर्म के अनुसार जन्म, और पुनः कर्म, पुनः जन्म। यह चक्र विवेक वैराग्य द्वारा मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त चलता रहता है। आत्मज्ञान के अनन्तर, मनुष्य सर्वत्र सब लोकों में विचरण कर सकता है। वह जो कामना करता है वह संकल्प मात्र से पूर्ण हो जाती है। वहां कहा गया है कि वासना रूपी नदी शुभ तथा अशुभ पुण्य और पाप दोनों मार्गों से बहती है। पुरुष को चाहिए कि वह उसे यत्न पूर्वक शुभ मार्ग में ही ले जाये, अशुभ की ओर न जाने दे।

कर्म से उच्च लोक : उपनिषदों में श्रेष्ठ कर्मों से श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति तथा निम्न कर्मों से निम्न लोक गमन का भी यत्र तत्र उल्लेख है। कर्म आवश्यक है, बिना कर्म किये कोई एक क्षण भी जी नहीं सकता। अतः 'ईशावास्य' के अनुसार कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए अकर्मण्य होकर नहीं — "कुर्वन्नवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।" किन्तु वे कर्म शुभ ही होने चाहिए अशुभ नहीं। छान्दोग्य एवं कौषीतकि उपनिषद् में कर्मानुसार मृत्यु के अनन्तर लोकान्तरगमन के दो मार्ग हैं—एक देवयान तथा दूसरा पितृयान। ज्ञान कर्मोमय के, अनुष्ठान करने वाले, साथ ही ज्ञान के साथ श्रद्धा, तप आदि श्रेष्ठ कर्म करने वाले प्राणी देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक गमन कराते हैं। तथा जो इष्ट एवं आपूर्त कर्म करते हैं वे पितृयान मार्ग से चन्द्र लोक गमन करते हैं। वहां कर्मफल का भोग कर पुनः मृत्यु लोक में जन्म लेते हैं एवं यदि श्रद्धा तप आदि की उपासना करते हैं तो देवयान मार्ग से ब्रह्म लोक जाकर वहां भी यदि ब्रह्म चिन्तन में ही तत्पर रहते हैं तो अन्त में उनका परब्रह्म लय हो जाता है। अशुभ कर्मों की वासना अवशिष्ट रहने पर मृत्यु लोक में निम्न कुलों में जन्म लेना पड़ता है। एक तीसरी गति जायस्व म्रियस्व, जन्म लेते रहने और मरते रहने की भी है। यह सर्वथा अशुभ कर्म करने वालों की ही होती है।

क्रम मुक्ति : देवयान मार्ग के अधिकारी श्रद्धा तप इत्यादि करने के कारण ब्रह्म-लोक गमन पूर्वक परब्रह्म में लीन होते हैं। यह प्रक्रिया क्रम मुक्ति कहलाती है।

सद्योमुक्ति : सद्यः याने साक्षात् अविलम्ब मुक्ति, आत्मज्ञानियों की ही होती है, क्योंकि आत्मविषयक अज्ञान ही बन्धन का कारण है। नानात्वदर्शी मृत्यु के पश्चात् भी मृत ही है मुक्त नहीं। जो एकत्व दर्शी है वह एक आत्मा का साक्षात्कार कर आत्मदर्शी, आत्मज्ञानी, आप्तकाम, आत्माराम, आत्मक्रीड, आत्मरति होने के कारण इसी एक जन्म में सद्योमुक्ति का अधिकारी हो जाता है। बृहदारण्यक के अनुसार, जब मनुष्य के मन की सारी कामनाएं नष्ट हो जायें और वह निष्काम हृदय हो जाये तब हृदय में आत्मज्ञान होता है और मनुष्य अमरत्व की ओर बढ़ता है, तथा यहीं, ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसी को अन्य शब्दों में "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति", "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति", "इहैव समवलीयन्ते" आदि वाक्यों द्वारा कहा गया है। ब्रह्म सर्वव्यापक है। अतः आत्मज्ञानी के प्राण उत्क्रमण द्वारा लोकान्तर संक्रान्त नहीं होते प्रत्युत यहीं सर्वव्यापक ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि उस ब्रह्म का आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने से ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है। अन्य कोई इस संसार बन्धन से छुटकारे या अज्ञानान्धसागर से पार होने का उपाय नहीं।

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

उपसंहार

इस आत्मा से, सर्वप्रथम आकाश, तदनन्तर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायो रग्निः। अग्नेरापः। इस प्रकार सृष्ट्युत्पत्ति-सिद्धांत तथा इसी के प्रतिलोम क्रम से लय का सिद्धांत भी प्रतिपादित है। साथ ही आचार्य शंकर के प्रसिद्ध पंचीकरण सिद्धांत का मूल त्रिवृत्करण सिद्धांत भी छान्दोग्य में भली प्रकार से व्याख्यात है। यही नहीं, शरीर रचना, इन्द्रिय, मन

प्राण आदि के कार्य, स्थिति, मनोविज्ञान, स्वप्न, निन्द्रा, जाग्रत् आदि सभी विषयों का अनूठा प्रतिपादन है। और यही प्रतिपादन इन विषयों की परवर्ती व्याख्या का मूलाधार है। तथापि उपनिषदों का प्रमुख लक्ष्य, एक आत्मा या ब्रह्म का प्रतिपादन, और उसके द्वारा साधना पथ पर अग्रसर होते हुए आत्मा की साक्षात् या अपरोक्षानुभूति ही है। आत्म-साक्षात्कार बिना केवल शुष्क ज्ञान निस्सार है, निरर्थक है और प्रणव का ध्यान तथा प्रणवोपासना ही अपरोक्षानुभूति का सर्वोत्तम साधन है। विषय भोग या सांसारिक सुखानुभूति अत्यल्प है। आत्मानुभूति 'भूमा' है, परम सुख है। भूमा=सर्वव्यापकता ही आत्मामृत है। नित्य सुख है, अल्प वैषयिक सुख नश्वर एवं अनित्य है। भूमा क्या है ?—' यत्र नान्यद्त् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद् बिजानाति स भूमा।" यह परमतत्त्व तभी दृष्ट माना जाता है जब आत्मातिरिक्त अन्य कुछ न दीखे, न इसके अलावा अन्य कुछ सुनाई पड़े, न अन्य कुछ ज्ञात हो। केवल आत्मा ही आत्मा उसके अलावा कुछ नहीं। आत्मसाम्राज्य ही सर्वत्र व्याप्त हो, सब स्थितियों में आत्मदर्शन ही होता रहे। इसी स्थिति को आत्ममिथुन, आत्मक्रीड़ा, आत्मरति, आत्मानन्द, आत्माराम, आत्मतृप्त अवस्था कहते हैं। यही 'भूमा' है। जो भूमा है वही वास्तविक शाश्वत सुख है। 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। "यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।" जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प विषय सुख या संसारानुभूति अथवा आत्मातिरिक्त अन्य की अनुभूति द्वितीय की अनुभूति, स्व (आत्मा) से इतर की अनुभूति या द्वैत दर्शन है, वही मर्त्य है, मरण शील है, अनित्य है, विनाशी है, असत् है, असत्य है। उपर्युक्त ज्ञान के साक्षात्करण द्वारा मोक्ष प्राप्ति ही उपनिषदों का अन्तिम लक्ष्य है।

पाठ-१३

ईशावास्योपनिषद्

डॉ० गोल्डस्टुकर के अनुसार वेदान्त आध्यात्मिक उन्नति का वह सर्वोत्तम साधन है जिसे पूर्वीय विचार-
धारा ने सर्वत्र प्रसारित किया है।"

"The Vedānta is the sublimest machinery set into motion by oriental thought."

और यह वेदान्त अर्थात् वेदों के कर्मकाण्ड के पश्चात् अन्त में आने वाला ज्ञानकाण्ड या उपनिषद् ही है।
उन उपनिषदों में भी सर्वप्रथम पंक्ति में प्रथम गणनीय ईशावास्योपनिषद् है।

यह उपनिषद् यजुर्वेद की प्रचलित वाजसनेयशाखा की संहिता का अन्तिम चालीसवां अध्याय है। वेदान्त
याने यजुर्वे: का अन्तिम अध्याय, एक अत्यन्त सार्थक पर्याय, ईशावास्य उपनिषद् के लिए सर्वाधिक तथा पूर्णरूप से लागू
होता है। क्योंकि संहिता के उनतालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड ही वर्णित है और अन्तिम चालीसवां अध्याय यही उपनिषद्
रूप ज्ञान काण्ड है। इसके प्रथम मन्त्र का प्रथम पद ईशावास्यम् है। इसी कारण से इस उपनिषद् का नाम भी ईशावास्यो-
पनिषद् हो गया। इस उपनिषद् में केवल 18 मन्त्र हैं अतः यह प्रमुख उपनिषदों में आकार की दृष्टि से सब से छोटा है।
किन्तु ज्ञान की दृष्टि से किसी भी विस्तृत अथवा बड़े उपनिषद् से भारी ही पड़ता है। यह अत्यन्त गम्भीर और गहन है,
थोड़े शब्दों में अत्युच्च सर्वश्रेष्ठ भावों का प्रकाशक है। वस्तुतः यह समग्र वेदान्त ज्ञान का सार है। सभी उपनिषदों एवं
गीता का समग्र भाव इसके 18 मन्त्रों में समाया हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्रभाग का उपनिषद् होने के कारण इसका
महत्त्व सर्वोपरि है। यह उपनिषद् समग्र वेदान्त व अद्वैत विचारधारा का निष्कर्ष प्रस्तुत करने वाला उपनिषद् है।
इसका अध्ययन करने पर हमें ऋषियों की पर तत्त्व पर अत्यद्भुत आश्चर्यकारक तथा अत्यन्त सूक्ष्म सटीक दृष्टि का
परिज्ञान होता है। मात्र 18 मन्त्रों के द्वारा आत्मा का महत्त्वपूर्ण, रहस्यमय सार गर्भित वर्णन यह उपनिषद् प्रस्तुत
करता है। सांसारिक विषयवासना, शोक, दु:ख, उद्वेग, सुख आदि से सर्वदा सर्वथा अप्रभावित रहने वाले गीता के स्थित-
प्रज्ञ ऋषि का एक आदर्श रूप इस उपनिषद् के द्वारा हमें ज्ञात होता है। कर्मयोग, कर्मज्ञान का समुच्चय अथवा दोनों
विपरीत भाव-कर्म और ज्ञान का तर्कपूर्ण समन्वय प्रस्तुत करते हुए सर्वमान्य ज्ञानसिद्धांत का उद्घाटन इस उपनिषद् में
सम्यक् रूपेण प्रतिपादित हुआ है। गीता के अठारह अध्याय हैं और इस उपनिषद् के अठारह मन्त्र। उपनिषद् व्याख्याता
विद्वानों का मत है कि इसके प्रत्येक मन्त्र से गीता का प्रत्येक अध्याय निःसृत हुआ है। इसके मन्त्रों में ही गीता के
अध्यायानुसार विषयों का बीज निहित है। वैसे भी अठारह संख्या का भारतीय वाङ्मय में बड़ा महत्त्व है। पुराण
अठारह हैं। गीता के अध्याय अठारह ! महाभारत के पर्व अठारह, महाभारत की अक्षोहिणी सेना अठारह। श्रीमद्भागवत
के श्लोक अठारह हजार। महाभारत का युद्ध चला दिन अठारह। स्थिति प्रज्ञ लक्षण परक श्लोक गीता के अठारह ही
हैं। वही सार है गीता का, भारतीय दर्शन के आचार सिद्धांत का और उसी प्रकार ईशावास्य की मन्त्र संख्या भी इसी
कारण से श्रुति ने अठारह ही रखी। इस उपनिषद् में विद्वान् लोग, जहां कर्म, ज्ञान और उपासना का प्रतिपादन एवं
सुन्दर समन्वय स्वीकार करते हैं, वहीं चारों पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का भी प्रतिपादन स्वीकार करते हैं। वैसे
देखा जाये तो टीकाकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की है। यह इस उपनिषद् का महत्व ही
मानना चाहिए कि श्रीमद्भगवद् गीता के समान ही इस उपनिषद् पर भी अलग-अलग सम्प्रदायवादियों, उव्वट महीधर,
शंकराचार्य, रामानुज भास्कर (ज्ञान कर्म समुच्चयवादी) आदि ने अपनी सम्प्रदाय दृष्टि के अनुसार व्याख्याए की हैं।
यहां तक कि वर्तमान में विनोबा भावे का भी एक दृष्टिकोण रहा और वह उन्होंने गीता के समान इस उपनिषद् में भी
खोजने की चेष्टा की और इस पर व्याख्या लिखी। तटस्थ कोई प्रतीत होता नहीं। इसी दृष्टि के अनुसार द्वितीय मन्त्र

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।" को कर्मयोग सिद्धांत की मूल घोषणा कर्मवादी कहते हैं। तो पुरुषार्थवादी इसे धर्म पुरुषार्थ का प्रति पादक वाक्य मानते हैं। इसी प्रकार "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत।। यह मोक्ष पुरुषार्थ प्रतिपादक वाक्य कहा जाता है।।

"तेन त्यक्तेन भुंजीथा:" "काम पुरुषार्थ तथा "मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।" अर्थ पुरुषार्थ का प्रतिपादक कहा जा सकता है।

ईशावास्योपनिषद् यत्किञ्चित् पाठभेद के संहित यजुर्वेद की काण्वशाखा में भी आया है। वेद के प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द होते हैं। तथा उनका किसी न किसी कर्म में विनियोग भी बतलाया गया है। किन्तु इस चालीसवें अध्याय के मन्त्रों के ऋषि, देवता, तथा छन्द तो बतलाये गये हैं। किन्तु किसी भी कर्म में इनके विनियोग का विधान प्राप्त नहीं होता। इस उपनिषद् की विषयवस्तु ब्रह्मज्ञान के बहिरंगअन्तरंग उभयविध साधन ही है। अतएव ईशावास्य आदि मन्त्रों का उपयोग तत्त्व ज्ञान के लिए ही है। इसी कारण से, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, कल्पसूत्र कहीं भी कर्मार्थ इनके विनियोग का निर्देश नहीं आया। मन्त्रों की आन्तरिक परीक्षा से यह प्रमाणित होता है कि ब्रह्म दृष्टि के लिए ही ये मन्त्र हैं। इसी बात को आचार्य शंकर भी अपने भाष्य में, मन्त्रों के कर्म में विनियोग न होने के कारण रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार—ये मन्त्र आत्मा के यथार्थ रूप को प्रकाशित करने वाले हैं अतः कर्म के शेष नहीं हो सकते। जो कर्म के शेष होते हैं उन्हीं का कर्म में विनियोग होता है। और मन्त्रों में प्रतिपादित आत्मा का यथार्थ स्वरूप, शुद्धत्व, पाप रहितत्व, एकत्व, नित्यत्व, अशरीरत्व, सर्वगतत्व आदि हैं। इस स्वरूप का ही कर्म से विरोध है। अतः कर्म में विनियोग होना संभव नहीं, इसलिए विहित भी नहीं। एक और सिद्धांत मन्त्रों के विनियोग के बारे में कल्प सूत्रों में आया है। तदनुसार जिस मन्त्र का विनियोग निर्दिष्ट न हो उसका विनियोग उस मन्त्र विशेष की प्रकृति के अनुसार निश्चित कर लेना चाहिए। यह सिद्धांत भी इस उपनिषद् पर लागू नहीं किया जा सकता। क्योंकि मन्त्र की प्रकृति ही कर्म विरोधिनी है। मन्त्र में कर्ता-भोक्ता रूप संसारी आत्मा का निरूपण नहीं किया गया है अपितु अकर्ता, अभोक्ता, अशरीरी, सर्वद्रष्टा, सर्वमन्ता, सर्वज्ञ, अपापविद्ध, स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन है। अतः यह कर्म विरुद्ध हुआ। इसलिए कर्म में विनियोग इस उपनिषद् का सिद्ध नहीं होता। कर्म और ज्ञान में अन्तर है। और उस अन्तर के कारण भी उपनिषद् कर्म का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता। वह अन्तर कर्म की प्रकृति के अनुसार होता है। कर्म प्रकृति चार प्रकार की सम्भव है। कर्म 'उत्पाद्य', 'संस्कार्य', 'विकार्य' और 'आप्य' इन चार में से किसी एक प्रकार का हो सकता है। जिस कर्म के द्वारा कुछ उत्पन्न किया जाये वह उत्पाद्य कहलाता है जैसे मृत्तिका से घट, शराब, उदंचन, क्रीडनक आदि बनाना। किसी भी वस्तु को प्रक्षालन, अग्नि तपन अथवा घिसने छीलने आदि के द्वारा सुन्दर आकर्षक, चमकीला आदि करने की क्रिया संस्कार्य कर्म कहलाता है। दुग्ध की दधि भाव में परिणति अथवा चावल का पककर भात बन जाना विकार्य कर्म होता है।

कहीं अन्यत्र स्थित वस्तु अथवा प्रदेश को वहीं पहुंचकर प्राप्त करना आप्य कर्म माना जाता है। औपनिषद आत्मा इनमें से चार अथवा किसी एक प्रकार के भी अन्तर्गत नहीं आता। क्योंकि आत्मा न उत्पन्न होता है न किसी को उत्पन्न करता है। आत्मा नित्य ज्ञान स्वरूप है अतः संस्कार का प्रश्न ही नहीं उठता। कर्म तथा संस्कार में जन्य जनकत्व भाव होता है। वह आत्मा में नहीं। कर्म से संस्कार होता है और वह आत्मा में सम्भव नहीं।

इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप अनन्त आत्मा न स्वयं किसी का विकार है न विकार का कारण। आत्मा नित्य प्राप्त है, सर्वव्यापक है शाश्वत है। अतः आप्यता का भी प्रश्न नहीं। आप्य तो स्व से भिन्न वस्तु होगी जो अन्य काल में पायी जाती हो। स्व स्वरूप आत्मा सर्वत्र प्राप्त है सर्वदा प्राप्त है। अतः किसी भी प्रकार से कर्म न होने से उपनिषद कर्म शेष नहीं कहे जा सकते।

ईशावास्य ब्रह्मविद्या है अतः उपनिषद् है।

अतएव आचार्य शंकर के अनुसार ईशावास्य के मन्त्र शुद्ध आत्म तत्त्व के प्रतिपादक माने जाते हैं। ये मन्त्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए, आत्मविषयक स्वाभाविक अज्ञान को दूर करते हैं। साथ ही शोक मोह आदि संसार के धर्मों के विच्छेद के साधन स्वरूप आत्मकत्व विज्ञान को भी उत्पन्न करते हैं। यही भाव आचार्य के अनुसार उपनिषद् शब्द भी प्रकट करता है। आचार्य के अनुसार उप = अत्यन्त निकट से, अर्थात् अपरोक्ष नि = निःशेषेण = पूर्णतया, जो परमात्मा का ज्ञान कराये तथा ब्रह्म या आत्म-परमात्म सम्बन्ध अविद्या का समुच्छेद भी करे, और कर्म बन्धन शिथिल कर दे, वह विद्या या ब्रह्म विद्या उपनिषद् कहलाती है। और यह नाम ईशावास्य पर पूर्णतया लागू होता है। यह तात्पर्य षद् धातु के तीनों अर्थों—विशरण = विनाश, गति—प्राप्ति या ज्ञान, अवसादन = शिथिलीकरण, का उप एवं नि उपसर्ग के साथ, सम्मेलन करने से निकलता है (उप + नि + षद् + क्विप्)।

शुद्ध आत्म तत्त्व का प्रतिपादन

यह उपनिषद् शुद्ध आत्म तत्त्व का प्रतिपादक है। इसलिए कर्मपरक नहीं माना जा सकता। यदि कर्म को आत्म-ज्ञान में सहायभूत माना जाये तब भी उपनिषद् की कर्म प्रतिपादकता नहीं बन सकती क्योंकि यह तभी कहा जा सकता है जबकि ज्ञान एवं कर्म के वास्तविक रूप से अनजान या अपरिचित हों। इसके लिए धर्म और ज्ञान के स्वरूप पर दृष्टिपात करना होगा। वास्तव में लौकिक व्यावहारिक जगत् में तो ज्ञान व कर्म परस्पर सहयोगी हैं। किन्तु आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। उसके ज्ञान के लिए कर्म या किसी अन्य साधन विशेष की आवश्यकता नहीं हो सकती। "विज्ञातरमरे केन विजानीयात्।" लौकिक ज्ञान में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, जैसे नेत्र से पुष्प के सौन्दर्य का ज्ञान तथा घ्राण से उसमें गन्ध का ज्ञान, त्वक् से मृदुता का होता है। किन्तु इस ज्ञान में कर्म सहायक है जैसे पुष्प को देखने की चेष्टा, आँखों को पुष्प की ओर करके उसके साथ चक्षुः सन्निकर्ष स्थापित करना आदि। इसी प्रकार गन्ध ज्ञान के लिए या तो नासिका को पुष्प के समीप करना पड़ेगा अथवा पुष्प को नासिका के समीप लाना होगा ताकि नासारन्ध्र के द्वारा गन्धाऽनुभूति हो सके। इसी प्रकार अंगुलियों से पंखुड़ियों का स्पर्श कोमलता के ज्ञान के लिए कर्म हुआ। अब ज्ञान के अनन्तर हेयोपादेयता का निश्चय कर, वस्तु (पुष्प) का त्याग कर देना अथवा ग्रहण कर लेना रूप कर्म में उपर्युक्त ज्ञान तत्पूर्ववर्ती होने से सहायभूत हुआ। किन्तु विश्व का मूल तत्त्वस्वरूप, ज्ञान अथवा आत्मा ऐन्द्रियिक ज्ञान का विषय ही नहीं हो सकता; क्योंकि वही विज्ञाता है, उसे किससे जाने? अर्थात् वह आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप ही है; उसके ज्ञान के लिए साधन कुछ भी नहीं बन सकता। इसमें एक कारण यह भी है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के ज्ञान करणत्व की सीमा है। और उस सीमा से परे वे ज्ञान नहीं करा सकती। सीमित से असीमित आत्मा का ज्ञान हो सकता है। उदाहरण के रूप में, इन्द्रियां अपने ही विषय में अपूर्ण हैं, यह कहा जा सकता है। नेत्रेन्द्रिय, अतिदूर, अतिसमीप, अतितीव्र, अतिमन्द प्रकाश में ज्ञान करने में असमर्थ हैं। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय भी अतिदूर, अतितीव्र अतिमन्द ध्वनि का ज्ञान नहीं करा सकती। तो फिर मूलतत्त्व परमात्मा का ज्ञान कैसे करा सकती हैं। इसी प्रकार मन, बुद्धि की भी सीमा है। वे भी असीम आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं करा सकती इसीलिए केवल ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान का नाश करने के लिए वृत्ति व्याप्ति की अपेक्षा स्वीकार की गयी है।

यही कारण है कि समग्र उपनिषद् तत्त्वमीमांसा परक माने जाते हैं। ब्रह्मविद्या कहे जाते हैं तथा तदतिरिक्त वेद भाग कर्ममीमांसा अथवा आचारमीमांसा परक माने जाते हैं।

ईशावास्य के विषय वस्तु की रूपरेखा

विषय की दृष्टि से देखा जाये तो ईशावास्य में प्रधान प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म दृष्टि ही है। इसके मन्त्रों में समग्र पदार्थों समस्त कालावयवों को ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है। यह ब्रह्म प्रमाणातीत है, अर्थात् प्रमाणों का विषय नहीं है

इस ब्रह्म का कोई प्रतिमान नहीं है। ब्रह्म ही सारी दिशा-विदिशा, अन्त:प्रदेश, बहि:प्रदेश के रूप में प्रकट हो व्याप्त हो रहा है। सम्पूर्ण रूप, आकार आदि, ब्रह्म के प्रकाश या विलास हैं। ब्रह्म का ज्ञान महावाक्यों द्वारा सम्भव है। ब्रह्मज्ञानी के लिए कर्मविधि अनावश्यक हो जाती है। स्वात्मा ही ब्रह्म है।

आत्मा स्वत: सिद्ध ब्रह्म है। अज्ञान के कारण आत्मा अप्राप्य या परिच्छिन्न रहता है। इसीलिए "ईश के द्वारा समग्र विश्व-प्रपंच आवासित है" यह कहा गया है। और यह ईश ही सत् तत्त्व या ब्रह्म है। जब तक इस सत् तत्त्व का ज्ञान नहीं होता तभी तक विभिन्न विलक्षण नाना रूपों में जगत् की प्रतीत होती है। तत्त्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर "यह सब कुछ ब्रह्म ही है" केवल मात्र यही भान होता है। या अन्य शब्दों में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", ब्रह्मैवेदं सर्वम्' अथवा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' की अनुभूति होती है। सभी वाक्यों का एक ही अर्थ या तात्पर्य है। ब्रह्म, ईश, आत्मा सब पर्याय ही हैं। जो व्यक्ति आत्मा को ब्रह्म या ईश रूप में साक्षात् नहीं कर सकता वह आत्मघाती है। उसे ही बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र में पिसना पड़ता है।

इस उपनिषद् में ब्रह्मज्ञानी की अपूर्व महिमा एवं ब्रह्म के स्वरूप का अद्भुत वर्णन किया गया है। ब्रह्म ज्ञानी; घृणा, शोक, मोह, दु:ख-सुख संशय आदि से ऊपर उठ जाता है, अलिप्त रहता है। तथा जीवन्मुक्त हो जाता है।

ब्रह्म विद्या के अलावा ईशावास्य के मन्त्रों में जो कर्म उपासना आदि का निरूपण किया गया है, वह केवल चित्त शुद्धि के लिए है। चित्त को ब्रह्म विद्याप्रापक बनाने के लिए ही उनका उपयोग है। चित्त के शुद्ध हुए बिना, मल रहित या वृत्ति रहित हुए बिना, उसमें ब्रह्मविद्या का प्रवेश नहीं हो सकता। निर्विशेष ब्रह्म ज्ञान का कर्मोपासना-नुष्ठान से कोई सम्बन्ध नहीं है, न ही कोई उपयोग है। क्योंकि उसके अनुसार आत्मा अकर्ता, अभोक्ता, अपरिच्छिन्न, निष्प्रपंच है। अत: कर्म उपासना के अनुष्ठान में सविशेष ब्रह्म के ज्ञान का ही सम्बन्ध या उपयोग सम्भव है। इसी सविशेष ब्रह्म-ज्ञान का कर्मोपासना से समुच्चय हो सकता है। निर्विशेष ज्ञान का नहीं। इसीलिए ईशावास्य में जो समुच्चय प्रसंग मानें तो उस प्रसंग गत ज्ञान के निरूपण को कर्मोपासना सम्बन्धी ज्ञान ही कहा जा सकता है। और उसके अनुसार ही कर्मोपासनानुष्ठान किया जाना चाहिए और यह सब सविशेष ज्ञानपरक भी है। यह असंदिग्ध है कि कर्मोपासनानुष्ठान यदि निष्काम हों तो अन्त:करण या चित्त को शुद्ध कर उसे ब्रह्म दृष्टि के योग्य बनाते हैं। इसी दृष्टि के अनुसार यहाँ विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति के समुच्चय के प्रसंग को देखना चाहिए।

उपर्युक्त कर्मोपासनामार्ग एवं ज्ञानमार्ग दोनों ही सर्वथा पृथक् पृथक् मार्ग हैं। कर्म एवं उपासना के लिए अनुष्ठान विधि, श्रद्धा, अधिकारी, कर्ता, फल और साधन आदि सब साधना या कर्मोपासना के घटक अलग-अलग हुआ करते हैं। श्रद्धा ही बल है और उत्साहदायक है। विधिपूर्वक क्रिया करते हुए अविकल रूप से समग्र साधनों का सांगोपांग प्रयोग करने पर साधक को साध्यरूप फल की प्राप्ति होती है। किन्तु ज्ञान मार्ग इससे भिन्न है। निष्काम कर्म का उपासना के अनुष्ठान से अथवा पूर्व जन्म के सुकृतप्रभाव से विवेक-वैराग्य की चित्त में संप्राप्ति होती है। उससे मुमुक्षुत्व की भावना होती है और मोक्षेच्छा की प्रबलता होने पर गुरु के पास जाकर उपनिषद् स्वाध्याय व श्रवण पूर्वक महावाक्य प्रबोध द्वारा चित्त में ज्ञान का आविर्भाव होता है। तदनन्तर संशय-विपर्यय निवारणार्थ क्रमश: मनन व निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। यदि चित्त संशय-विपर्यय रहित हो तो वैसे भी महावाक्य तात्पर्यावगतिपूर्वक तत्त्व-ज्ञान हो जाता है। तत्त्वज्ञान का तात्पर्य है ब्रह्म भावभावना। ब्रह्मज्ञान अर्थात् ब्रह्म का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव। इस अनुभव के होने पर अविद्या या अज्ञान की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार ब्रह्मात्म विज्ञान कर्मोपासनाशेष अथवा कर्मोपासना का अंग नहीं है। कर्मोपासना की आवश्यकता केवल मात्र चित्त शुद्धि के लिए या अन्त:करण की निर्मलता संपादन के लिए होती है। अतएव इस ईशावास्य में नवम् से अष्टादश (अठारहवें) मन्त्र पर्यन्त साधना का वर्णन है ब्रह्म ज्ञान के पश्चात् क्रियमाण कर्म का नहीं। क्योंकि ब्रह्मभाव की प्राप्ति या ब्रह्म ज्ञान के अनन्तर कर्म सर्वथा अनावश्यक हो जाते

हैं। यही सिद्धांत है। आचार्य सुरेश्वर के अनुसार उपनिषद् शब्द इसी तात्पर्य को प्रकट करता है। मुख्य वृत्ति से उपनिषद शब्द ब्रह्म विद्या परक है, तथा गौणी वृत्ति से ब्रह्म विद्या प्रतिपादक ग्रन्थ (वेद, उपनिषद् शब्द राशि) परक है। जो विद्या जीवात्मा परमात्मा या ब्रह्म और आत्मा के काल्पनिक भेद को दूर कर, अविद्या का नाश करे और संसार बन्धन को शिथिल करे वह उपनिषद् कहलाती है।

"उपनीय स्वात्मान ब्रह्मापास्तद्वयं भिनत्यविद्यायां च तस्मादुपनिषत्स्मृता।" आचार्य शंकर भी यही कहते हैं, "सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्।" बृहदारण्यक उपानषद ।। सद्धतो विशरण गनवसादनार्थस्योपपत्यिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णाः सन्तः उपनिषच्छब्द वाच्यां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्= हिंसनात्=विनाशनात् इति अनेनार्थ योगेन विद्या उपनिषद् इति उच्यते। ब्रह्म गमभितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्ययोपनिषद् ••• विद्यायायांमुख्याया वृत्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे भक्त्येति।

पाठ १४

ईशावास्योपनिषद्

–श्री चन्द्रकान्त दवे

मन्त्रार्थ एवं व्याख्या

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्वां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥1॥

अर्थ—इस संसार में यह जो कुछ भी नामरूपात्मक स्थावर जंगम पदार्थ है; वे सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय हैं। तात्पर्य यह है कि सभी पदार्थों में स्वयं प्रकाश अधिष्ठान भूत चैतन्य ही व्याप्त है वही ज्ञेय है। पदार्थ का बाह्य स्थूल आकार, प्रकार, ज्ञान का विषय नहीं बनना चाहिए क्योंकि वह नश्वर हैं। अतः उस नाम रूपात्मक जगत् का त्याग करके आत्मस्वरूप का ही भोग करना चाहिए अर्थात् आत्मदर्शन करना चाहिए। विषयलोलुप नहीं बनना चाहिए। यह धन किसी का नहीं है।

व्याख्या—इस प्रथम मन्त्र की ही व्याख्या का विस्तार यह पूरा का पूरा उपनिषद् है ऐसा कहा जाना अत्युक्ति नहीं होगी। इसी मन्त्र के प्रथम पद 'ईशावास्यम्' के अनुसार इस उपनिषद् का नाम ईशावास्योपनिषद् पड़ा। गीता का समत्व योग निष्काम कर्मयोग और सर्वकर्म समर्पण योग सभी इसी—'ईशावास्यमिदम्' अर्थात् 'यह सब कुछ ब्रह्ममय है'। 'ईश्वरमय है, सिद्धांत पर आधारित है। अद्वैत दृष्टि से मन्त्र की व्याख्या—अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगती शब्द का अर्थ माया करना चाहिए। माया को 'सदसद्भ्यामनिर्वाच्या' कहा गया है। वह माया न सत् कही जा सकती है न असत्। जगत्याम्=अर्थात् इस प्रकार से अनिरूपणीय माया में (तत्पदार्थ की दृष्टि से) अथवा जगत्याम् याने विषयानुभव कारिणी सेवित्, (यह तात्पर्य 'त्वम्' पदार्थ की दृष्टि से हुआ) में, इंदत्वेन यह इस रूप में प्रतीयमान जो कुछ भी जगत्, सर्वम्=उपलब्ध होने वाला समग्र वस्तु जगत् है, वह सब ईशावास्यम्=ईश्वर से=प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अधिष्ठान् स्वरूप चैतन्य से आच्छादनीय है, व्याप्त करने योग्य है। ढके जाने योग्य है। यह कथन उसी प्रकार हुआ जैसे कोई कहे घड़े पर मिट्टी चढ़ा दो। यहां घड़े और मिट्टी में अन्तर नहीं। घड़ा मृत्तिकास्वरूप ही है। उसी प्रकार यह ज्ञान होना चाहिए कि घट मृत्तिका से व्याप्त है। इसी को अन्य शब्दों में कहा गया है—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" जो कुछ भी नामरूपात्मक प्रपंच या सांसारिक पदार्थ हैं, समग्र चराचर जगत् है, वह सब वस्तुतः पारमार्थिक रूप से अपने अधिष्ठान भूत स्वयंप्रकाशमान चैतन्य से अभिन्न है। यह ज्ञान होना ही जगत् का ईश्वर से आच्छादन है। पूर्ण ब्रह्म सर्वाधिष्ठानभूत स्वयंप्रकाश चैतन्य को ही यहां ईश्वर कहा गया है। वही ईशा पद का लक्ष्यार्थ है। क्योंकि जो किसी भी उपाधि से संस्पृष्ट, युक्त या सम्बद्ध न हो वही ईश्वर हुआ करता है – "उपाध्यसंस्पृष्टत्व-मीश्वरत्वम्।"

अतः प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही 'ईशा' पद का लक्ष्यार्थ हुआ। आचार्य शंकर के अनुसार जो ईशन याने शासन करे वही ईट् (ईष्टे इति ईट् तेन ईशा)-हुआ। और ईट् प्रथमान्त पद है। इसका तृतीयान्त रूप ईशा हुआ। सबका शासन याने अन्तर्यामी रूप से नियन्त्रण करने वाला ईशिता ही परमेश्वर है। वह सबका परमात्मा है। वही सब जीवों का आत्मा है। और इस आत्मस्वरूप ईश के द्वारा यह चराचर जगत् आच्छादनीय है। अर्थात् 'ब्रह्म वेदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', "इदं सर्वंयदयमात्मा।" आदि वाक्य 'ईशावास्यमिदम्' के ही तात्पर्य को कहते हैं।

अभिप्राय यह हुआ कि आत्माऽभिन्न परम चैतन्य में प्रतीयमान उपाधियों तथा औपाधिक प्रपंच को ही जानना चाहिए और नाम रूप की ओर नहीं जाना चाहिए। उपाधिभूत प्रपंच प्रकाशक आत्मा और अधिष्ठान चैतन्य की एकता नित्य सिद्ध है। उस एकता ज्ञान द्वारा सभी प्रकार की उपाधियों के मिथात्व का अनुभव किया जाना चाहिए। प्रपंच भी उपाधि है अतः वह भी मिथ्या है। और मिथ्यात्व की प्रतीति के लिए प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म ज्ञान से उस उपाधिभूत मिथ्या ज्ञान का बाध आवश्यक है। यही 'यत्किंच जगत्वां जगत्' पद का भाव है।

समग्र जगदधिष्ठानभूत आत्मा ईश्वर है। और वह ईश्वर ही प्रत्यक्चैतन्य स्वात्मा अहपदवाच्य भी है। दोनों एक ही हैं। पारमार्थिक दृष्टि से कूटस्थ आत्म चैतन्य मैं (अहम्) और जगदधिष्ठान भूत ईश्वर में अन्तर नहीं करना चाहिए। 'वही मैं हूँ' यह बोध ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म ज्ञान है।

अब मन्त्र के उत्तरार्द्ध में आत्म ज्ञानी कैसे व्यवहार करे, जीवन यापन करे इसका निर्देश है। आत्मज्ञानी के जीवन व्यवहार का निर्देश मन्त्र के उत्तरार्द्ध में है। यहां 'भुंजीथाः' का अर्थ शंकर भगवत्पाद ने 'पालयेथाः' किया है। क्योंकि समग्र प्रपंच 'परमार्थतः' ईश्वर ही है, अपना आत्मा ही है, अतः नाम रूपात्मक प्रपंच का परित्याग स्वतः सिद्ध हो गया। इसलिए आत्मज्ञानी, प्रपंचात्मक पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा का परित्याग पूर्वक जीवन यापन करते हुए इस जीवन में आत्मा का पालन करे।

गीता में भी स्थित प्रज्ञ का लक्षण दिया गया है। गीता कहती है—

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति।"

अपरिच्छिन्न सर्वव्यापक परमात्मा से तादात्म्य की स्थिति ही जीवन्मुक्त अवस्था है, ब्राह्मी स्थिति है।

ईशावास्यमिदं सर्वम्-एवं तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः पद की व्याख्या देने के उपरान्त। तीसरे "मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।" पद की व्याख्या भी मननीय है। इस अन्तिम वाक्य का अर्थ है—धन के प्रति लोलुप न बनो। धन सभी सांसारिक विषयों का प्रतीक है उपलक्षण है। विषय भोग के प्रति गिद्ध दृष्टि न करो, कारण ये विषय अथवा धन किसी के नहीं हैं। सब कुछ ईश्वर मय है। अतः धन का स्वामी कोई नहीं हो सकता। धन अर्थात् सम्पूर्ण जगत् और इस सम्पूर्ण जगत् का स्वामी ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। यह जगत्प्रपंच ईश्वर का धन है। और ईश्वर की प्राप्ति हो गयी अर्थात् धनस्वामी से तादात्म्य हो गया तो धन की कोई आवश्यकता नहीं। अतः धन की ओर दृष्टि मत करो, किन्तु धन स्वामी, ईश्वर की ओर देखो। यही तात्पर्य है।

वैष्णवाचार्यों के अनुसार मन्त्र की व्याख्या

वैष्णव सगुणोपासक हैं। अतः उनके अनुसार ईशावास्यम् का तात्पर्य हुआ ईश्वर की भावना से जगती तल को पूर्ण कर दो। सर्वत्र सब में अपने आराध्य प्रभु को ही देखो यही भावना करो। सर्व-व्यापक प्रभु का ही ध्यान करो। सबको इष्टदेव में और इष्ट देव को सब में देखो। प्रभुमयी भावना से संसार को भर दो व्याप्त कर दो। जैसा कि गीता वाक्य है—

"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

तदनुसार– जगत्याम् का तात्पर्य अघटन घटना पटीयसी माया महाशक्ति जो सर्व कारण रूपा है, उस माया सर्वजगत्=यह सब दृश्यमान ब्रह्माण्डसमूह और यत्किंच=आब्रह्म स्तम्भ पर्यन्त जो कुछ भी इस जगती तल पर है, वह में इदं सब 'ईशावस्यम्' ईश्वर भावना से भावित कर दिया जाये परिपूर्ण कर दिया जाये। समग्र जगत् एवं जगत्पदार्थों को

ईशमय मानो। अग्रिम उत्तरार्द्ध का तात्पर्यंतेन त्यक्तेन = उस प्रभु परमेश्वर द्वारा प्रदत्त का ही भोग करो। अर्थात् भगवान् ने जो कुछ दिया है उसी पर सन्तोष करो। भगवत्प्रसाद समझकर ही सन्तुष्ट हो उसका उपभोग करो। कस्य = प्रजापते: ईश्वरस्यवा धनम् अथवा सुख स्वरूप परमात्मा या ईश्वर का ही धन है। उसका लालच मत करो (मा गृध:)

समीक्षा—दोनों ही शंकर एवं वैष्णव दृष्टिकोणों के अनुसार एक बात सामने आती है। संसार में जो कुछ। भी है उसे ईश्वरमय समझो। वैष्णव-दृष्टि भक्त-दृष्टि है जैसा तुलसीदास जी लिखते हैं—"सीय राममय सब जग जानी करहुं प्रणाम जोरि जुग पानि।" शंकर भावना ज्ञानमयी है। तीन एषणाओं, वित्तेषणा, लोकेषणा पुत्रेषणा का त्याग किए बिना ज्ञानमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यही कर्मत्याग भी है। इच्छा नहीं तो कर्म नहीं किन्तु अग्रिम मन्त्र में जो कर्म भावना सूचित की गयी वह फलाभिसन्धि रहित लोक संग्रहार्थ कर्म परक है। इसीलिए "नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म कृत्।" कहा गया है। शरीरस्थिति पर्यन्त न्यूनतम फलेच्छा रहित केवल मात्र शरीर यात्रार्थ कर्म ज्ञा.न के लिए भी है। वैष्णव दृष्टि में भी जब सभी इच्छाओं का त्याग करेगा तभी सन्तुष्ट रहेगा और सब में ईश्वर को और ईश्वर में सब को देखेगा तभी "वासुदेव: सर्वमिति।" इस सत्य का साक्षात्कार कर पायेगा किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि वैष्णव मत जगत् को सत्य मानते हुए जगत् के प्रति सम्पूर्ण व्यवहार एक परोक्षसत्ता ईश्वर के अधीन ही चलता हुआ मानता है। उनके अनुसार कर्म या भोग में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है। वेदान्त दृष्टि के अनुसार नामरूप भेदमय जगत् मिथ्या है और ईश्वर-ब्रह्म रूप अधिष्ठान में प्रतीयमान है।

पुरुषार्थ दृष्टि

पुरुषै: अर्थ्यते = काम्यते स पुरुषार्थ:। जिसकी पुरुषों द्वारा कामना की जाये वह पुरुषार्थ हुआ। कामना चार ही की होती है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। वस्तुत: इन चारों के मूल में सुखेच्छा है। अर्थ (धन) सांसारिक विषयभोग के साधन और बाह्य सुख प्रदान करने वाला है। चित्त निष्ठ धर्म आन्तरिक सुख या सन्तुष्टि प्रदान करता है। काम मानसिक तृप्ति या सुख का परिचायक है। मोक्ष आत्मानन्द या आत्मसुख है। नित्य आनन्द सुखस्वरूप स्वात्मावबोध ही मोक्ष है। इस दृष्टि से इन चारों में तारतम्य है। अर्थ सर्वथा बाह्य है, उससे आभ्यन्तर काम, काम से अन्तरंग धर्म, धर्म से भी आन्तरतम मोक्ष है। मोक्ष के पश्चात् कुछ रहता ही नहीं अत: वह सर्वान्तरतम हुआ। संसार मुख्यत: अर्थ-काम मूलक है। अर्थ और काम ही विशेषतया लोक में प्रतिष्ठित है। प्राणिमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी इन्हीं की ओर है। फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या। यहाँ वेदशास्त्र इन पर धर्म के नियन्त्रण की व्यवस्था देते हैं। धर्मपूर्वक कामना 'अर्थ' और 'काम' होने पर ही व्यवस्था रहेगी, रागद्वेष नहीं होंगे। अधर्मपूर्वक होने पर रागद्वेष होंगे, अव्यवस्था होगी। यदि धर्मपूर्वक होने के साथ भोग भावना क्षीण होती चली जाये, और निष्कामभाव की वृद्धि होने लगे तो चित्त शुद्धि होकर प्राणी ज्ञान की ओर बढ़ेगा तो उसकी प्रवृत्ति भी मोक्षाभिमुखी हो जायेगी।

पुरुषार्थों में सर्वोपरि मोक्ष है। मन्त्र का पूर्वार्द्ध—"ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्।" मोक्ष प्रतिपादक है शेष उत्तरार्द्ध के द्वारा अर्थ और काम पुरुषार्थ का वर्णन है। भेद बुद्धि अनर्थ की जड़ है। बन्धन में डालने वाली है। अत: जगत को ईश्वरमय (ईश से आवास्य अर्थात् व्याप्त) मानने पर भेद बुद्धि या द्वैत बुद्धि का क्षय होकर ईश्वर के साथ स्वात्मा एवं जगत् की एकाकारता, संसार मिथ्यात्व की प्रतीति के द्वारा होती है। जो कुछ भी जगत् में है वह ईश्वर ही है। ईश्वर से भिन्न नहीं। ईश्वर या ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। अत: जगत् ईश्वर रूप अधिष्ठान में प्रतीयमान है। जैसे मकड़ा अपने शरीर से जाला निकालता है और समेट भी लेता है, उसी प्रकार प्रपंच प्रतीति का प्राकट्य एवं लय भी अधिष्ठान भूत ब्रह्म में होता है। जो कुछ भी इस जगत् में मिथ्या प्रतीयमान है वह समस्त जगत् प्रपंच स्वरूप—ईशावास्यम् अर्थात् ईश्वर के द्वारा छेद्य (ईशा = ईश्वर के द्वारा ब्रह्मज्ञान

के द्वारा, वास्य अर्थात् छेद्य) है, लय कर लिया जाने योग्य है । मोक्ष पक्ष में प्रपंच जगज्जनन मरण चक्र—ब्रह्मज्ञान द्वारा छेद्य है क्योंकि वह अज्ञान मूलक है अतः आत्मज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश ही मोक्ष हुआ ।

तेन त्यक्तेन भुजीया:='काम' पुरुषार्थ का त्याग पूर्वक भोग करो। इस वाक्य का करण भूत वाक्य ईशावास्यमिदमसर्वम् है । यह सब कुछ ईश्वरमय है। ईश्वरीय विलास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। अत: जो ईश्वर का है अथवा ईश्वरीय भगवद्भावना से परिपूर्ण है उसका त्यागपूर्वक पालन करना चाहिए । भुंजीथा: का अर्थ आचार्य शंकर भगवत्पाद ने पालयेथा: (पालन करो) किया है । प्रश्न हुआ किसका पालन करो आत्मानम्=स्वयं का । आत्मसम्बद्ध का पालन करो अनात्मा या अनात्म पदार्थों का पालन मत करो यही तात्पर्य निकला । त्याग अनात्म सम्बद्ध का ही अभीप्सित है । इस दृष्टि से ही काम पुरुषार्थ को समझना चाहिए । तभी अन्त में मोक्ष प्रवृत्ति होगी अन्यथा नहीं। बृहदारण्यक ने कहा भी है—"आत्मनस्तु कामाय सर्वंप्रियं भवति ।" अत: आत्म कामता की ओर बढ़ने के लिए काम पुरुषार्थ को देखना है। यही कारण कि यहां भोग अर्थ न आचार्य को अभीष्ट है न वेद को। पद व्यत्य होने से यह आत्मनेपदी धातु नहीं अपितु परस्मैपदी ही मानना चाहिए, इसलिए आत्मा का पालन करो रक्षा करो। उतने मात्र के लिए जो आवश्यक है वही काम्य है, अन्य कुछ नहीं । यह उसी सन्दर्भ में समझना चाहिए "आत्मानं सततं रक्षेत् दारकारापि धनैरपि ।" आत्म-पालन रक्षण आवश्यक है, धन स्त्री आदि आवश्यक नहीं। जहां आत्मरक्षण से विषयों का विरोध हो तो विषयों का त्याग अभीष्ट है (त्यक्तेन भुजीथा:) । जहां तक आत्म-रक्षण की आत्मपरिपालन में उपयोगिता हो वहीं तक उनका ग्रहण किया जाये। आत्म विस्मरणार्थ उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए त्याग करना चाहिए। आत्म दृष्टि सतत बनी रहे । तदर्थ शरीर मात्रार्थ अत्यन्त आवश्यक नि:स्पृह काम ही यहां वस्तुत: काम पुरुषार्थ का तात्पर्य है ।

मा गृध: कस्य स्विद्धनम् । अर्थ पुरुषार्थनिरूपण :

यहां गृध धातु का प्रयोग किया गया है। इसी से गर्ध शब्द बनता है जिसका अर्थ तृष्णा है। अत: उपर्युक्त वाक्य का अर्थ हुआ तृष्णा मत करो । धन या सांसारिक विषय किसी के अपने नहीं हो सकते । ये अमरत्व की ओर न ले जा सकते इसलिए धन या विषयों की तृष्णा या गर्ध नहीं करना चाहिए। क्योंकि धन का स्वामी कोई नहीं न सकता । धनम् कस्य स्वित्=धन किसी का हुआ है आज तक ? अर्थात् धन किसी का नहीं हुआ । "सम्मीलिते नयनयो र्न हि किंचिदस्ति ।" आंख बन्द हुई तो धन कहां और व्यक्ति कहां । अत: धन की ओर लोलुप दृष्टि नहीं करनी चाहिए। इसीलिए तो कहा गया है—"गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ।" मृत्यु ने व्यक्ति को हर दम घेरा हुआ है ऐसा धर्म का आचरण कर धर्मपूर्वक ही काम और अर्थ का भी यथानिवार्य अर्जन करे। धर्म तृष्णा में नहीं त्याग में है, इसीलिए कहा गया है—"त्यागेनैकेनामृतत्वमानशु: ।" तृष्णा के त्याग की महिमा अपार है। त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है । महाभारत कहती है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम् ।
तां तृष्णां सन्त्यजन् प्राज्ञ: सुखे नेवाभिपूर्यते ॥

तृष्णा को छोड़े बिना सुख प्राप्त हो ही नहीं सकता । वह दुर्मति है जो तृष्णा को नहीं छोड़ सकता । मनुस्मृति कार की दृष्टि में तृष्णा को छोड़ने से जो सुख मिलता है वह सर्वोपरि है—

"यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हत: षोडशीं कलाम् ॥" म० स्मृ०॥

संक्षेप में इस मन्त्र में—ईशावास्यमिदम्—यह सिद्धांत पक्ष है, भावना है। और भावना का व्यावहारिक पक्ष "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:" तथा "मा गृध: कस्य स्विद्धनम् ।" ये दोनों आदेश वाक्य हैं।

द्वितीय मन्त्र

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।2।।

मन्त्रार्थ—इस लोक में या जगत् में शास्त्रानुसार ईश्वरीय दृष्टि से त्यागपूर्वक ममत्व रहित निःस्पृह भाव से फलाभिसन्धिशून्य होकर कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे दीर्घ जीवन की कामना करे। इस प्रकार निष्काम भाव से कर्म करने पर व्यक्ति कर्मलिप्त नहीं होता। आसक्ति नहीं होती कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभिमान नहीं होता। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है।

व्याख्या—आचार्य शंकर भगवत्पाद ने मन्त्र के भाष्य में लिखा हैं कि ईशावास्य आदि प्रथम मन्त्र परमार्थ दर्शी ज्ञानी पुरुष के लिए है। तथा दूसरा मन्त्र संसारी पुरुषों के लिए है। किन्तु यदि समन्वय किया जाये तो भगवत्पाद के ही आदेश सूत्र—स्तुतयेऽनुमतिर्वा (ब्र० सू० 3. 4. 14) सिद्धांत के अनुसार प्रकरण सामर्थ्यात् 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'— आदि मन्त्र का सम्बन्ध भी ज्ञानी पुरुष के लिए ही होना चाहिए। अतः ब्रह्म ज्ञान की स्तुति या प्रशंसा परक मन्त्र को मानकर तदर्थ ज्ञानी के लिए कर्म की अनुमति, जैसा कि गीता में कहा है 'लोक संग्रहमेवार्थम्' मानना चाहिए। क्योंकि 'न कर्म लिप्यते नरे' यह अज्ञानी के लिए कैसे हो सकता है। अज्ञानी निर्लिप्त नहीं हो सकता वह तो लिप्त ही होगा। इसीलिए गीता में भी कहा गया है कि ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनों का प्रतिपादन करते हुए ज्ञानी को भी निष्काम कर्म स्वधर्म समझकर करना ही होगा; क्योंकि कर्म तो शरीर का धर्म है और जब तक शरीर है कर्म करना ही होगा। अन्तर इतना ही है कि ज्ञानी निष्काम निर्लिप्त फल की इच्छाएं रहित, ईश्वरार्पण बुद्धि से, नाहं करोमि नाहं करोमि नाहं कर्महेतुः' कर्मफल हेतुर्वा, नाहं भोक्ता आदि भाव से कर्म करेगा। और अज्ञानी मैं कर्त्ता हूं मैं भोक्ता हूं ऐसी भावना से कर्म करने के कारण से लिप्त रहेगा अतएव मोक्ष का अधिकारी नहीं होगा। इसीलिए तो भगवान् ने कहा—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति, न मे कर्मफले स्पृहा।

(मेरी कर्म फल में स्पृहा नहीं है यही कारण है कि कर्म लिप्त नहीं करते)। यही भाव अन्यत्र भी मिलता है—

"कर्मण्येवाधिकारस्त मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफले हेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि ।।"

शास्त्र विरुद्ध फलस्पृहा पूर्वक कर्म नहीं करना चाहिए। और कर्म में अहंकार ममकार भी नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर प्राणी कर्म से लिप्त नहीं होगा—

"यस्य नाहं कृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि सइमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ।।"

यद्यपि ज्ञानी के लिए कर्म शेष नहीं रहता ("तस्य कार्यं न विद्यते।")

तथापि "नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायोध्य कर्मणः।"

शास्त्रोक्त निश्चित कर्म करना ही चाहिए क्योंकि अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है।

कर्म न करने से तो शरीर यात्रा भी नहीं चल सकेगी, "शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः")।

गीता के ये इसी प्रकार के अन्य श्लोक केवल मात्र ईशावास्य के द्वितीयमन्त्र की ही व्याख्या करते हैं। अतः मन्त्र का संक्षिप्त अभिप्राय यह हुआ कि ज्ञानी पुरुष यावज्जीवन उपर्युक्त भाव से यदि कर्म करता रहे तो भी ज्ञान या विद्या सामर्थ्य से वह कर्म से लिप्त नहीं होता। यह स्वाभाविक कर्म की अनुमति या ब्रह्मविद्या की स्तुति हुई।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रथम मन्त्र में पुरुषार्थ त्रय प्रतिपादित है। किन्तु चारों ही प्रथम मन्त्र में समाविष्ट प्रतीत होते हैं। पुरुषार्थ पुरुष या मनुष्य के लिए होते हैं, पशु के लिए नहीं। धर्म के बिना काम, अर्थ एवं मोक्ष पंगु हैं। कहा भी गया है कि मनुष्य और पशु में यदि अन्तर है तो धर्म का ही है=''धर्मेण हीना: पशुभि: समाना: ।'' त्यागपूर्वक स्वात्मपालन ही धर्म है। धन की ओर लुब्ध दृष्टि न रखना तथा किसी अन्य के धन की इच्छा न करना अथवा धन को व्यक्तिगत सम्पत्ति न मानकर ईश्वर की वस्तु मानते हुए उसके लिए रागद्वेष छीना झपटी नहीं करनी चाहिए कहा भी गया है—'सबै भूमि गोपाल की या में अटक कहा।'' वास्तव में धन न किसी का हुआ है न होगा, इस भाव से लोलुप दृष्टि का त्याग करते हुए धर्मपूर्वक, न्यायपूर्वक यथोचित अनिवार्य धन ही अर्जन करना चाहिए। इसीलिए अपरिग्रह या धन का अन्यायपूर्वक अनावश्यक संग्रह का वर्जन धर्म है। यह भाव पूर्व मन्त्र से भी स्पष्ट है। तथापि 'आचार : परमो धर्म:' के सिद्धांत का स्पष्ट रूप कुर्वन्नेवेह मन्त्र में है। तदनुसार शास्त्रोक्त फलेच्छा रहित भाव से जीवन पर्यन्त कर्म करते रहना धर्म है और यही धर्म पुरुषार्थ है। धर्म ही अन्य पुरुषार्थ त्रय का मूल है। यदि धर्महीन पुरुषार्थ का आचरण होगा तो वह पशुवत् आचरण ही होगा मानवीय आचरण नहीं होगा।

गीता में उपदिष्ट निष्काम कर्मयोग इस मन्त्र में स्पष्ट परिलक्षित होता है। अकर्मण्यता वेद भगवान को अभीष्ट नहीं इसलिए कहा 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'। अकर्मण्यता दीर्घ जीवन की विरोधिनी है। अत: निष्काम निर्लोभ-भाव-पूर्वक साथ ही कर्म फल का कारण न बनते हुए, फल की इच्छा से रहित, 'अहं' और 'मम' भाव से अपने को कर्ता और शून्य होकर भोक्ता न मानते हुए शास्त्रोक्त धर्म कर्म करते रहकर दीर्घ जीवन की कामना इसलिए की गई है कि उपर्युक्त प्रकार से धर्म कर्म करते रहने से कालान्तर में चित्त शुद्धि होकर ज्ञान की प्राप्ति होगी और ज्ञानप्राप्ति द्वारा ब्राह्मी स्थिति और इसी जीवन में मुक्ति लाभ होगा, बारम्बार जन्म मरण चक्र से छुटकारा होगा। ब्रह्मसायुज्य लाभ होकर शरीर त्याग होने पर ब्रह्म लीनता होगी।

''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।
न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते ।''

कर्म करना सभी के लिए आवश्यक है। जब ब्रह्म ज्ञानी या ब्रह्मवेत्ता को भी कर्म की अनुमति है तो अन्य संसारी पुरुषों को तो कर्म करना ही पड़ेगा। अकर्म में आसक्ति नहीं होनी चाहिए तथा कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। ब्रह्म ज्ञानी, ज्ञानी होते हुए भी कर्म करता रहेगा तब भी उसका पुनर्जन्म नहीं होगा – ''सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।'' कर्म करते हुए भी वह ज्ञानी तथा भगवन्निष्ठ या ब्रह्मनिष्ठ भी बना रहेगा—''सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।''

मंत्र में प्रयुक्त जिजीविषेत् पद से तात्पर्य है कि व्यक्ति जीवन की इच्छा करे भोग की या भोग लिप्ति की इच्छा न करे। क्योंकि पूर्व मन्त्र के अनुसार 'ब्रह्मैवं सर्वम्' बुद्धि होने पर, सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा का सर्वत्र दर्शन करने पर शाश्वत जीवन (सत्) शाश्वत ज्ञान (चित्) शाश्वत सुखमा, आनन्द की ही अनुभूति हुआ करती है। इसे ही—''अस्ति भाति प्रियम, रूपं नाम चेत्यंश पंचकम्।

आद्य त्रयं ब्रह्म रूपम 'जगद्रूपमतो द्वयम्'। नाम रूपात्मक जगत् होता है। अस्ति (सत्) भाति (चित्) प्रिय का स्वरूप है। इसलिए ब्रह्म ज्ञान का विधान है। निष्काम कर्म का, इस प्रकार पूर्णता का भान होने पर कोई इच्छा ही अवशिष्ट नहीं रहेगी। इसलिए केवल 'जिजीविषेत्' कहा।

कर्माणि पद से यहां शास्त्रोक्त शुभ कर्म ही लेना चाहिए वह भी निष्काम कहा भी है। 'मुहूर्तमपि जीवेच्छुक्लेन कर्मणा' (थोड़ा सा भी जीना है तो अच्छे कर्म करते हुए जिये)

मनुस्मृति में कहा गया है—जिन कर्मों के करने से अन्तरात्मा की तृप्ति, या सन्तुष्टि होती हो वे श्रेष्ठ और इनके करने से आत्मग्लानि होती हो तो वे कर्म गर्हित, निन्दित या कुकर्म अकर्म या विपरीत कर्म होते हैं उन्हें नहीं करना चाहिए। क्योंकि उनसे अन्तरात्मा का परितोष नहीं होता।

"यत्कर्म कुर्वतोस्यास्य परितोषान्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥"

मनुष्य की बुद्धि में अपूर्णता होती है। अतः कौन-सा कर्म है, कौन सा अकर्म और कौन-सा विकर्म यह मनुष्य नहीं समझ पाता। क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए। इसका निर्धारण मनुष्य सीमित बुद्धि से नहीं कर पाता। एतदर्थ मानव कल्याणकारी शास्त्र ही निर्धारण कर सकता है कि यह कर्म है, और यह विपरीत कर्म। इस हेतु से कर्म पद का अर्थ सर्वत्र शास्त्रोक्त निष्काम कर्म ही किया जाता है।

इसके अतिरिक्त और अन्य कोई उपाय नहीं है="एवं त्वयि नान्यथेऽतोस्ति।" और इसका लाभ क्या? शास्त्रोक्त कर्म भी निष्काम-भाव के कर्ता और भोक्ता का भाव न रखते हुए निस्पृह होकर ("कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।") क्यों किया जाये ? तो उत्तर में कहा—"न कर्म लिप्यतेनरे।" इस प्रकार करने पर कर्म लेप नहीं होता, कर्मलेप होगा तो वह लिप्त हुआ कर्म लिंग शरीर में ही स्थित रहेगा उसका विलय नहीं होने देगा। उस स्थिति में "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्" का चक्र चलता ही रहेगा, कभी समाप्त नही होगा। अतएव यह आवश्यक है कि कर्म करते हुए भी आत्मा को अकर्ता अभोक्ता समझे (कर्मण्यकर्म य पश्येत्)। समस्त कर्मों को ईश्वरार्पणभाव से ईश्वर में ही होते हुए समझे स्वयं में या स्वयं के द्वारा न समझे। वस्तुतः ब्रह्मचिन्तन को या सर्वत्र भगवद् भावना को कर्म मानते (अकर्मणि च कर्म यः) वाला ही बुद्धिमान है। वही योगी है, वही वस्तुतः कर्मकर्ता है जो उपर्युक्त भाव में पुष्करपलाशवत् निर्लिप्त भाव से जीता है—"सबुद्धिमान् मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्न कर्म कृत्।"

तृतीय मन्त्र

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

अनुवाद—जो सर्वत्र आत्मदृष्टि नहीं रखते ("आत्मवेदं सर्वम् इदं सर्वं यदयमात्मा") अथवा ईश्वर को सर्वत्र व्याप्त नहीं मानते वे आत्मघाती हैं। ऐसे व्यक्ति घोरान्धकार से व्याप्त असुरों के योग्य लोकों में और असुर योनियों में मृत्यु के अनन्तर जन्म लेते हैं।

व्याख्या—प्रथम मन्त्र के द्वारा, सर्वत्र आत्मदर्शन, नामरूपात्मक मिथ्याभूत नश्वर जगत् में अनास्था, त्याग पूर्वक आत्मपरिपालन, धन पद से उपलक्षित सांसारिक विषयभोगों की ओर लोलुप दृष्टि न रखना, अथ च द्वितीय मन्त्रोपदिष्ट रीत्या लोक संग्रहार्थ ही शास्त्रोक्त कर्म करना आदि आदेश दिये गये हैं। इन सब आदेशों के विपरीत जो आचरण करता है, प्रसंगानुसार उसे ही आत्मघाती कहना चाहिए। अथवा गीता में जो स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहे गये हैं, उनके विपरीत आचरण करने वाला आत्मघाती है। यहां 'जन' शब्द का सार्थक प्रयोग किया गया है। 'जायते इति जनः' जो जन्म लेता है उसे 'जन' कहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता, जीव और ब्रह्म के एकत्व को नहीं पहचानता वह विषयभोगों में लिप्त रहने वाला, उनमें निरन्तर डूबता उतरता हुआ पुरुष है, वह घोरान्धकार से आवृत आसुरी तमः प्रधान योनियों में बार-बार जन्म लेता है। कारण यह है कि आत्मज्ञान के अभाव में ब्रह्मात्मैक्य बोध न होने के कारण ऐसे व्यक्ति के शोक मोह का नाश नहीं होगा। वर्तमान जन्म में भी तो वह आसुरी भाव में है ही, मृत्यु के उपरान्त भी और अधिक घोर तामस योनियों कर्दम कीट, (पतंग, वृक्ष पशु पक्षी आदि में भी

तारतम्यानुसार निम्नोच्च भाव होता है) आदि निम्नातिनिम्न योनियों में जन्म लेगा। इन योनियों को ही आचार्य शंकर भगवत्पाद ने 'असुर्यलोक' बतलाया है।

लोका: कर्मफलानि, लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते इति जन्मानि। वे जन्म जहां कर्मफल भोगना पड़े 'लोक' हैं वे ही योनियां हैं। आचार्य के अनुसार इस दृष्टि से देव योनि या देव लोक भी असुर्य हैं। क्योंकि वह भी भोगभूमि है और इन्द्रियाराम संज्ञा भी देवगण की है, इसीलिए "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" कहा गया है। वस्तुत: कर्मनिष्ठा वाला प्राणी भी, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है और जिसने स्वर्गादि की कामना से कर्म किया है, आत्मघाती है। तदनुसार स्वर्गादि लोक भी अज्ञान मूलक हैं। जहां भी स्रक् चंदन वनितादि विषयभोग हैं वे सब असुर्य लोक हैं। कर्म फलानुसार अज्ञानी प्राणी शुभाशुभ योनियों में जाता आता रहेगा, जब तक आत्मज्ञान नहीं प्राप्त होता।

असुर=असुषु इन्द्रियेषु रमन्ते इति असुरा: अर्थात् इन्द्रियारामप्राणी। जो इन्द्रियों के भोग की हां इच्छा से कर्म करता हो वह इन्द्रियाराम या इन्द्रियों में रमण करने वाला हुआ। गीता में कहा गया है—"अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।"

ऐसे प्राणी का जीवन पापमय होता है। अत: उसे अघायु या पापायु कहा गया है। क्योंकि उसकी सभी ज्ञानेन्द्रियां कर्मेन्द्रियां विषयों में रमण करती हैं अत: वह इन्द्रियाराम है, उसका जीवन व्यर्थ है।

मानव शरीर का उद्देश्य ही अपने शुद्धबुद्ध मुक्त नित्य सच्चिदानन्द घन परमात्म स्वरूप का ज्ञान और तदनन्तर मोक्ष प्राप्ति है। मानव योनि की अपेक्षा अन्ययोनियां तामस हैं। इन योनियों में आत्मज्ञान की लेशमात्र भी सम्भावना नहीं। इसलिए मनुष्य जीवन यदि केवल मात्र भोग के लिए समर्पित कर दिया जाये तो आत्म-घात ही होगा। केनोपनिषद् कहता है यदि इसी मानव जीवन में परमात्मा को पा लिया, जान लिया तो जीवन का लक्ष्य परम सत्य मिल गया। और यदि परमात्मा को नही पाया तो सर्वनाश हो गया समझो।

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि:।"

संक्षेप में विपरीतदर्शी को आत्मघाती कहते हैं। अनात्म पदार्थ को आत्मा मानने वाला तथा अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वरूप, सर्वज्ञ सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दघन आत्मा को कर्ता भोक्ता परिछिन्न, अनित्य अव्यापी आदि रूप से मानने वाला व्यक्ति ही आत्मघाती है और ऐसा व्यक्ति सर्वदा ही अज्ञानरूपी अन्धकार से घिरा रहता है, अज्ञानान्धकार से उसकी चेतना ढकी हुई रहती है। 'तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति' द्वारा बतलाया गया है कि इस जन्म में तो ये प्राणी अज्ञानान्धसागर में डूबे हुए रहते ही हैं, मरने के बाद भी उनका जन्म घोर तामसी योनियों में ही होता है।

अन्धंतम—वस्तुत: कहा गया है कि "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" आत्मा के प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित है। यदि यह ज्ञान नहीं हुआ कि आत्मा ही शरीरस्थ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को चैतन्यमान कर संचालित कर रहा है, तो वह अन्धंतम प्रवेश ही होगा। क्योंकि सांख्य दर्शन का प्रसिद्ध पंगवन्ध न्याय इन्द्रियों पर लागू होता है, ज्ञानेन्द्रियां पंगु हैं और कर्मेन्द्रियां अन्ध, प्रथम केवल संवेदना पूरक हैं किन्तु अक्रिय। दूसरी क्रिया परक है परन्तु संवेदना रहित। दोनों के मिलने से ही समग्र व्यवहार चलता है। आत्मा कुछ नहीं, ऐसी मान्यता वाला आत्मघाती है, क्योंकि आत्मप्रकाश चैतन्यप्रसार के बिना उभयेन्द्रिय का पंगुवन्धवन्मिलन कुछ नहीं कर पायेगा। आचार्य शंकर भगवत्पाद ने लिखा है—"यथा कर्म यथा श्रुतम्" अज्ञानी प्राणी शरीरान्त होने पर अपने ज्ञान और कर्म के अनुसार ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त योनियों में जाते हैं।

गीता का भी कहना है—

"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजयन्ते कलेवरम् ।
तं तमे वैति कौन्तेय सदा तद्भाव भवितः ।।"

जैसा कर्म, कर्म-वासना और ज्ञान होगा उसी भाव के अनुसार मरणोत्तर योनि प्राप्त होगी। बृहदारण्यक उपनिषद् उसी के असंल की ओर गमन मानता है अतएव ज्ञानी की प्रार्थना है—असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्यो र्माऽमृतं गमय। अर्थात् हमें ज्योति (चित्) अमृत (आनन्द) की ओर प्रेरित करो असत् अचित् और दुःख की ओर न जाने दो। यहां अन्धतम से तात्पर्य घोर जड़ता से है। जो जड़ है वह मृत्यु के बाद आसुरी योनियों में आयेगा क्योंकि वह भगवद् भाव को प्राप्त नहीं कर पाता ऐसा स्वयं भगवान् गीता में कहते हैं—

तानहं द्विषत क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षियाम्यजस्रम शुभा नासुरीष्वेव योनिषु ।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।

निष्कर्ष यही है कि जो ईश्वर से अतिरिक्त संसार की सत्ता मानता है वह अन्धतम में डूबा हुआ है। ठीक इसी आशय का, लगभग ज्यों का त्यों, केवल कुछ अन्तर से यही मन्त्र बृहदारण्यक में भी इसी रूप में उपलब्ध होता है।

"अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसऽबुधो जनाः ।।"

यहां 'आत्महनो जनाः' के स्थान पर 'अविद्वांसोऽबुधो जना;' पद है। तात्पर्य एक ही है दोनों पदों का।

चतुर्थ मन्त्र

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्या नत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।

अनुवाद—वह आत्मतत्व कैसा है?—इस प्रश्न का उत्तर तथा आत्मतत्व निरूपण ही इस मन्त्र का विषय ह। वह ईश्वर अथवा आत्मा अपरिणामी है। एक है अद्वितीय है। मन से भी अधिक वेगशाली है। इन्द्रियां इस आत्मा को नहीं पा सकतीं (अर्थात् इन्द्रियों से इसे नहीं जा सकता)। यह इन्द्रियातीत, इन्द्रियऽगोचर है। क्योंकि वह इन्द्रियों से भी पूर्व विद्यमान है एवं सब के पहले से ही है। सदा से सर्वव्यापक है, अतः अव्यापक इन्द्रियां उसे नहीं पा सकती। वह स्वयं अविचल है, स्थिर है फिर भी सम्पूर्ण गतिशील धावमान वेगवान् परिणामी पदार्थों का अतिक्रमण कर जाता है क्योंकि वह प्रथमतः ही सर्वगत है, सर्वत्र व्याप्त है। इस आत्मा की सर्वव्यापी सत्ता से ही अनुप्राणित हो वायु समस्त प्राणियों के अन्न व अग्नि सूर्य ग्रह क्षेत्रादि सभी के क्रिया कलापों का विभाजन करता है, बांटता है।

व्याख्या—पूर्व मन्त्र से आत्मा ईश्वर तथा परब्रह्म के अभेद का स्पष्टीकरण नहीं हुआ। अतः इस मन्त्र में इन्हीं विषयों का प्रतिपादन है। ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगत् की सृष्टि स्थिति संहार का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है किन्तु परोक्ष है।

आत्मा अपरोक्ष, अल्पज्ञ अल्प शक्तिमान, सुखी-दुःखी, संसारी जीव है। विरोधी प्रतीत होने वाले इन दोनों आत्मा व परमात्मा की एकता कैसे है? तत्त्वमसि महावाक्य दोनों में अभेद का प्रतिपादन करता है, इसमें लक्ष्यार्थ चित्

तत्त्व है। और भागत्याग लक्षणा द्वारा, परोक्षत्व अपरोक्षत्व परिच्छिन्नत्व आदि अंशों का त्याग कर केवल मात्र चिदंश या चैतन्यांश में लक्षणा करने पर वांछितार्थ प्राप्त होती है।

उपनिषद् शुद्ध ज्ञान, ईश्वर या परमात्मा तथा आत्मा की पारमार्थिक एकता का ज्ञान कराने वाला तत्त्वज्ञान है। इसमें "तत्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि", "अयमात्माब्रह्म" एवम् "प्रज्ञानं ब्रह्म" आदि महावाक्यों के द्वारा एकता ज्ञान या तत्त्व ज्ञान कराया जाता है। यही उपनिषदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। यह तत्त्व ज्ञान कर्म का शेष नहीं, क्योंकि इस ज्ञान के होने पर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। आत्मज्ञानी कृत कृत्य-प्राप्त प्राप्तव्य, ज्ञात ज्ञातव्य बन जाता है। श्री सुरेश्वराचार्य ने इसे समझाते हुए कहा है कि कर्मांगभूत ज्ञान संस्कार जन्य और संस्कार फलक नहीं होता। परन्तु तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान संस्कार जन्य तथा संस्कार फलक नहीं होता। क्योंकि न वह संस्कार से उत्पन्न है और न संस्कार रूप फल का उत्पादक है। आत्म-विज्ञान में न कुछ करना है न पाना है। वह यथावस्थिति का यथावत् बोध है। जैसे हार गले में होने पर भी विस्मृति के कारण उपलब्ध नहीं होता और जब कोई अन्य बतलाये कि वह गले में ही है, तो बोध हो जाता है। यही कर्म विस्मृत को बतलाने वाले महावाक्य करते हैं।

"सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
परांग, चात्मविज्ञानायान्नान्यत्र ह्यवधार्यताम्।।"

इसी दृष्टि से चतुर्थ एवं पंचम मन्त्र, आत्मस्वरूप का ज्ञान प्रदान करते हैं। तदनुसार आत्मा अविचल है, पूर्ण है, अद्वितीय है, सर्वाधिष्ठान स्वरूप है। पंचम मन्त्र के अनुसार आत्मा अपरिच्छिन है अर्थात् देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है। न वहां अन्त है न बाह्य है, वह सर्वगत सर्वव्यापक है। उपनिषद् ही, तत्वज्ञान अर्थात् अकर्ता, अभोक्ता असंसारी अपरिच्छिन्न अपरोक्ष, शुद्ध बुद्ध मुक्त नित्य सच्चिदानन्द धन परमात्मा ईश्वर या आत्मा से अभिन्न है, इस ज्ञान का प्रतिपादक है।

मन्त्र तात्पर्य—आत्मा को मन्त्र में अनेजत कहा है। यहां 'न' निषेध वाचक है तथा उसके सहित एजृ (कम्पने) धातु का यह अनेजत् घोषित करता है कि आत्मा विचलित नहीं होता अविचलित रहता है, अर्थात् गतिशील नहीं है। गतिमान् परिछिन्न होते हैं उनसे विलक्षण ही यह अपरिच्छिन्न आत्मा है। सर्वव्यापकता और अपरिच्छिन्नता के कारण ही स्थैर्य है, अविचलता है। जब आत्मा से अव्याप्त कुछ है ही नहीं, सब कुछ सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है, "आकाशवत् सर्वगतश्चनित्यः" तब गति का प्रश्न ही क्या ? उसकी संभावना ही नहीं रहती। यही तत्त्व ब्रह्म है। उसमें समग्र गतियां समाहित हैं जो गतिशील और गति का अधिष्ठान है। जहां भी गति है उसकी प्रतीति इसके द्वारा ही संभव है। यह साक्षी है, द्रष्टा है, केवल है, निर्गुण है, अतएव अपरिणामी भी है। परिणाम का नाम ही गति है। यह आत्मा परिणाम या गति का साक्षी तो है पर गतिशील नहीं। गतिशील होगा तो सर्वगति का साक्षी नहीं हो सकता। अतः समग्र परिणाम का साक्षी अपरिणामी ही होगा। साक्षी ही सर्वाधिष्ठान कहलाता है। अंतः आत्मा अपरिणामी, निर्विकार, एकरस है। सर्वदा एक रूप है। इसी विषय में आचार्यपाद लिखते हैं—

"कम्पनं चलनं स्वावस्था प्रच्युतिः तद्विवर्जितम् सर्वदैकरूपमित्यर्थः।"

यह आत्मा का परिचायक पहला उपदेश है। अनेजत् पद के द्वारा सर्वगति निषेध याने परिणाम विवर्जन का बोध होता है। अतः परिच्छिन्नता कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व सर्वोपाधि विवर्जित कहना ही इस पद का तात्पर्य है तथा देश, काल, आकार, गुण, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि सब गतियां मानी जाती हैं। इन्हें ही परिणाम भी कहते हैं, अतः उनसे रहित, उनसे विलक्षण सर्वाधिष्ठान, सर्वसाक्षी ब्रह्म तत्त्व अनेजत् आत्मा ही है। तथापि यह ब्रह्म का मुख्य स्वरूप नहीं है, मुख्य स्वरूप तो ब्रह्म का ज्ञान ही कहा गया है।

द्वितीय परिचायक लक्षण

एकम्—वह एक है। जगत्कारण ईश्वर और आत्मा अभिन्न है। देह, इन्द्रिय, प्राण, अग्नि, वायु महत्तत्व आदि प्रतीय मान भेदों से आत्मा का भेद नहीं होता वह अद्वितीय है। आत्मातिरिक्त प्रपंच महाभूत अग्नि वायु महत् अहंकारादि जाग्रदादि अवस्थाएं सब प्रतीयमान हैं, असत् है। सत् एक है वह ब्रह्म तत्त्व है। देहादि आकार, पृथ्वी आदि तत्त्व व्यवहार गुण आदि से आत्मा में भिन्नता नहीं आ सकती। इसीलिए आचार्य भगवत्पाद ने कहा "तत्त्वैकं सर्वभूतेषु।" अन्यत्र भी वेदों में कहा गया है कि यद्यपि यह आत्मा और ब्रह्म एक ही है तथापि अनेक रूपों में अनेक प्रकार से इसका वर्णन हो रहा है। और यह एक की अनेकता ही वेदान्त का विवर्त है। यह अनेकता यह विश्वरूपता अधिष्ठान भूत ब्रह्म में रज्जुसर्प वत् कल्पित है। अनेकत्व अध्यस्त है, एक रूप अधिष्ठान में कारण सबका एक ही सत् है, उसमें कार्य प्रतीति अनेक है। कारण केन्द्रित दृष्टि होते ही एकत्व बोध हो जाता है। एकत्व वास्तविक है, परमार्थिक है, सत्य या सत् है। अनेकत्व भ्रम है असत्, असत्य या मिथ्या है। इसीलिए इसे छान्दोग्य में "एकमेवाऽद्वितीयम्" कहा गया। यद्यपि सत् तत्त्व एक ही है, किन्तु कार्य दृष्ट्या जो अनेकत्व प्रतीति हो रही है वहां भी सर्वत्र अन्वित अनुस्यूत एक सत् तत्त्व ही है। वह स्वरूपतः च्युत न होने से अद्वितीय है। अनेकशः बहुधा प्रतीत होने पर भी एक, अखण्ड, अद्वितीय है। इसीलिए श्रुति कहती है—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, एकं वास्तद् विबभूव विश्वम्।" यहां अद्वितीय का तात्पर्य अखण्ड अविभाग-योग्य है। इसका विभाग या खण्ड या द्विगुणीकरण, त्रिगुणीकरण नहीं हो सकता। अद्वितीय सत् जो है वह न कार्य है न कारण अथच सर्वाधिष्ठान है। एक शब्द का प्रयोग अपेक्षा दृष्टि से है तथा अद्वितीय का तात्पर्य परमार्थ सत्य है। अनेकशः प्रतीयमान में एक ब्रह्म सत्य भासित है। यहां प्रतीयमान अनेक की अपेक्षा से एक कहा तथा तद्भिन्न सब मिथ्या है परमार्थतः सत्य एक ब्रह्म ही है। यह बतलाने के लिए अद्वितीय पद का प्रयोग किया गया है। 'अद्वितीय' को लक्ष्यार्थ कहें तो 'एकम्' को वाच्यार्थ कहा जा सकता है। अनेक के कारण रूप में एक सत् आत्मा, सर्वाधिष्ठान सत्य स्वरूप में अद्वितीय कहेंगे। अनेकत् अपरिणामी निर्विकार और एकम्। दोनों पदों का सम्मिलित तात्पर्य ही 'एकमेवाद्वितीयम्' के द्वारा भी बतलाया गया है।

तृतीय परिचायक लक्षण

मनसो जवीयः—मन से भी अधिक वेगशाली, मन की पहुंच से परे अर्थात् जो मन का विषय नहीं बन सकता, "यन्मनसा न मनुते।" किसी भी रूप में आत्मा मन का विषय नहीं हो सकता न सर्वव्यापक रूप से और न ही 'प्रत्यक-चैतन्य' या जीवात्म रूप से। मन से अधिक वेगशाली का तात्पर्य है जहां मन पहुंचता है वहां परमात्मा पहले से ही है। मन के समग्र क्रियाकलाप का साक्षी है आत्मा। मन का अधिष्ठान है आत्मा, मन का प्रकाशक है आत्मा, अतः मन द्वारा, परमात्मा (ब्रह्म) का ईश्वर, आत्मा प्रत्यक्चैतन्य, किसी भी रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। जब मन का अविषय है तो प्रश्न होता है, फिर आत्मा का ज्ञान कैसे हो? अनेकशः इस प्रकार का वर्णन आता है—"मनसेवाऽनुद्रष्टव्यम्।" यह वर्णन शाखा चन्द्र न्याय से है जैसे कहा जाता है कि पेड़ की डाली पर चांद है। वस्तुतः चन्द्र वृक्षशाखा पर हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार की उपर्युक्त उक्ति भी है। इसीलिए श्रुति निषेध विषया व्याख्या का सहारा लेती है। समस्त अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि का निषेध 'नेति नेति' द्वारा करते-करते जब निषेध की सीमा आगयी तब केवल मात्र सच्चिदानन्द, अद्वय, परमात्मा ही अवशिष्ट रहा और इस स्थिति के पश्चात् आत्मानुभव के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभव नहीं होता।

वस्तुतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वही आत्मा जब एक वस्तु विषयक चिन्तन या संकल्प विकल्प परक हो तो मन कहलाता है, अनेक वस्तुविषयक हो तो इन्द्रियां कहलाता है। "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" जो कुछ भी प्रतीति है, ज्ञान है, बोध है वह सब चैतन्य आत्मा के कारण ही तो है, चाहे देह बोध हो या इन्द्रिय बोध, मनोबोध होया बुद्धि बोध। सर्वत्र ज्ञान स्वरूप आत्मा ही तो है। इसीलिए उपनिषद् कहते हैं—"आत्मैवेदं सर्वम्।" "ब्रह्मैवेदं सर्वम्।" अतः जहां

मन जाता है वहां आत्मा इस दृष्टि से भी पूर्वतः ही है। 'पूर्वमर्षत्' पद द्वारा यहां यही बतलाया गया है। यहां अनेजत्= अकम्पनशील और जवीयः परस्पर विरुद्ध कथन नहीं है। औपाधिक भेद से यह प्रतीति होती है। जैसे घटाकाश घट के चलने से चलता हुआ प्रतीत होता है किन्तु महाकाश रूप से स्थिर है। उसी प्रकार निरूपाधिक आत्मा अनेजत् और मन की उपाधि के कारण जवीय है।

चतुर्थ परिचायक लक्षण

नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्—इस पद की व्याख्या में आचार्य शंकर 'देवा' पद का अर्थ 'इन्द्रियाणि' करते हैं। दिव् धातु से देव पद बनता है, "द्योतनाद्देवाः" द्योतन या प्रकाशन करने वाले को देव कहते हैं। इन्द्रियां विषयों का प्रकाशय करती हैं अतः उन्हें देव पद से अभिहित किया जाता है। चक्षु, घ्राण, रसना, श्रोत्र, त्वक् आदि सब देव हैं। यह वाक्य पूर्व वाक्य का पूरक है। यद्यपि मन भी इन्द्रिय है किन्तु वह ज्ञान और कर्म दोनों से संयुक्त है साथ ही आन्तरिन्द्रिय है। और वेगशालित्व भी मन में ही है। अतः मन्त्र में अन्य इन्द्रियों से मन का पृथक् उल्लेख किया गया है। जब आत्मा को मन ही नहीं पा सकता तो अन्य इन्द्रियों की तो बात ही क्या है। मन तो अत्यन्त जवीय है। मन और इन्द्रियां और द्रोनों ही इसे नहीं पा सकतीं कारण, 'पूर्वम् अर्षत्' अर्थात् वह मन इन्द्रिय आदि सबसे पूर्व (पहले) ही है सर्वगत होने के कारण। मन जहां जायेगा वहां आत्मा पहले ही सर्वगत सत्ता के कारण स्थित होगा। इन्द्रियां भला इसे कैसे पा सकती हैं क्योंकि वह तो इन्द्रियों से पूर्व ही है। इन्द्रियों की प्रकाशन शक्ति सीमित है। वह असीमित अपरिच्छिन्न आत्मा का प्रकाश कैसे कर सकती हैं? पारमार्थिक दृष्टि से इन्द्रियों में प्रकाशकत्व का कारण भी आत्मा है। उसके प्रकाश से ही गौण आरोपित प्रकाश इन्द्रियों में है। इन्द्रियां उपाधिरूप से चेतन आत्म रूप अधिष्ठान में प्रतीयमान है। वही इन्द्रियों को प्रकाश द्वारा आभासित कर रहा है। जैसे मन उपाधि रूप है उसी प्रकार इन्द्रियां भी उपाधि रूपा हैं और चेतन आत्मा के ही विशिष्ट आभास हैं। भिन्न-भिन्न विशेषताओं के कारण 'देवा' इस बहुवचन का प्रयोग करते हुए इन्हें अलग-अलग देव कहा है। इन्द्रियों के लिए देव पद के प्रयोग की पुष्टि बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य शाकल्य-संवाद से भी होती है। वहां याज्ञवल्क्य से देवों की संख्या कितनी है? यह प्रश्न पूछे जाने पर पहले याज्ञवल्क्य, तीन सौ तीन और तीन हजार तीन संख्या कहते हैं। पुनः वास्तविक संख्या पूछे जाने पर तैंतीस बतलाते हैं। और फिर 6, 3, 2, और अन्त में एक कहते हैं। और निर्देश करते हैं कि वह एक ब्रह्म ही है। किन्तु तैंतीस की संख्या में ग्यारह रुद्र ग्यारह इन्द्रियों को ही कहा गया। अतः इन्द्रियां देव हैं। रुद्र इसलिए हैं कि इनके चले जाने पर प्राणी रोते हैं।

आत्मा जो एक है तथा जिसके उपाधि भेद से विभिन्न देव आभास मात्र हैं। वह इन सबका उपादान तथा अधिष्ठान है तथा "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" होने से सबके पूर्व ही है, देवों से पहले ही व्यापक होने के कारण उपस्थित है। तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं बन सकता और मनन का भी विषय नहीं बन सकता। अतः यद्यपि मन इन्द्रियां और समस्त अन्य इन्द्रियाधिष्ठान देव ब्रह्म तत्त्व से अभिन्न है (क्योंकि ब्रह्म ही तो सबका अभिन्न निमित्तोपादान कारण है) किन्तु ब्रह्म तत्त्व से स्वयं को पृथक समझते हुए ब्रह्मान्वेषण जब किया जाता है तो वे ब्रह्म को नहीं पा सकते क्योंकि ब्रह्म तो उन सबमें पूर्वतः ही है, वह सदा सर्वत्र है वह उनसे या किसी से भी कभी अन्यत्र नहीं। आवश्यकता है "अयमात्मा ब्रह्म" बोध की। यह बोध न होने तक ब्रह्म विषयक अज्ञातता और तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा बोध होने पर ज्ञातता सम्प्राप्ति बुद्ध्युपाधि चैतन्य को होती है। अज्ञातता ही न पाना है और ज्ञातता ब्रह्म को पा लेना है।

यहां यह समझ लेना चाहिए कि व्यष्टि दृष्टया जो आत्मा है वही समष्टि दृष्टया ईश्वर या ब्रह्म कहा जाता है।

षष्ठ लक्षण

तद्धावतोऽन्या नत्येति तिष्ठत्— इस पद के पूर्व 'पूर्वमर्षत्' पद द्वारा आत्मा का आकाशवत् सर्वव्यापकत्व पंचम परिचायक लक्षण हुआ। उपर्युक्त तद्धावतः के द्वारा यह बताया गया है कि—वह आत्मा तीव्र गति से चलते हुए

या दौड़ते हुए मन, वाणी, इन्द्रिय, इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता आदि सबका, स्वयं स्थिर रहते हुए भी अतिक्रमण कर जाता है। अर्थात् जहां वे पहुंचते हैं आत्मा वहां पूर्वतः ही स्थित रहता है। सबमें अनुस्यूत रहते हुए भी स्वयं अविकारी निर्लेप रहता है। अन्यान् का तात्पर्य विषयान् अतिरिच्य तिष्ठति है। आत्मा विषयों से विलक्षण सर्वथा भिन्न है क्योंकि वह उनका साक्षी है, अधिष्ठान है। तिष्ठत् से तात्पर्य दैशिक गति निषेध है। वस्तुतः सर्वव्यापी सर्वत्र स्थित आत्मा में समग्र-ब्रह्माण्ड, सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र, लोक उस परब्रह्म की शक्ति से गतिशील हैं, उसके प्रकाश से ही प्रकाशित है। क्योंकि वह सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश है और वह इन सबका अतिक्रमण कर स्थित है। पुरुष सूक्त में भी यही भाव व्यक्त हुआ है—
"स भूमि सर्वतः वृत्वाऽत्यतिष्ठ द्दशांगुलम्।"

वह संपूर्ण ब्रह्माण्ड का सब तरफ से स्पर्श करते हुए भी उसे अति क्रमण कर स्थित है।

सप्तम लक्षण

तस्मिन्नयो मातरिश्वा दधाति—

संक्षेप में इसका तात्पर्य है कि आत्मा सृष्टि का कारण है। सब कारणों का भी कारण है। कार्य कारण सबका अधिष्ठान है। सारी कारण कार्य प्रक्रिया आत्मा में ही घटित हो रही है।

वह मातरिश्वा सूत्र संज्ञक सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ ही है। मातरि अन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा = वायु। वह वायु ही गतिशील रहते हुए समष्टि व्यष्टि प्राणों का पोषक है। क्रिया स्वरूप है। उसी में समग्र कार्य कारण शरीरेन्द्रियादि ओत-प्रोत हैं। वही सकल संसार का धारक है और यह सूत्रात्मा मातरिश्वा उस नित्य चैतन्य स्वरूप आत्म तत्त्व की सत्ता से अप् अर्थात् सारे प्राणियों के चेष्टारूप कर्म, अग्नि/सूर्य मेघ आदि के ज्वलन, दहन, प्रकाशन वर्षण आदि कार्यों का विभाजन करता है।

इस पंक्ति से स्पष्ट है कि सृष्टि का निमित्त कारण हिरण्यगर्भ और उपादान कारण अपः है और ये दोनों ब्रह्म में अध्यस्त हैं। अन्त में यह कहना पर्याप्त होगा कि मन इन्द्रियादि आत्मा को नहीं पा सकते। कठ उपनिषद् में कहा गया है—"परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।" सूत्रात्मा स्वयम्भू ने इन्द्रियों को पराङ्मुख बनाया है। अतः वे आत्मा को नहीं देख सकतीं। आत्मा स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान है। सृष्टि की समग्र कार्य कारण प्रक्रिया इसी में आरोपित है। आत्मज्ञान मात्र से ही इसके मिथ्या होने की प्रतीति होती है, और बन्धन मुक्ति भी। तस्मिन् पद निरूपाधि आत्म चैतन्य एवं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का अभेद बतलाता है। आगे अपोदधाति पद निरूपाधि ब्रह्म और सृष्टि का अभेद बतलाता है।

पंचम मन्त्र

"तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥"

अनुवाद—वह आत्मा चलता भी है। वह आत्मा नहीं भी चलता। वह दूर भी है, और वह अत्यन्त समीप भी है। वह इस समग्र ब्रह्माण्ड के अन्दर भी है। और वह इस सकल विश्व के बाहर भी है।

व्याख्या—पूर्व मन्त्र में आत्म तत्त्व के चार लक्षण कहे गये थे—(1) स्वरूपतः आत्मा, अपरिणामी, अचल निर्विकार है।

(2) आत्मा एक एवम् अद्वितीय है, आत्मभिन्न प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष कुछ भी नहीं। सब मिथ्या है।

(3) सर्वव्यापक होने से आत्मा मन से अधिक वेगवान् है। मन की संकल्प विकल्पात्मिका उपाधि का अनुवर्तन करने के कारण जवीय है। मन के क्रियाकलाप का साक्षी है। वस्तुतः मन आत्मा का विवर्त है।

(4) मन इन्द्रिय आदि या इन्द्रियाधिष्ठात् देवों से आत्मा का ग्रहण या ज्ञान नहीं किया जा सकता। क्योंकि आत्मा इन सबका प्रकाशक उपादान और अधिष्ठान चैतन्य स्वरूप है।

समग्र कार्य-कारणादि विकार सर्वास्पद स्वरूप नित्य चैतन्य आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित है। वे उसकी अधिष्ठानता के कारण ही गतिशील व क्रियाशील होते हैं। इसीलिए कहा है—इस आत्मा के भय से ही वायु चलता है "भीषाऽस्माद् वात: पवते।"

प्रस्तुत पंचम मन्त्र में इन्हीं भावों की पुष्टि की गयी है। पूर्वमन्त्र के अर्थ का ही विस्तार या प्रकारान्तर से आत्मतत्त्व का भली भांति बोध कराने के लिए यहां पूर्व मन्त्र के भाव का विस्तार किया गया है। मातरिश्वा-सूत्रात्मा प्राणियों के बीच कर्म विभाग करता है उनका नियन्त्रक है। मातरिश्वा तथा देश, काल द्रव्य रूप विश्व प्रपंच उसकी क्रिया आदि तत्व कोटि में हैं या अतत्व कोटि में ? तत्व इनसे परिच्छिन्न है या अपरिच्छिन्न ? तत्व से इनका भेद है या अभेद ?

इन प्रश्नों का उत्तर ही पंचम मन्त्र में विचारपूर्वक समझना चाहिए। तदनुसार ईश्वरतत्त्व या आत्मतत्व, देश काल वस्तु कार्य उपाधि अनुपाधि आदि से कथमपि परिच्छिन्न नहीं होता। वह तो असंग, स्थिर, सर्वात्मक सर्वस्वरूप अद्वितीय होता है, गति-स्थिति, सृष्टि और लय नियन्तानियम्य, प्रवृत्ति निवृत्ति, त्याग भोग आदि समस्त द्वन्द्वों एवं द्वन्द्वमय जगत्प्रपंच का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हुआ करता है। उस सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश, ईश्वर ब्रह्म या आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता नहीं होती। समस्त कार्य कारण एक प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्व में यथावत् भासित हो रहे हैं, क्योंकि उसमें समन्वित हैं। समस्त नाम रूपों में परमात्म बुद्धि का उदय एवं सोपाधि दोनों स्वरूपों में आत्मा ही देश काल द्रव्य रूप में सर्वत्र भासित है स्फुरित है उदित है। इस प्रकार की अनुभूति ही वास्तविक दृष्टि है।

आत्मा का अष्टम परिचायक लक्षण

तदेजति तन्नैजति :—

तत्=जिसका सर्वत्र विस्तार प्रसाद है अथवा जो सर्वत्र प्रसृत व्याप्त है, वह 'तनोतिइति', विग्रह के अनुसार 'तत्' परमात्मा कहलाता है। तत्=वह परमात्मा एजति=स्पन्दनशील है चेष्टाशील है। मातरिश्वा सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ रूप से वह आत्मा ही प्राणियों की बीजाधान रूप चेष्टा करता है। क्योंकि वह परमात्मा ही सृष्टि के रूप में प्रसृत हो रहा है। उससे ही यह सृष्टि विस्तार को प्राप्त कर रही है, इसे ही संक्षेप में कहें तो वह आत्मा गति शील कम्पन शील हो रहा है। सर्वत्र जड़ चेतन में जो कुछ भी चेष्टा है, स्पन्दन है गति है वह परमात्मा की ही है। वस्तुत: सृष्टि के लिए त्रिगुणात्मिका प्रकृति माया में विक्षोभ आवश्यक है। और यह विक्षोभ ही परमात्मा का आरोपित कम्पन है। क्योंकि माया का अधिष्ठान भी परमात्मा ही है। अधिष्ठेय के कम्पन की दृष्टि से यहाँ कहा गया 'तदेजति'। और पारमर्थिक दृष्टि से तन्नैजति। वह तो प्रतीयमान कम्पन है अत: अवास्तविक है। परमात्मा शुद्ध चैतन्य का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ जो कम्पन बतलाया गया है वह—"परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया च।" के आधार पर कहा गया है। ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति, और बल शक्ति के अवच्छेद से कम्पन सम्पन्न होता है। इसके द्वारा ही तो सृष्टि, स्थिति, लय की व्याख्या होती है। 'तदेजति' प्रभाव (सृष्टि) का द्योतक है। तन्नैजति अप्यय (लय) का द्योतक है। स्पन्दन रुक गया तो ईश्वर की लीला विलास स्वरूपा सृष्टि विलीन हो गयी। और स्पन्दन हुआ तो ईश्वर परब्रह्म ने स्वकीय अघट न घटना-पटीयसी माया के द्वारा आब्रह्म स्तम्ब पर्यन्त सृष्टि का स्वकीय लीला विलास प्रकट किया। इस वाक्य के द्वारा यह भी द्योतित है कि परमात्मा कालानवच्छिन्न है। क्योंकि सत् तत्त्व देश काल वस्तु परिच्छेद शून्य ही हुआ करता है। परमात्मा चित्स्वरूप है। अत: यह जो गति या कम्पन है वह संकल्पात्मक है। परमात्मा के संकल्प

से ही तो सृष्टि स्थिति लय होता है । इसके द्वारा प्रपंच मिथ्यात्व की व्याख्या भी की जा सकती है । जैसे स्वप्न में संकल्प द्वारा विलक्षण प्रतीतियाँ होती है और लीन हो जाती है, उसी प्रकार संकल्पमय "दीर्घ स्वप्नमिमं विद्धि ।" यह समग्र प्रपंच संकल्प से ही होता है और संकल्प में ही लीन होता है ।

तन्नैजति—तस्मिनपो मातरिश्वा दधाति के अनुसार मातरिश्वा ही अपोधान करता है । अतः मातरिश्वा वायु रूप उपाधि द्वारा वह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ जो वस्तुतः ब्रह्म ही है स्वकीय निरूपाधि रूप में, प्रकम्पित नहीं होता। वस्तुतः सृष्टि स्थिति लय तीनों ही परब्रह्म में अध्यस्त हैं । अतः मातरिश्वा जो क्रिया शक्ति का प्रतीक है वह कम्पित होते हुए (प्रतीयमान रूप से) भी कम्पित (पारमार्थिक दृष्टि से) नहीं होता । हिरण्यगर्भ उपाधि निमित्त कारण है और अप् उपाधि उपादान कारण । दोनों परब्रह्म की ही उपाधियाँ हैं । अतः परब्रह्माभिन्न ही है । सोपाधि रूप में कम्पन, निरुपाधि रूप में अकम्पन । गति वस्तुतः सृष्टि रूप उपाधि में प्रतीयमान है । इस प्रतीति में अनेजन=अकम्पन की अनुभूति होती है और वह ब्रह्म विषयक है । वस्तुतः पारमार्थिक रूप से ब्रह्म अकम्पित ही है । जीवों के रूप में तथा समष्ट्युपाधि हिरण्यगर्भ, ईश्वर के रूप में प्रकम्पन और निरुपाधि शुद्ध स्वरूप दृष्टया अकम्पन । चलत्व या एजनशीलता नाम रूप की है । और जब नाम रूपात्मकता लुप्त हो जाती है तब अनेजन या अकम्पन या शान्तता है । "तदेजति तन्नैजति वाक्य में तत् पद वही है जो तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद है । अतः एजन अनेजन सृष्टि लय दोनों औपधिक प्रतीतियाँ शुद्ध चैतन्य परब्रह्म में परिलक्षित हैं । शुद्ध चैतन्य एजन काल अनेजन काल दोनों अवस्थाओं में सत् परमार्थ-तत्व रूप से वही है । क्योंकि वह प्रतीत्यधिष्ठान है । वस्तुतः न वहाँ एजन है न अनेजन । ये दोनों तो केवल उस अधिष्ठान में भासमान या प्रतीयमान हैं । अतः दोनों ही मिथ्या हैं । मिथ्या वही होता है जो जहाँ न होने पर भी वहाँ प्रतीत हो । "स्वाभावाधिकरणे प्रतीयमानत्वंमिथ्यात्वम् ।" यही तो मिथ्यात्व का लक्षण है । जो अपने अभाव वाले अधिकरण में भासमान हो, भासित हो, प्रतीत हो, वह मिथ्या होता है । जैसे रज्जु रूप अधिकरण में सर्प नहीं होता फिर भी प्रतीत होता है, अतः मिथ्या होता है । सृष्टि भी मिथ्या, प्रलय भी मिथ्या है । दोनों सृष्टि और प्रलय तथा उनका काल परिच्छिन्न हैं । अपरिच्छिन्न केवल तत् पदार्थ है । वह अपरिणामी है । इसलिए, काल देश, सृष्टि प्रलय सब ब्रह्म (तत्) में अध्यस्त हैं । अध्यस्त का स्वाधिष्ठान से उपादानतः भेद नहीं होता । क्योंकि अध्यस्त वस्तु तत्व नहीं होता अवस्तु होता है । वस्तु अधिष्ठान ही होता है । अतः एक मात्र अधिष्ठान सत्य है । अध्यस्त उसी में प्रतीयमान है तो भिन्न कैसे होगा क्योंकि तदतिरिक्त कुछ है ही नहीं । वह एक ही है दूसरा नहीं अतः अद्वितीय है । अतः इस पंक्ति में परब्रह्म और सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का अभेद द्योतित है ।

प्रथम परिव्यापक लक्षण

तद्दूरे तदन्तिके—दूर और समीप यह दैशिक उपाधियाँ हैं । आत्मा दूर भी है और समीप भी है । तात्पर्य यह निकला कि आत्मा सर्वत्र विद्यमान है सर्वदा विद्यमान है तथा देश परिच्छेद से रहित है । देश का तात्पर्य दीर्घता, आयाम, विस्तार, ऊर्ध्वाधः, सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट विषयक बोध से है । और यह बोध या विचार लोक में व्यवहार दशा में ही देहाभिमानिता के कारण होता है । स्वदेहापेक्षया अथवा देह सम्बन्ध अन्य जड़ पदार्थ की अपेक्षा से ही व्यवहार में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैर्ऋत्य, आग्नेय आदि कोण, ऊर्ध्व तथा अधः का विचार होता है । वस्तुतः ये सब उपाधियाँ ही हैं । देश एक ही है । और यदि ब्रह्म की सर्वव्यापकता की पारमार्थिक दृष्टि रखें तो सर्वत्र ब्रह्म ही है, सब कुछ ब्रह्म ही है 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' । तब देश क्या है ? तो उत्तर होगा देश मिथ्या है और परब्रह्म में अध्यस्त है । क्योंकि सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही हैं । दैशिक प्रतीति भी अध्यस्त है। उसका अधिष्ठान भी ब्रह्म ही है । परिच्छिन्न की अपेक्षा से ही उपर्युक्त देशोपाधियों की प्रतीति हो सकती है । अपरिच्छिन्न सत् तत्व जो सर्वत्र सर्वगत है, वहाँ सापेक्षता ही सम्भव नहीं फिर दूर और समीप पूर्व पश्चिमता ऊर्ध्वाधः का प्रश्न ही नहीं उठता । गति की प्रतीति भी नहीं हो सकती क्योंकि गति भी अध्यस्त है । अतः पराक् तिर्यक् ऊर्ध्व अधः कोई गति नहीं । गति देश परिच्छेद सापेक्ष है । और देश की अनुभूति परिच्छेदवान् देह में अहंत्व ममत्व का अभिमान आने पर प्रतीत होती है । दूर और समीप

दोनों परस्पर विरोधी हैं । जो दूर है वह समीप नहीं और जो समीप है वह दूर नहीं । दोनों एक दूसरे के प्रतियोगी भी हैं एवं व्यावर्तक भी, अतएव दोनों मिथ्या हैं । सत्य है प्रतीत्यधिष्ठान, देश परिच्छेद शून्य आत्मा । इसीलिए अन्यत्र वाक्य आया है—आत्मा से न पूर्व है न पर—न पश्चात् है न बाहर, न ही अन्दर । लेकिन ऐसा होने पर भी इन सबका जो अनुभव करने वाला है वह आत्मा है । अतः ये सब आत्मा में अध्यस्त प्रतीतियां हैं ।

"अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्, एष सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ।।"

वस्तुतः विचार किया जाए तो दूर और पास दोनों दैशिक आकार हैं । उपादान जैसे सभी का वैसे इनका भी यहां 'तत्' पद से अभिहित है । वह अरिच्छिन्न देश है, और वहीं दूरत्व, निकटत्व का अध्यास हो रहा है । शैवागम की दृष्टि से देखा जाए तो ये दोनों अन्यथा प्रतीतियां हैं और उपादान भूत सत् चित् परमेश्वर में स्फुरण मात्र हैं संकल्प मात्र हैं । जैसे स्वप्न स्फुरण या संकल्पना । इसीलिए प्रपंच को, एक निराधार भित्ति, पट आदि आधार के बिना ही शून्य में खड़े किए गए चित्र की उपमा दी गयी है । ऐसा चित्र (संसार) भला क्यों न मिथ्या हो । तुलसीदास जी की भाषा में—

"शून्य भित्ति पर चित्र रंग नहीं तनु बिन लिखा चितेरे ।"

अतएव देश काल और उनकी उपाधियां अध्यास है स्फुरण मात्र हैं । सत्य तो अधिष्ठान ही है । जैसे लोक में स्वप्न अवास्तविक, स्वप्न द्रष्टा वास्तविक । वैष्णव इसकी व्याख्या करते हुए कहेंगे भक्तों के लिए भगवान् एजति, गतिशील हो जाते हैं प्रकट होते हैं "योगक्षेमं वहाम्यहम् ।" अभक्तों के लिए न एजति नहीं प्रकट होते । भक्तों के समीप हैं, अभक्तों से दूर हैं ।

पंचम परिचायक लक्षण

तदन्तरस्य-सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः

वेदान्त दर्शन के अनुसार और श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, देश, काल, वस्तु (विषय) त्रिविध परिच्छेद शून्य माना गया है । प्रस्तुत पंक्ति वस्तु परिच्छेद शून्यता की व्याख्या करती है । परमात्मा सर्वगत है सर्वत्र है । वह सबके अन्दर भी है, बाहर भी है । अर्थात् अन्तःकरण भी परमात्मा का एक स्फुरण है और कार्य रूप बाह्य जगत्प्रपंच भी । वस्तुतः बाह्य और अन्तः भी सापेक्ष हैं । ये उपाधियां परस्पर विरोधी प्रतीत होने पर भी एक हैं । भेद तो व्यवहार दृष्टि से है । उदाहरणस्वरूप अन्तःकरण भी त्रिगुण का परिणाम है और बाह्य प्रपंच भी त्रिगुण का परिणाम है । उपादान घटक दोनों का एक ही है । तात्पर्य यह हुआ—कारण अन्तः और कार्य बाह्य है । कारण है ब्रह्म वह सबका अधिष्ठान या उपादान है अतः अन्तः हुआ । और उसी में नाम रूपात्मक प्रपंच अध्यस्त है, भासित है, मिथ्या प्रतीयमान है, वह बाह्य है । वस्तुतः सत्य तो ब्रह्म ही है अतः भीतर बाहर ब्रह्म ही ब्रह्म है । वस्तु या विषय भान मिथ्या है । इसलिए ब्रह्म वस्तु परिच्छेद रहित है, अपरिच्छिन्न है । इस दृष्टि से कारण कार्योमय रूप ब्रह्म ही है । ऐक्य पारमार्थिक दृष्टि से कहा जाता है, अनेक्य या वैलक्ष्य व्यावहारिक दृष्टि से है । यह इसीलिए सुषुप्ति काल में सब कुछ विलीन होकर भी जाग्रत में पुनः यथावत् आविर्भूत हो जाता है । यह अनुभवसिद्ध है । मन बुद्धि के द्वारा ही बाह्य वस्तु का भान इन्द्रियों की सहायता से होता है । यदि मन बुद्धि ज्ञान न करें तो बाह्य वस्तु की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं । तब मनोमय ही प्रपंच हुआ । जो कुछ अनुभव है वह सब मन ही है मनोराज्य है । गीता कहती है "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।" पर मन अचेतन में तो नहीं । अचेतन अनुभव नहीं कर सकता अतः मन चैतन्य का एक स्फुरण मात्र है । अतः चैतन्य में ही समग्र भान अध्यस्त है ।

षष्ठ मन्त्र

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।

मन्त्रानुवाद— सर्वात्मदर्शी कौन है यह इस मन्त्र में बतलाया जा रहा है। किन्तु जो सब भूतों को=प्राणियों को आत्मा में ही देखता है। और सब भूतों में, प्राणियों में आत्मा को ही देखता है। ऐसा हो जाने पर वह किसी से घृणा नहीं करता। अथवा विचिकित्सते=उसके सन्देह का अन्त हो जाता है।

व्याख्या - ब्रह्म ज्ञान एवं ब्रह्मज्ञानी की महिमा इस मन्त्र के द्वारा बतलायी गयी है। तत्वज्ञानी या ब्रह्मज्ञानी वही है जो सब भूतों को आत्मा में और आत्मा को सब भूतों में देखें। इसका स्वारस्य पहले भी प्रकट किया गया है। यह ब्रह्म दृष्टि इसी लिए होती है कि सम्पूर्ण भूत और यह समग्र प्रपंच चिंद् स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर आत्मा के ही विलास या स्फुरण मात्र हैं। सत्ता तो केवल आत्मा की ही है। अन्य सब असत् है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की भी सत्ता सिद्ध नहीं होती। यही भाव तो 'तत्त्वमसि' महावाक्य प्रकट करता है। तत् पदार्थ और त्वम् पदार्थ की एकता। भूतों में जो सत्य है वह आत्मा है चैतन्य है। उसके अलावा जो कुछ है वह सब तो मिथ्या ही है। अतः दृष्टि मिथ्या परक न होकर सत् चित् आत्मा परक होनी चाहिए। अध्यस्त रूपेण सब कुछ आत्मा में ही भासमान है, यह दृष्टि होने पर जीवात्मा परमात्मा दोनों निरूपाधिक रूप में अनुभूत होंगे तो तत् और त्वम् की एकता सिद्ध होगी। गीता एवं मनुस्मृति में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति की गयी है।

सर्वं भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (श्री भगवद्गीता)

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिच्छति ॥ (मनु स्मृति)

दर्शनों में 'तु' पद का प्रयोग पूर्वपक्ष निराकरणार्थ किया जाता है। यहां पूर्वपक्ष यह है कि अज्ञान और दुःख सुख, भय क्रोध आदि द्वन्द्वों के वशीभूत हो प्राणी स्वयं को परिच्छिन्न, संसारी कर्ता भोक्ता, सुखी दुःखी समझते हुए राग-द्वेष में ही लिप्त रहता है और रागद्वेष ही चित्त में संस्कार और वासनाओं के जनक होते हैं। और उनसे पुनर्जन्म पुनर्मरण यही भव बन्धन है। अतः वेदान्त के अनुसार अज्ञान सबका मूल है। अज्ञान निवृत्ति आवश्यक है, उसके बिना मोक्ष नहीं हो सकता "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति"। अज्ञान ज्ञान से निवृत्त होता है, और ज्ञान नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त, सर्वगत अकर्ता अभोक्ता अपरिणामी एक अद्वितीय आत्म तत्व का ही अभीष्ट है। और ज्ञान आत्मा का स्वरूप भूत है। चित् रूपता ही ज्ञान है। सत्स्वरूपता के कारण भय आदि भाव जो असत् हैं अज्ञान मूलक हैं, नहीं हो सकते। आनन्द रूपता के कारण दुःख की कोई सम्भावना नहीं। अद्वितीय आत्मा है अतः स्व पर भेद राग द्वेषादि का संपर्क लेश भी नहीं हो सकता। इस प्रकार के ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति करनी चाहिए।

यह मन्त्र ही इस बात को समझाता है कि कैसे ईश्वर के द्वारा प्रपंच आच्छादनीय है। उसकी क्या प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया है—सर्वभूतों में आत्मदर्शन, और आत्मा में सर्वभूत दर्शन। इस प्रक्रिया में प्रवेश करने के लिए वेदान्त के अनुसार—शम, दम, तितिक्षा उपरति, विवेक वैराग्यरूप सम्पत्तिपरक आवश्यक है। इनके पालन करने वाले को ही ईशावास्य दृष्टि अथवा आत्मदृष्टि प्राप्त हो सकती है। अन्य को नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि जो व्यक्ति ईशावास्य दृष्टि को पाना चाहे तो (तु) इस मन्त्रोक्त ज्ञान प्रक्रिया का अवलम्बन करे। अब थोड़ा इस ज्ञान प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करने के लिए तत्व विचार पर दृष्टि पात किया जाये। सर्वाणिभूतानि=अव्यक्त-प्रकृति, व्यक्त-महत्तत्व अहंकार पंच महाभूत और इनके विकार ये भूत हैं। प्रकृत्योपाधि ईश्वर, महत्तत्वोपाधि हिरण्यगर्भ, अहंकारोपाधि-विराट, पंचमहाभूताधिष्ठातृ पंचदेव, इनके विकार रूप उपाधि से उपहित देव दानव मानव स्थावर जंगम जड़ चेतनात्मक समस्त कार्यकारण प्रपंच भूत पद वाच्य है। इन सबको आत्मा में देखने से तात्पर्य ब्रह्माभिन्न प्रत्यक्चैतन्य में देखने से है। ब्रह्म से अभिन्न अन्तःस्थित चैतन्य ही 'त्वम्' पदार्थ है वही ईशावास्य पद ज्ञाप्य ईश्वर भी है। अनेजदेकम् मन्त्र द्वारा मनसः जवीयः, तथा 'तदेजति तन्नैजति' द्वारा देश काल परिच्छेद शून्यता उसी के लिए कही गयी है। वही विविध परिच्छेद शून्य मातरिश्वा

के अपोधान का अधिष्ठान भी है। उसी ब्रह्म आत्मा या ईश्वर में सम्पूर्ण भूतों को देखना, यही अभिप्राय है। यहाँ, ब्रह्म ईश्वर और आत्मा के अभेद और ऐक्य का स्पष्ट अभिधान है।

अनुपश्यति—अनु पश्चात् अर्थ का द्योतक उपसर्ग है। अर्थ हुआ पश्चात् पश्यति। बुद्धि के पश्चात् देखना है। आत्मा के लिए "यो बुद्धेः परतस्तु सः।" कहा गया है। ज्ञानप्रकिया यही बतलाती है। पहले मनोयुक्त इन्द्रियां विषयग्रहण करती हैं, तत्पश्चात् बुद्धि और बुद्धि उसे आत्मा के समक्ष प्रस्तुत करती है। यही विषयावभास कहलाता है। आत्मा ही भासक है वही भास्य का ज्ञान कराता है अन्यथा बुद्यादि जड़ ज्ञान कर ही नहीं सकते। बुद्धि में विषय आने के पश्चात् आत्मा उनका अवभासन कराता है। न केवल विषयों का ही अपितु इन्द्रियादि करणों का भी प्रकाशक एवम् अधिष्ठान आत्मा है। समग्र ज्ञान प्रक्रियाओं का पर्यवसान आत्मा में होता है। इसलिए अनु उपसर्ग का सार्थक साभिप्राय प्रयोग वेद भगवान् ने किया है। प्रक्रिया यह है कि इन्द्रियां केवल विषय को ही देखती हैं। बुद्धि इन्द्रिय और इन्द्रिय विषय दोनों को, और मनः स्व तद्विषयक संस्कार को भी देखती है। तदनन्तर अहंकार, इन्द्रिय बुद्धि युक्त संस्कार विशिष्ट विषय को, और आत्मा इन्द्रिय-बुद्धि अहंकार सहित संस्कार विशिष्ट विषय को देखता है। साथ ही— इन सब इन्द्रिय बुद्धय-हंकार विषय संस्कार आदि के अभाव का भी सुषुप्ति काल में अनुभव आत्मा करता है। यह अनुपश्यति का अभिप्राय है। वस्तुतः करण (बाह्य अन्त-उभय) केवल निमित्त मात्र हैं अवभासक केवल आत्मा ही है।

आत्म दर्शन का भाव यह निकला कि लोक दृष्टि से जो—अधिष्ठान अध्यस्त, परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न, द्रष्टा दृश्य, दूर निकट, ससीम, असीम कार्य कारण, अन्तः बाह्य, गति अगति, आदि परस्पर विरोधी भाव या भेद हैं वे आत्मा में नहीं है। तथापि इनकी प्रतीति या प्रकाशन आत्मा से ही और आत्मा रूप अधिष्ठान में ही होता है। और इन सबका अत्यन्ताभाव भी आत्मा में है। इस प्रकार अनुपश्यति पद एक विलक्षण गूढ़ भाव की अभिव्यक्ति करता है। संक्षेप में सबको आत्मा अध्यस्त देखना। इनमें वस्तु देखना समझना कुछ भी नहीं है। इसके लिए कुछ करना पड़े यह भी नहीं है। 'सब भूत आत्मा में और आत्मा सब भूतो में' यह उत्पाद्य अवस्था नहीं है। यह तो वस्तुस्थिति है। केवल मन्त्र कहता है—बुद्धि से विचार से वस्तुस्थिति को जान ले। अन्य शब्दों में अस्तित्व, प्रियत्व, भान, ये तीन ब्रह्म के रूप हैं और तीनों से सब कुछ व्याप्त है समग्र नामरूपात्मक जगत् उसी में ओत-प्रोत है और इनके बिना या इनसे भिन्न प्रपंच का कोई अस्तित्व नहीं है। अंततः सर्वत्र सब रूपों में आत्मा ही भास रहा है और आत्मा में ही सब नाम रूपों की प्रतीति भी हो रही है। अन्यथा भान सम्भव ही नहीं। अतः तत् त्वम् विषयाऽवच्छिन्न प्रमात्रवच्छिन्न चैतन्य और अनवच्छिन्न चैतन्य का सर्वत्र अभेद दर्शन ही अभिप्रेत है।

इस प्रकार यदि विचार किया जाये तो यह सारी सृष्टि, इसका संकोच विकाश प्रसार, उत्पत्ति, लय आदि सब स्वात्मा में ही भासित होते हैं। और ये सब सुषुप्ति अवस्था में लीन हो जाते हैं। और जाग्रत् में पुनः प्रकट होते हैं। अतः समग्र भूत प्रपंच आत्मा में ही है। और आत्मा स्वयम् सत् चित् आनन्द रूप (अस्ति, भाति, प्रिय) होने के कारण, भूत प्रपंच जो अस्ति भाति, प्रिय तथा नाम रूपात्मक है, का प्रकाशक है, प्रमाण है, अधिष्ठान है। यह भी अनुभव सिद्ध है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था से जाग्रत में आने पर सर्व प्रथम तो कोई भान होता ही नहीं। फिर क्रमशः पहले अहम् का तदनन्तर, स्व शरीर का, फिर चारों तरफ का वातावरण और सारी सृष्टि भासित होने लगती है। इसी प्रकार ठीक इसके विपरीत क्रम में जाग्रत से सुषुप्ति में लय हुआ करता है। नियम यही है, जिससे जिसका उद्भव, जिसके बिना जिसका अस्तित्व नहीं, उसका उसी में लय होता है। अतः 'आत्मैवेदं सर्वम्"। ऐसी अवस्था होने पर प्राणी में जुगुप्सा अथवा विचिकित्सा या संशय का भाव नहीं रहता क्योंकि आत्मातिरिक्त अन्य कोई अनुभूति ही नहीं होगी, द्वैत का भान ही नहीं होगा। तब घृणा किससे होगी। वहां तो एक ही भान है और वह आत्म भान है। अन्य भान ही नहीं तब घृणा का या सन्देह का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी को वैष्णव भक्तों की भाषा में कहा जाये तो जब समस्त जगत् प्रभुमय हो जाये और एतादृश भावना का परिपाक हो जाये, इसके अलावा कोई अन्य भाव ही न रहे तो किससे विरोध, किससे घृणा और कहां सन्देह निजप्रभुमय देखउं जगत्, किहि सन करउं विरोध। ठीक इससे मिलता जुलता मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद् में थोड़े भेद से आया है, "यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानभूत भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥"

सप्तम मन्त्र

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मेवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

मन्त्रानुवाद—जिस समय तत्वज्ञानी अथवा ब्रह्मज्ञानी पुरुष के लिए अपना आत्मा ही सबभूत हो गया, आत्मा के अतिरिक्त भूत सत्ता का सर्वथा विलोप ही हो गया, केवल आत्मा ही सत्ता रूप में अनुभूत हुआ उस समय उस एकता-दर्शी आत्मज्ञानी के लिए क्या मोह ? क्या शोक ? अर्थात् ऐसे पुरुष के लिए शोक मोह नष्ट हो जाते हैं। वह शोक मोह आदि से परे हो जाता है।

व्याख्या—पूर्वमन्त्र के ही अर्थ का विस्तार इस मन्त्र में भी किया गया है। आत्मज्ञानी वही होता है जो सब भूतों को आत्मा में और आत्मा को ही सब भूतों में देखें। गीता में भी कहा गया है—

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।"

वास्तव में सर्वत्र सत्ता रूप में आत्म तत्व ही तो है। सबकी सत्ता आत्मा के कारण ही प्रतीत हो रही हैं। अतः सब कुछ आत्म चैतन्य का ही विलास या चिद् विलास है। आत्मभिन्न किसी भी पदार्थ की सत्ता सिद्ध ही नहीं हो सकती। पूर्व मन्त्र में, लगता है कि सब भूत आत्मा में, और सब भूतों में आत्मा यह कथन आधाराधेय भाव को व्यक्त करता है। किन्तु वस्तुतः आधाराधेय भाव बन नहीं सकता। चैतन्य की अधिष्ठानता कहने का तात्पर्य आधार नहीं अपितु अधिष्ठान सत्यता और प्रतीयमानं अधिष्ठेयों, का मिथ्यात्व ज्ञापन है। यह अधिष्ठानता बड़ी विलक्षण रीति से है। यथार्थतः अधिष्ठानता का तात्पर्य प्रकाशत्व से है। वह मुख्य रूप से प्रकाशक होता है। चैतन्य या आत्मा, या ब्रह्म, सृष्टि अथवा सकल जगत्प्रपंच का अधिष्ठान है; कहने का भाव यही है कि चैतन्य में सृष्टि स्फुरण मात्र है स्वप्न वत् प्रतीयमान है। इसी को अन्य रूप से कहा जा सकता है कि चैतन्य ही नाम रूपों से नाना प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है। अतएव समस्त भूत जिस रूप में प्रतीत हो रहे हैं उस रूप में चैतन्यात्मा है "सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत्।"

आत्मा में समस्त भूत कहने का भाव यह है कि आत्मरूप अधिष्ठान में सर्वभूत अध्यस्त हैं। और यदि कहें कि सर्वभूतों में आत्मा है तो विपरीत हो जाता है। भूत अधिष्ठान-आश्रय, और आत्मा आश्रित=अधिष्ठेय। इस प्रकार आत्मा और भूतों की परस्पर अधिष्ठान और अध्यस्तता या आश्रयाश्रयी भाव कैसे बने ? यह तभी सम्भव है जब या तो दोनों एक ही वस्तु हों या अधिष्ठानता-अध्यस्तता भाव मिथ्या हो। अब विचार करें तो आत्मा तो मिथ्या हो नहीं सकता। अतएव यही तात्पर्य समझना चाहिए कि, आत्मा ही सत्य है और उस सत्य आत्मा में सृष्टि या जगत्प्रपंच स्वप्नवत् अथवा रज्जु सर्पवत् मिथ्या रूप भासमान है। और सकल सृष्टि में आत्मा है या आत्मा ओत प्रोत है इस कथन का भाव यही है कि जैसे स्वप्न द्रष्टा स्वप्न के पदार्थों से ओत-प्रोत अथवा रज्जु सर्परूप विकल्प में जिस प्रकार समाविष्ट है, वैसे ही इसे भी मानना चाहिए। क्योंकि स्वप्न भूतों अथवा स्वप्न पदार्थों के अन्दर बाहर स्वप्न दर्शी ही है स्वप्न दर्शी से भिन्न स्वप्न जगत् का अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा ही सब कुछ है—"सर्वाणि भूतानि आत्मा एव।"

यह स्थिति है, विज्ञानतः=तत्वज्ञानी, एकत्वदर्शी के लिए। इसका तात्पर्य यह नहीं मा ना चाहिए कि आत्मा सर्वभूत रूप में परिणत हो गया अथवा आत्मा परिणामी है। अथवा भूतों का आत्मा में लय हो गया। किन्तु आत्मज्ञानी को यथार्थ स्थिति या यथास्थिति का भान हो गया कि वस्तुतः भूत प्रतीयमान हैं, सत्य आत्मा ही है और इस रूप में सर्व-भूत कुछ हैं ही नहीं सर्वत्र आत्मा ही तो है जो अब तक सर्वभूतों के रूप में प्रतीत हो रहा था। और अब ज्ञान हो गया कि आत्मा ही सब कुछ है, आत्मा के अलावा कुछ भी नहीं। सर्वभूतों के रूप में आत्मा पूर्वतः ही था, अधुना भी है और रहेगा। ज्ञान यही है कि यह प्रतीत मिथ्या है सत्य आत्मा है। जैसे रज्जु की सत्यता का ज्ञान हो जाये और मिथ्या विक-ल्पित सर्प रूप में रज्जु ही अब तक प्रतीत हो रहा था यह ज्ञान हो जाये।

आत्मा सर्वरूप है सर्वात्मक है। इसके द्वारा आत्म स्वरूप का कथन नहीं किया जा रहा। किन्तु त्रिविध परिच्छेद (देश, काल, वस्तु या विषय) शून्य आत्मा में विषय परिच्छेद का निषेध किया जा रहा है। क्योंकि आत्मा में आत्म ज्ञान के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता। वहां सर्वथा सबका प्रश्न ही नहीं है। किन्तु प्रतीति उस सबकी आत्मा में ही होती है। नित्य ज्ञान ही तो आत्मा का स्वरूप है। अतः प्रतीति कैसी भी, होगी आत्मा में ही और प्रकाशकत्व केवल मात्र आत्मा में ही है अतः आत्मा से ही सब कुछ भासित भी होता है चाहे वह मिथ्या ही क्यों न हो।

विजानाति में 'वि' उपसर्ग है। तदनुसार इस पद के तीन अर्थ होंगे पहला इस विचच्य जानाति दूसरा विशिष्य जानाति, और तीसरा विपरीतं (लोकात्) जानाति। वह हुआ विजानन् तथा षष्ठी एक वचन में विजानतः। तात्पर्य यह निकला कि जड़ चेतन, द्रष्टा दृश्य, अधिष्ठान अध्यस्त, का विवेक करके पृथक् पृथक् करके सत्य मिथ्या की अलग-अलग प्रतीति पूर्वक जानता है उसे विजानन कहते हैं। और विशिष्य अर्थात् अन्तःकरण, माया, अविद्या आदि उपाधियों से विशिष्ट अवच्छिन्न को भी जानता है और अवच्छिन्न अनवच्छिन्न सविशेष निर्विशेष के भेद को भी जानता है। यह विजाजन हुआ। 'विपरीतम्'—अर्थात् लौकिक चेतनाऽचेतन की एकता भ्रान्ति है अनात्म को आत्म समझने का ज्ञान है अथवा आत्मा को अनात्म में अन्तर्भाव की बुद्धि है या दृश्य प्रपंच सत्यता बोध, अथवा आत्म परमात्म भेद—यह लौकिकज्ञान है। इससे विपरीत दृश्य मिथ्यात्व, आत्मा परमात्मा का अभेद-दर्शी विजानन् हुआ। विजानन् का ही अनुवाद एक प्रकार से 'एकत्वमनुपश्यतः' है। प्रत्यक्चैतन्य और अधिष्ठान चैतन्य का एकत्व देखने वाला, अर्थात् समग्र देहावच्छिन्न देहाधिष्ठान समष्टि चैतन्य और प्रत्यक्चैतन्य का अभेद एवं द्रष्टा ही अधिष्ठान है उसी मे देहादि दृश्य की प्रतीति हो रही है, और सत् चित् आनन्द अभिन्न है यह देखने वाला ही एकत्वदर्शी या विजानन् है। पूर्वमन्त्र में अनुपश्यति पद आया है। जो अनुपश्यति का अर्थ है वही एकत्वमनुपश्यतः का भी अर्थ है। अथवा अनुपश्यति के भाव का स्पष्टीकरण एकत्वमनुपश्यतः के द्वारा हुआ है। सर्व भूतों में सर्वत्र आत्मा रूप एक दृष्टि रखने वाला और जो आत्मा के अलावा और कुछ नहीं देखता, नहीं जानता ऐसा प्राणी विजानन् कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि, जिस काल में महावाक्य तात्पर्यावबोध जन्य ज्ञान से ब्रह्मात्मैक्य वृत्ति चित्त में उदित होती है; तत्क्षण ही अन्तः करण में "सर्वाणि भूतान्यात्मैव भूत" यह ज्ञान भी हो जाता है। अर्थात् स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान चिन्मात्र प्रत्यगात्मा ही सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच सन्मात्र रूप से भासित है। वृत्ति और ज्ञान में भेद नहीं होता साथ ही आकृति का भी सत्ता से भेद नहीं होता। इस दृष्टि से समग्र भूतप्रपंचाधिष्ठान सत् तत्व स्वरूप ईश्वर और प्रत्यक् चैतन्य भिन्न नहीं हो सकते। वही आकार का प्रकाशक चिन्मात्र तत्व है। महावाक्य-जन्य प्रज्ञा से इस प्रकार साक्षात् और अपरोक्ष अनुभूति होती है। इसी को वृत्ति व्याप्ति कहते हैं। और ब्रह्म विषयक अज्ञान निवारणार्थ ही केवल इस वृत्ति व्याप्ति की अपेक्षा होती है। "ब्रह्मण्यज्ञान नाशाय वृत्ति व्याप्तिरपेक्षिता।" यही मन्त्र गत यस्मिन् पद का तात्पर्य है।

अभूत् का भाव केवल सत्ता मात्र है। तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा भूत रूपों में परिणत नहीं होता। आत्मा पूर्वत ही सर्वगत सर्वरूप है। यह अब तक अज्ञात था अब ज्ञात हो गया कि आत्मा ही सर्व विषयरूपों में भासित हो रहा है। आत्मा की ही सत्ता है उसके अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं। इस प्रकार ज्ञान होकर अज्ञान या भ्रम दूर हो गया।

इस एकत्व दर्शन का फल शोक मोह से निवृत्ति है। इसलिए यह ज्ञानी व्यवहारदशा का ही वर्णन होना चाहिए। समाधिकाल में तो शोक मोह कोसों दूर होते हैं। यह दृष्टि उसी प्रकार है जैसे कार्यकारण का अभेद दर्शन सृष्टि स्वोपादान से अभिन्न—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। घट शरावादि मृत्तिका से अभिन्न ही हैं। इसीलिए कहा गया है कि कारण = उपादान ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। उसके ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है। "एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति। विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।"

और विज्ञाता वहीं 'विजानन्' एकत्वदर्शी है जो ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता कुछ नहीं जानता। "नान्यच्छृणोति नान्यत्पश्यति नान्यद्विजानाति।" ब्रह्मदर्शी वही होगा जो अन्तः करण शुद्धिपूर्वक महावाक्य जन्य प्रज्ञा से तत् और त्वम् पदार्थ का शोधन कर चुका है और श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा अपरिच्छिन्न निर्विशेष आत्म-स्वरूप या आत्म-तत्व का ज्ञान प्राप्त कर चुका है।

चित्त की स्वाभाविक स्थिति आत्मविषयक होनी चाहिए। किन्तु विपरीत हो जाये तो, स्व पर दृष्टि ममत्व, अहंत्वदृष्टि आदि का उदय और असत् मिथ्या में सत् की प्रतीति रूप चित्त की उलटी स्थिति होती है। अतः इसकी विरोधी एकत्व दृष्टि प्राप्त होते ही नानात्व दृष्टि विलीन हो जाती है। तब मोह नहीं रह सकता। क्योंकि मैं मेरा, राग द्वेष आदि चित्त मोहक भाव नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार भूत की स्मृति में डूबा रहना और भविष्य की चिन्ता में वर्तमान समाप्त होने का भय ही शोक कहलाता है। एकत्व दर्शी को भूतभविष्य वर्तमान की चिन्ता ही नहीं होती वह सर्वचिन्ता विनिर्मुक्त हो जाता है। वहां स्व परभाव या मैं मेरा यह भाव ही नहीं रहता फिर चिन्ता कैसी अतएव उसके लिए कहा गया है—

भविष्यन्नानुसन्धते नातीतं चिन्तयत्यसौ।
वर्तमाननिमेषं तु हसन्नेवातिवर्तते॥

वह भविष्य का अनुसन्धान नहीं करता, न भूत की चिन्ता करता है। जब ये दोनों अनुसन्धान चिन्तव नहीं होंगे तो स्वाभाविक ही है कि वर्तमान सुखमय हंसते-हंसते बीतेगा। वह तो सर्वदा सर्वक्षण नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सर्वज्ञान स्वरूप सर्वव्यापक सर्वमय आत्मा का ही दर्शन करता रहता है अतः उसे न शोक है न मोह।

अष्टम मन्त्र

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

मन्त्रानुवाद—वह सर्वव्यापक, सर्वगत, ज्योतिर्मय, अशरीरी, अक्षत, व्रण रहित, स्नायुरहित, शुद्ध, पापरहित सर्वज्ञ, मन का नियन्त्रक, सर्वोत्कृष्ट, सर्वत्र सर्वोपरिविद्यमान स्वयंम्भू है। स्वयं ही होने वाला है। उसी ने नित्यसिद्ध संवत्सराऽभिधेय प्रजापतियों के लिए, यथायोग्य समुचित रीति से अर्थो अर्थात् कर्तव्यों का विभाग किया है।

मन्त्र व्याख्या :

छठे तथा सातवें मन्त्र में ब्रह्मज्ञानी की महिमा का वर्णन किया गया था। आठवें मन्त्र में पुनः आत्मदृष्टि को दृढ़ करने के लिए आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

सांसारिक पुरुष व्यक्तिवादी होता है। अतः उसकी दृष्टि नाम रूप आकार प्रकार शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध परक रहती है। वह इन सबको अलग-अलग समझता है। किन्तु ज्ञानी विवेकी वीतरागी मुमुक्ष परिव्राट् वस्तुओं को पृथक् पृथक् न देखकर उनके कारण पर दृष्टि रखता है, और सर्वकारण कारण भूत मूल तत्व पर ही दृष्टि केन्द्रित करता है। वह मूल तत्त्व है, सबमें सर्वत्र आत्म सत्ता। और वही आत्मा स्वरूप से कैसे लक्षणों वाला है इसका वर्णन इस मन्त्र में किया जा रहा है।

आचार्य शंकर भगवत्पाद के अनुसार यहां पाणिनीय वैदिक व्याकरण के नियमानुसार लिंग व्यत्यय मानना चाहिए क्योंकि स पुंलिग है और अन्य शुक्रम् अकायम् आदि नपुंसक लिंग पद हैं उन्हें याने शुक्रम् अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम् 'पदों को पुंलिग शुक्रः, अकायः, अव्रणः अस्नाविरः शुद्धः अपापविद्धः पढ़ते हुए व्याख्या करनी चाहिए। क्योंकि उत्तरार्ध कवि आदि पद भी पुंलिग हैं। अतः पुंलिग से प्रारम्भ और पुंलिग में ही मन्त्र का पर्यवसान

होने से मध्यवर्ती पदों को भी पुंलिग ही मानकर (पाणिनि के अनुसार वेद में लिग व्यत्यय हो जाता है अतः पुंलिग के स्थान पर नपुंसक लिंग का प्रयोग हुआ है।) अर्थ करना चाहिए।

वह पूर्वोक्त आत्मा जो सर्वभूत हो गया। पर क्यों ? और कैसे ? उत्तर में कहा गया— पर्यगात्=सर्वतः अगात्। आकाश के समान सर्वव्यापी है, सर्वत्र प्रसृत है। परि का अर्थ होता है समन्तात्। अगात—व्याप्त हुआ अथवा "ये ये गत्यर्थाः ते ज्ञानार्थाः।" जो जो गति अर्थ वाले धातु हैं वे वे सब ज्ञान अर्थ वाले भी होते हैं। तदनुसार तात्पर्य हुआ सर्वत्र हो रहा है। ज्ञान जो सर्वत्र प्रसृत है वह आत्मा ही है। सर्वव्यापी का तात्पर्य सर्वाधिष्ठान या सर्वोपादान भी होता है। आत्मा रूप अधिष्ठान में विवर्तरूप से सब कुछ भासित है। कहा भी है "नित्यज्ञान विवर्तौ यम् क्षित्यप्तेजो मरुत् वियत्"। नित्यज्ञान स्वरूप ब्रह्म में ही ये सब विवर्त रूप से प्रतीयमान हैं। जैसे घट अधिष्ठान विवर्ती उपादान मृत्तिका है। वह मृत्तिका ही घट का शरावादि के आकार रूप में विवृत होती है। घटादिनाश एवं उत्पत्ति से मृत्तिका प्रभावित नहीं होती। इसी प्रकार व्यष्टि आकार प्रकार गुण किसी भी रूप में हो, कार्यरूप हों या कारण रूप सबका विवर्ती उपादान आत्मा ही है। वह उनके परिणाम विकार या विवर्त से प्रभावित नहीं होता प्रत्युत निर्लिप्त अस्पृष्ट ही रहता है।

"अधिकृत्य तिष्ठतीत्यधिष्ठान।" मृत्तिका ही घट को अधिकृत किए हुए है घट मृत्तिका को नहीं। इसीलिए मृत्तिका की अपेक्षा घट न्यून काल न्यून देश वृत्ति-त्वेन व्याप्य माना जायेगा, तथा मृत्तिका व्यापक मानी जायेगी। घट तो एक आकार है। मृत्तिका से पृथक् घट की सत्ता हो ही नहीं सकती।

ऊपर कहा गया है कि परि सर्वत्र वाचक उपसर्ग, और गम धातु, गति और ज्ञान दोनों अर्थों में है। इसलिए 'पर्यगात्' का अभिप्राय है कि आत्मा सर्वत्र सबका प्रकाशक है, असंग है, तथा सबका प्राप्तव्य भी है। इसके द्वारा, व्याप्ति, ज्ञप्ति, प्राप्ति और मुक्ति ये चार आत्मा के नित्य लक्षण बतलाये गये हैं। यहां यह ध्यान रहे कि आत्मा या ब्रह्म के लक्षण शाखा चन्द्र न्यायेन ही किए जाते हैं। क्योंकि लक्षण लक्ष्य से सम्बद्ध ही रहे यह नियम नहीं है। पर ध्यान रहे कि लक्षण विशेषण विशेष्य से तो सदा सम्बन्ध रहता है। अतः पर्यगात्, शुक्र आदि आत्म तत्व के विशेषण नहीं लक्षण ही माने चाहिए। जैसे चन्द्र को बतलाने के लिए कहा जाये कि वृक्ष शाखा पर चन्द्र है।

शुक्र का अभिप्राय, ज्योतिष्मान् प्रकाशमान् है। ज्योतिषामृज्योतिः। सम्पूर्ण प्रकाशमानों को भी प्रकाशित करने वाला। प्रकाशकारित्व इन्द्रियों में भी होता है अतः कहा गया—अकायम् अशरीरी=लिंग—देह वर्जित। इन्द्रियां लिंग शरीरान्तर्गत है। अतः इन्द्रियों में आत्मत्व नहीं हो सकता। इन्द्रियां आत्मा नहीं हैं। अव्रणम् और अस्नाविरम् दो पदों द्वारा, स्थूल देह भी आत्मा नहीं हो सकता, यह बतलाया गया है। क्योंकि आत्मा, व्रण रहित क्षत रहित याने अक्षत है। साथ ही उसमें स्नायु या शिराएं, नस नाड़ी इत्यादि भी नहीं है।

आत्मा शुद्ध है निर्मल है। अविद्या ही मल है। क्योंकि अविद्या ही कारण शरीर का कारण या मूल बीज है। अपापविद्धम् पद द्वारा कर्तृत्व भोक्तृत्व और उसके द्वारा फल रूप में प्राप्त होने वाले पुण्य पाप या धर्माधर्म से रहित आत्मा है यह कहा गया। आत्मा कवि अर्थात् क्रान्त दर्शी, सर्वज्ञ है। क्रान्त शब्द वैसे अतीत वाचक होता है किन्तु क्रान्त पद को त्रिकाल का उपलक्षण मानकर भाष्यकार ने सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ अर्थ किया है। क्रान्त का अर्थ प्रच्छन्न लगायें तो भूत भविष्य दोनों पर लागू होता है। वर्तमान मध्यवर्ती है ही। तब भी आत्मा त्रिकाल दर्शी सर्वज्ञ है, इस भाव की उपलब्धि हो जाती है। जैसा कि बृहदारण्य की उक्ति है—"नान्यतोऽस्ति द्रष्टा।" उससे परे उसके अलावा अन्य कोई द्रष्टा नहीं हो सकता। मनीषी मन का ईशन करने वाला ईषिता प्रेरक याने सर्वज्ञ ईश्वर। परिभू—परि का अर्थ यहां 'उपरि' है। परि=उपरि भवतीति परिभूः स्वयम्भू : सर्वोत्कृष्ट, सर्वोपरि। सबको पराभूत कर सबके ऊपर स्थित रहने वाला आत्मा होता है। वह स्वयं होता है, इसीलिए जिनके ऊपर होता है और जो ऊपर होता है वह सब आत्मा स्वयं ही है। इसलिए स्वयम्भू या परिभूः है। अभिप्राय यह हुआ कि आत्मा सर्व कारण का कारण है। आत्मा का कोई कारण नहीं, अतः परिभू

याने स्वयं प्रकाश चित्स्वरूप है। स्वयंभू अर्थ करने पर आत्म-सत्स्वरूप, निर्निमित्तक सर्वरूपेण स्वतः भासमान स्वतः स्थित नित्यमुक्त ईश्वर ही है।

वह नित्य मुक्त आत्मा या ईश्वर सर्वज्ञ है इस कारण से उसने तथ्येन=जो जैसा है ठीक वैसा ही, अर्थात् यथाभूत कर्म फल और साधनों के अनुसार अर्थों अर्थात् कर्तव्य पदार्थों का याथातथ्य विधान किया अर्थात् यथा योग्य रीति से उनका विभाग संवत्सर प्रजापतियों के लिए किया। शाश्वती समा=नित्य संवत्सर नामक प्रजापति। उनकी योग्यतानुसार उनके लिए पृथक्-पृथक् कर्तव्यों का निर्धारण किया=विभाजन किया।

वैष्णवाचार्य दृष्टि

वैष्णवाचार्य लिंग व्यत्यय नहीं मानते। उनके अनुसार नपुंसक पद ब्रह्म परक तथा पुंल्लिग पद सगुण ईश्वर-परक मानकर मन्त्रार्थ करना चाहिए। उनका मत है कि वेद सगुण निर्गुण दोनों प्रकार से ईश्वर का प्रतिपादन करता है। इसके साथ ही यही मन्त्र सगुण और निर्गुण ईश्वर का वर्णन करते हुए वेद के अपौरूषेयत्व की भी घोषणा करता है। उनके अनुसार – जो सर्वव्यापक ज्योतिष्मान् प्राकृत आकार रहित निराकार (अकायम्) अक्षत निर्विकार, स्नायुरहित शुद्ध निर्मल, निष्पाप परब्रह्म परमात्मा है, वही (सः) सर्वज्ञ (कवि) मनीषी मन का शासक सर्वोत्कृष्ट सर्वशक्तिमान, स्वयम्भू=स्वयं सिद्ध सगुण ईश्वर है। उसी ने प्रजापति गण को, अर्थात्=वेद ज्ञान अथवा वेद पदार्थ, प्रदान किये व्यदधात्। अथवा वेद ज्ञान उन्हें धारण कराया। या वेदज्ञान का विधान प्रजपतियों के लिए किया। (अतः वेद अपौरुषेय हैं।) तटस्थ दृष्टि से, सामान्य रूप से भी विना लिंग व्यत्यय किए मन्त्र का अर्थ निर्बाध रूप से किया जा सकता है। तदनुसार भी जो अर्थ होता है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा सरल भी है। इस रीति से यह मन्त्र भी ब्रह्मज्ञानी की महिमा बतलाता है। स का तात्पर्य होगा पूर्वमन्त्रोक्त-विजानतः एकत्वमनुपश्यतः के द्वारा प्रतिपादित, तत्त्व-ज्ञानी, आत्मज्ञानी या ब्रह्म ज्ञानी पुरुष। उस तत्व ज्ञानी ने ज्योतिष्मान्, सूक्ष्मशरीर रहित, निर्विकार, स्थूल शरीर एवं कारण शरीर रहित अकर्ता, अभोक्ता परमात्मा को पर्यगात् अर्थात् अध्यगात्=अधिगत कर लिया। ब्रह्म का अनुभव कर लिया, प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव कर लिया। और जब आत्मपरमात्मैक्य की साक्षादपरोक्ष अनुभूति हो गयी। 'अयमात्मा ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' यह बोध हो गया तो ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति के सिद्धान्तानुसार वह ब्रह्मज्ञानी, क्रान्तदर्शी मनीषी, परिभू हुआ। क्योंकि जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्थात्रय और उनमें प्रतीयमान विषय तथा वस्तु स्थितियों को पराभूत=बाधित करके ही ब्रह्मज्ञानी की स्थिति का लाभ होता है स्थितप्रज्ञता या परिभूत्व का लाभ होता है। अतः ब्रह्मज्ञानी ही परिभू है। और वह "तस्य कार्यं न विद्यते" के सिद्धान्त के अनुसार कर्म त्याग कर देता है अतः स्वयम्भू याने स्वयं की सत्ता से ही सत्तावान् है। कर्म, प्रारब्ध, प्रयत्न, विधि, परिस्थिति, कुछ भी उस ज्ञानी की सत्ता का कारण उसकी दृष्टि में नहीं। इस प्रकार का तत्वज्ञ पुरुष ही शाश्वतीभ्यः समाभ्यः—सदा के वर्षों के लिए, सर्वकाल के लिए याथातथ्यतः अर्थात् व्यदधात्=कर्तव्यों का ठीक-ठीक यथोचित विधान करता है। उसी ने उनका यथोचित निर्णय किया है। क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, क्या धर्म है, क्या अधर्म है, वर्णाश्रम, देश काल धर्म विधि आदि सभी कर्तव्यों का निर्णय ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी मनु याज्ञवल्क्यादि ऋषियों ने किया है। इसीलिए वेद वाक्य है— "यद्वै मनुरवदत्तद् भेषाजम्।" जो कुछ मनु ने कहा है वह यथार्थ है। अर्थात् धर्माऽधर्म का निर्णय शास्त्रों में ब्रह्म ज्ञानियों ने ही किया है। इसीलिए यह सनातनधर्म कहलाता है। यह धर्म शाश्वत है, सनातन है, यह धर्म ही ब्रह्म है। यहां अपापविद्धम् पद में पाप पद का तात्पर्य यास्क के द्वारा कहे गये जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धतेऽपक्षीयते, नश्यति ये षट् भाव विकार भी किया जा सकता है। तब अर्थ होगा आत्मा अपापविद्ध याने षड्भाव विकार रहित है। ब्रह्मज्ञानी कवि=क्रान्तदर्शी याने त्रिकाल दर्शी, स्थूल सूक्ष्म सन्निकृष्ट विप्रकृष्ट, भूतभविष्य वर्तमान आदि सब उपाधियों से रहित वस्तु तत्व को सत्य को जानता है देख लेता है, सर्वद्रष्टा है। वही मनीषी या मन का शास्ता भी होता है।

नवम मन्त्र

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः॥

अनुवाद—जो मनुष्य अविद्या (विद्या विपरीता कर्मभूता) की उपासना करते हैं, वे अज्ञानात्मक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। और जो विद्या (देवता ज्ञान रूपा विद्या) में लगे रहते हैं, उसी की उपासना में तन्मय हो जाते हैं वे उससे भी मानो अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। आचार्य शंकर का सिद्धान्त सर्वत्र यही है कि वेदों और उपनिषदों में तथा श्रीमद्भगवद्गीता में भी अधिकारिभेद के अनुसार ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनों का वर्णन है। ज्ञान कर्म का समुच्चय वेदों का विषय नहीं। इसीलिए प्रथम मन्त्र के द्वारा एषणात्रय परित्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठा "ईशावास्यमिदं सर्वम्" और "मा गृधः कस्य स्विद्धनम्" वाक्यों द्वारा कही गयी और मानना चाहिए कि यही प्रथम वेदार्थ है। अज्ञानी जीवनेच्छुक प्राणियों के लिए ज्ञाननिष्ठा का महत्व नहीं है। अतः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" मन्त्र के द्वारा कर्म-निष्ठा का प्रतिपादन किया गया। यह द्वितीय वेदार्थ है। "सोऽकामयत जाया मे स्याद्" इत्यादि मन्त्रों के द्वारा बृहदारण्यक में भी इन दोनों निष्ठाओं का विभाग बतलाते हुए, अज्ञानी कामनाशील प्राणियों के लिए कर्मनिष्ठा का ही विधान निश्चित किया गया। उसी कर्म का फल सप्तान्न सृष्टि बृहदारण्यक में कही गयी है। वहीं सप्तान्न प्रकरण में ही उपर्युक्त अन्ध तमः आदि मन्त्र ज्यों का त्यों उल्लिखित हुआ है। ज्ञानी आत्मवेत्ता के लिए सप्तान्न (व्रीहि यवादि-मानवान्न, हुत, प्रहुत देवान्न, मन, वाणी, प्राण, आत्मान्न, दुग्ध, पशुओं का अन्न) सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि वह प्रजा मूलक है। और ज्ञानी कहता है प्रजा से कोई प्रयोजन नहीं—"किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयंलोकः।" जबकि कर्मी प्रजार्थ जाया की इच्छा करता है। ज्ञान निष्ठों के लिए तो आत्म स्वरूप निष्ठा ही सब कुछ है। उन्हीं के लिए "असुर्या नाम ते लोका" आदि मन्त्र द्वारा प्रारम्भ कर अज्ञानी की निन्दा करते हुए आत्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन "स पर्यगात्" आदि मन्त्र पर्यन्त किया गया है। अब पुनः कर्म निष्ठा शीलों के लिए "अन्ध तमः" आदि मन्त्र कहा गया है। भाष्यकार ने बृहदारण्यक में मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार से किया है—अन्ध का अर्थ अदर्शनात्मक, तम का अर्थ अज्ञान। जो अविद्या अर्थात् विद्या से भिन्न साध्य साधन इति कर्तव्यता रूप कर्म की उपासना या अनुगमन करते हैं, वे अज्ञान रूप संसार नियामक अन्धकार में प्रवेश करते हैं अर्थात् अज्ञान में ही डूबे हुए रहते हैं। तथा जो अविद्या रूप कर्म वस्तु के प्रतिपादक कर्म परक त्रयी विद्या में ही अभिनिवेश रखते हैं, साथ ही अभिमानपूर्वक कहते हैं कि विधिनिषेधात्मक कर्म परक ही वेद हैं, और ऐसा कहकर उपनिषत्प्रतिपादित "त्यागेनेकेनाऽमृतत्वमानशुः" आदि वाक्यों के अर्थरूप ज्ञाननिष्ठा की उपेक्षा करते हैं, वे मानो और अधिक अज्ञानान्धकार में निमग्न हैं।

प्रतीत होता है कि यहां भगवान् शंकराचार्य का उद्देश्य पूर्वमीमांसोक्त "कर्मसिद्धान्त ही जीवन का चरम उद्देश्य है" विचार का खण्डन करना है।

ईशावास्य में इस मन्त्र की अवतरणिका बनाते हुए आचार्य कहते हैं कि यह मन्त्र इस सिद्धान्त को बतलाता है कि कर्म प्रेमियों के लिए ही कर्मविधि है ज्ञाननिष्ठों के लिए नहीं। प्रमाण में वे कहते हैं कि इसी उपनिषद् में प्रतिपादित है कि आत्मज्ञानी शोक मोह शून्य हो जाता है। अतः कर्म उसके लिए अनावश्यक है। साथ ही आत्मैकत्व विज्ञान किसी कर्म से अथवा ज्ञानान्तर से या ज्ञान कर्म समुच्चय से लब्ध फल नहीं है। यदि इस मन्त्र में समुच्चय मानें तो वह समुच्चय ब्रह्मात्मैक्याविज्ञान से नहीं अपितु कर्मनिष्ठासम्बद्ध देव वित्त या देवता विषयक ज्ञान से है। क्योंकि वही कर्म का सम्बन्धी होता है, परमात्म ज्ञान नहीं। इसीलिए बृहदारण्यक कहता है—"विद्ययादेवलोक विद्ययातदारोहन्ति।" विद्या से देव लोक प्राप्ति होती है। कर्म से पितृलोक मिलता है। इस प्रकार वेद में दोनों निष्ठाओं का पृथक्-पृथक् फल लिखा हुआ है। अतः यहां अविद्या पद का अर्थ कर्म तथा विद्या पद का अर्थ देवताज्ञान किया गया है। मन्त्र का तात्पर्य यह हुआ कि जो विद्या विरोधी अग्नि-होत्रादि कर्मों में ही लगे रहते हैं (यही अविद्या है) वे अदर्शनात्मक (जिसमें सत्य न सूझे) अज्ञानान्धकार में प्रवेश करते हैं। तथा जो विद्या अर्थात् देवताज्ञान में अनुरक्त हैं वे और भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार के प्राणियों को मोक्ष मार्ग नहीं सूझता। ज्ञान कर्म समुच्चयवादी आचार्य भास्कर हैं। उनके मतानुसार सम्पूर्ण उपनिषद् में विद्या और उससे भिन्न लौकिक कर्म अविद्या दोनों का समुच्चय वेद को अभीष्ट है। पहले के मन्त्रों में ब्रह्म, ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञानी की महिमा का प्रतिपादन है। उसका उद्देश्य यह बतलाना

है कि अज्ञानी पुरुष कर्म और ज्ञान के समुच्चय पूर्वक चित्त शुद्धि करते हुए ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बने। वैसे यदि समुच्चय अभीष्ट ही हो तो यहां विद्या का अर्थ देवोपासना और अविद्या का अर्थ कर्म करना चाहिए। ब्रह्म ज्ञान का तो समुच्चय कर्म के साथ होने से रहा। जो समुच्चय परक अर्थ करना चाहेंगे, उनके मत में यह दोष रहेगा कि ईशावस्य मन्त्र में तत्वज्ञान या विद्या और कुर्वन्नेवेह मन्त्र के कर्मोपदेश को यदि अविद्या कहा जाये अथवा कुर्वन्नेवेह मन्त्र भी "न कर्म लिप्यते नरे" की उक्ति अनुसार विद्यापरक और "असुर्यानाम ते लोका ये के चात्महनो जनाः" को अविद्या परक माने तो फिर इस मन्त्र में उसी विद्या के लिए "भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।" कथन की संगति कैसे होगी। अतः समुच्चय ज्ञान कर्म का सम्भव नहीं। और कर्म लिप्त नहीं करते इस उक्ति पर विचार करते हुए कुर्वन्नेवेह मन्त्र को भी अविद्या परक नहीं कह सकते। क्योंकि जब कर्म लेप ही नहीं होगा तो अन्धं तमः प्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव अन्धं तमः मन्त्र में विद्या अविद्या का तात्पर्य पूर्व मन्त्रों द्वारा निर्दिष्ट अर्थों में नहीं लेना चाहिए। यहां समुच्चय की अपेक्षा समन्वय कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि समुच्चय का अर्थ है एक साथ रहना या होना। समन्वय में एक साथ रहना या होना आवश्यक नहीं। वह एक के पश्चात् अन्य जो एक-दूसरे का पूरक हो, हुआ करता है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाये कि चित्त शुद्धि के लिए कर्म (अविद्या) और उपासना=विद्या का समन्वय करे। किन्तु केवल अविद्या और केवल विद्या यदि वह निष्काम नहीं है तो अन्धंतमः प्रवेश कारक ही होगी।

ज्ञान भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं; प्रपंच ज्ञान तथा परमात्म ज्ञान अथवा ऐन्द्रियक ज्ञान और आत्मज्ञान। ऐन्द्रिय ज्ञान इच्छा एवं प्रयत्न का द्योतक होता है, और इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ट निवृत्ति का जनक होता है। यह ज्ञान भी शास्त्रादि के द्वारा यदि अन्य देवतादि विषयक है तो परोक्ष ही होगा। और अन्य विषयक न होने पर कर्तृत्व भोक्तृत्व बोधक स्वविषयक होगा तो फलेच्छा से कर्म एवं उपासना में प्रवृत्ति होगी। यहां "मैं शरीरेन्द्रियवान् कर्ता भोक्ता हूं" इस प्रकार का ज्ञान लोक कर्म प्रवृत्ति परक है तो अविद्या, तथा यदि परलोकेच्छा से प्रेरित हो देवता की उपासना परक है तो विद्या कहा जायेगा। और ये दोनों ही प्रकार सविशेष ज्ञान के होते हैं। अतः अज्ञानान्धकार में ढकेलने वाले हैं। वस्तुतः ये दोनों अज्ञान ही हैं। ज्ञान तो केवल ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान है जो "ईशावास्यमिदम्" के द्वारा प्रतिपादित है और वह कर्मलभ्य नहीं है। क्योंकि अकर्ता, अभोक्ता, अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप का ज्ञान किसी प्रकार की प्रेरणा प्रयत्न कर्म आदि का जनक नहीं। क्योंकि यह निर्विशेष ज्ञान है। इस प्रकार का ज्ञान होने पर स्व (आत्मा) भिन्न सत्ता का आभास ही नहीं होता, तब प्राप्ति चाहे वैराग्य की ही क्यों न हो या त्याग राग द्वेषादिका या इच्छा प्रयत्न आदि कुछ भी सम्भव नहीं। यह तो स्वस्वरूप निष्ठ स्थिति है। "तत्केन कं पश्येत्" की स्थिति है। "इतर इतरं पश्यति" की नहीं। "इतर इतरं पश्यति" या द्वैत ज्ञान की स्थिति में ही उस ज्ञान के मिथ्यात्व का बोध महावाक्यों द्वारा होने पर वैराग्य होता है। अद्वय आत्मज्ञान होने पर समस्त कर्म, इच्छा प्रयत्न आदि का लोप हो जाता है।

वस्तुतः आत्मा प्रत्यक्ष ही है किन्तु विस्मृति से वह परोक्ष हो गया है जैसे अपने गले का हार। उसके ज्ञान के लिए कोई कर्म नहीं करना पड़ता। जैसे ही कोई अन्य व्यक्ति यह बतला दे कि हार तो गले में ही है व्यर्थ ही क्यों खोजते-खोजते परेशान हैं। उसी प्रकार महावाक्य जन्य ज्ञान विस्मृत्या परोक्षभूत आत्मा का ज्ञान कराते हैं कि देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित सर्व रूप में सर्वत्र स्थित सर्वत्र भासमान आत्मा या ब्रह्म अपना आत्मा ही है। और यह आत्मज्ञान महावाक्य से ही होता है। इन्द्रियां आत्मज्ञान नहीं करा सकतीं वे तो केवल विषयज्ञान कराती हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान का फल है विषयाकारता या विषयाकार चित्त वृत्ति। इस ज्ञान में इन्द्रियां कारण हैं। पर आत्मा के अपरोक्ष बोध में महावाक्य कारण है। फल है अपरोक्ष स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक आत्मस्वरूप। यह इन्द्रिय मन बुद्धि का विषय नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय मन बुद्धि परिच्छिन्न हैं। अतः अपरिच्छिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं करा सकते। इस प्रकार के आत्मज्ञान का जहां इन्द्रिय मन बुद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं कर्म के साथ न समुच्चय सम्भव है न समन्वय। हां देवता के स्वरूप के ज्ञानपूर्वक उपासना के साथ कर्म का सम्बन्ध होता है क्योंकि उपासना में श्रवण कीर्तन, पादसेवन, अर्चन वन्दन, दास्य आदि अथवा यज्ञ जप आदि कर्मानुष्ठान समन्वित हैं।

किन्तु निर्गुण निराकार निर्विकार, सर्वव्यापक स्व प्रकाश सर्वावभासक आत्मा के ज्ञान के साथ कर्म का कैसा समुच्चय ? अतः अविद्या का अर्थ कर्म और विद्या का अर्थ उपासना करना ही उपयुक्त होगा। एक अन्य भाव मन्त्र का सरल दृष्टि से यह भी हो सकता है कि अविद्या का अर्थ कर्मेन्द्रिय किया जाये और विद्या का अर्थ ज्ञानेन्द्रिय। इन दोनों का समुच्चय पंगुअन्ध न्याय से है ही। क्योंकि एक के बिना दूसरे का कार्य चल नहीं सकता। अतः जो कर्मेन्द्रिय द्वारा विषय भोग में लिप्त है वह भी अन्धतम-प्रविष्ट और जो मन बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सतत्, दिव्य इन्द्र, पितृ, ब्रह्म लोक आदि की कामनापूर्वक देवता विद्या द्वारा, स्वर्गीय, अमृत, अप्सरा आदि की प्राप्ति में लगा हुआ है वह और भी अधिक अन्धतमःप्रविष्ट है। अथवा मनोराज्य में निवास करता है। अर्थात् जो मन में निरन्तर इस प्रकार के विषयों का चिन्तन करते हैं वे अधिक निकृष्ट हैं अतः अधिक अन्धकार में हैं।

दशम मन्त्र

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥

अनुवाद—देवता विज्ञान रूप उपासना का फल भिन्न है। वह फल देव लोक प्राप्ति है। तथा अविद्या (= कर्मानुष्ठान) का फल भी अलग बतलाया गया है वह पितृलोक प्राप्ति। इस प्रकार जो विद्वान् ज्ञानी कर्म और ज्ञान की व्याख्या करते आये हैं; उनसे यह हम सुनते आए हैं कि कर्म और उपासना के भिन्न-भिन्न फल होते हैं।

व्याख्या—बृहदारण्यक में उल्लेख है "विद्यया देवलोकः।" "विद्यया तदारोहन्ति।" "कर्मणापितृलोकः।" विद्या=देव विषयक उपासना आदि से देव लोक की प्राप्ति तथा कर्मानुष्ठान से पितृलोक की प्राप्ति के बारे में ही कर्म और ज्ञान के ज्ञाता बुद्धिमान आचार्यगणों से सुनते आये हैं।

पूर्व मन्त्र में भी केवल कर्म रूप अविद्या और केवल उपासना रूप विद्या के अलग अलग फल बतलाये गए हैं। उसे ही प्रमाणित करने के लिए इस मन्त्र के द्वारा कहा गया है कि यह सिद्धांत अनादि सम्प्रदाय और अनादि परम्परा द्वारा सिद्ध है।

विद्या का फल ऐन्द्रियक विषयों का लाभ और भोग तदनन्तर स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति है और अविद्या का फल कर्माश्रय जड़द्रव्य का लाभ है। तात्पर्य यह निकला कि लौकिक समृद्धि, यश आदि सांसारिक अभ्युदय और भोग योग्य पदार्थों की प्राप्ति कर्म का फल है। तथा विद्या अथवा देवभावना पूर्वक देवोपासना का फल है—स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक तक की प्राप्ति।

धीराणाम्=धीर अर्थात् धीमान्। बुद्धि वही है जिसमें तत् त्वम् पदार्थ के ऐक्य या ब्रह्मात्मैक्य बोध हो, अतः धीर का अर्थ हुआ ब्रह्म ज्ञानी। धियं राति इति धीरः। अथवा धियम् ईरयति प्रेरयतीति धीरः। तब धीर शब्द का अर्थ बुद्धि का प्रेरक परमात्मा हुआ। अर्थात् परमात्मा ने ही, कर्म और उपासना के भिन्न-भिन्न फल होते हैं, इसका निर्धारण किया है। और वह शाश्वत वेद वचन अथवा वेदाज्ञप्त नियम है। और धियं राति इस अर्थ में ब्रह्म ज्ञानी आत्म-दर्शी पुरुषों ने समाधि प्रज्ञा द्वारा विद्या अविद्या के फल व रहस्य का साक्षात्कार किया है (विचचक्षिरे) तदनन्तर उसी का उपदेश किया और उनसे परम्परा प्राप्त रूप में हम सुनते आए हैं। अतः इसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषों की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि यह अपौरुषेय वेद वचन है।

एकादश मन्त्र

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

अनुवाद — जो मनुष्य देवता ज्ञानरूप विद्या अथवा उपासना को तथा कर्मानुष्ठान रूप अविद्या को, इन दोनों में से किसी एक को, या दोनों को एक साथ जानता है और तदनुसार अनुष्ठान करता है, वह कर्मानुष्ठान (अविद्या) से मृत्यु=स्वाभाविक कर्म और ज्ञान, को पार कर, देवोपासनाज्ञान रूप विद्या के अनुष्ठान से अमृत=देवात्मभाव को प्राप्त कर लेता है । इसे ही अमृत— "अपाम् सोमममृता अभूम ।" कहते हैं।

व्याख्या— विद्या एवं अविद्या की पृथक् उपासना में दोष बतलाकर प्रकृत मन्त्र द्वारा दोनों के समुच्चय रूप में अनुष्ठान का फल बतलाया गया है । साथ ही अविद्या तथा विद्या में तारतम्य भी बतलाया गया है । अविद्या से विद्या कुछ प्रशस्त है ।

तात्पर्य यह हुआ कि जो व्यक्ति न केवल कर्मनिष्ठ है और न ही केवल देवता-ज्ञान रूप उपासना निष्ठ, किन्तु कर्म और उपासना दोनों का सामंजस्य रखता है; अन्य शब्दों में प्रवृत्ति, इच्छा और ज्ञान का सन्तुलन पूर्वक समुच्चय रखते हुए जीवनयापन करता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या के द्वारा अमृतत्व भोग का भागी बनता है।

अविद्या प्रवृत्ति है, कर्म है, विद्या, अन्त: बाह्य उभयेन्द्रिय प्रसूत ज्ञान है। ज्ञान रहित प्रवृत्ति व्यर्थ है और प्रवृत्ति या क्रिया के बिना ज्ञान व्यर्थ है । "ज्ञानं भार: क्रिया विना ।" "यस्तु क्रियावान् पुरुष: स विद्वान् ।" अत: ज्ञान-पूर्वक ही कर्म को होना चाहिए । तथा ज्ञान और कर्म का समुचित सन्तुलन लोक में अति आवश्यक है । यहाँ लोक दृष्टि से भी यही कहा जा रहा है । क्योंकि अमृत पद स्वर्गादि देवलोक प्राप्ति भी लोक दृष्टि है, परमार्थ दृष्टि नहीं । इसीलिए अविद्या अर्थात् अज्ञता का अल्पज्ञता का यही कारण है कि जीव को अज्ञ या अविद्योपाधिक, अल्पज्ञ कहा गया है, इसीलिए वह कर्म करता है । पारमार्थिक ब्रह्मज्ञान हो जाने पर तो "तस्य कार्यं न विद्यते" की स्थिति आ जाती है ।

यहाँ भाव कर्मठता का है, आलस्य या प्रमाद के दूरीकरण का है। क्योंकि महाभारत में व्यास देव कहते हैं "प्रमादं वै मृत्युमहे ब्रवीमि ।" प्रमाद ही मृत्यु है । कर्म से प्रमाद निवृत्ति ही "अविद्यया मृत्युतरण" है । भाव यह निकला कि कर्मशील प्राणी यह मानता है कि सुकृत कर्मों से वर्तमान शरीर छूटने पर उससे भी श्रेष्ठ देवलोक पितृलोक आदि का शरीर प्राप्त होगा क्योंकि कर्म देवता ज्ञान उपासना से समन्वित है । अत: मृत्युमय नहीं होता । आगे की भी अच्छी आशा रहती है ।

विद्ययाऽमृतमश्नुते—विद्या के द्वारा अर्थात् शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त कर अन्त:करण बाह्य करणों का समुचित उप-योग करते हुए जीवन यापन करते रहने से शनै: शनै: सदसद् विवेक का उदय चित्त में सम्भव है और उसके द्वारा अमृतत्व अर्थात मोक्ष की ओर प्रवृत्ति भी हो सकती है। क्योंकि विवेक से वैराग्य भी हो सकता है, अत: साक्षात् तो नहीं किन्तु परम्परया सत्कर्मविवेक-वैराग्य तदनन्तर आत्मज्ञान और मोक्ष, यह सम्भव है। सत्कर्म से चित्त शुद्धि तदनन्तर विद्या अर्थात् शुद्ध अन्त:करण द्वारा सदसद्विवेक पूर्वक देवोपासना, श्रवण मनन आदि के द्वारा निष्काम भाव की उपलब्धि फिर वैराग्य और फिर अनासक्ति और उसके बाद ज्ञान इस प्रकार अमृत पद की ओर शनै: शनै: बढ़ना होता है । वस्तुत: मृत्यु या देहासक्ति निवृत्ति को अमृत-मोक्ष-पद का प्रथम सोपान माना जा सकता है ।

यहाँ 'ईशावास्यमिदम्', 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि', 'अनेजदेकम्', तदेजति तन्नेजति', 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्', आदि के द्वारा परब्रह्मपरमात्मतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है । किन्तु परमात्म तत्त्व प्राप्ति के योग्य कैसे बने यह प्रति-पादन उपर्युक्त मन्त्रों में नहीं । तदनुरूप चित्त और योग्यता सम्पादन विद्या, अविद्या, सम्भूति असम्भूति वर्णन परक मन्त्र-षट्क का विषय है। 9, 10, 11 मन्त्रों द्वारा कर्म उपासना समन्वय और 12, 13, 14 मन्त्रों द्वारा तत् त्वम् पदार्थ शोधन के उद्देश्य से, कार्य ब्रह्म, कारण ब्रह्म की एकरूपता अथवा समन्वय का प्रतिपादन हुआ माना जा सकता है ।

द्वादश मन्त्र

अन्धं तम: प्रविशन्ति ये सम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रता: ॥

मन्त्रानुवाद—जो मनुष्य असम्भूति=अव्यक्त या अव्याकृत प्रकृति या कारण ब्रह्म की उपासना करते हैं वे अज्ञान रूप और अन्धकार में प्रवेश करते हैं। और जो सम्भूत्याम्=कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ में अनुरक्त रहते हैं, उसकी उपासना करते हैं वे मानो और भी अधिक घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

मन्त्र व्याख्या—असम्भूति अव्याकृतात्मा प्रकृति या कारण ब्रह्म के उपासक अन्धतम में डूबे रहते हैं। तथा सम्भूति कार्य ब्रह्म या हिरण्यगर्भ के उपासक उससे भी अधिक अन्धतम में निमग्न रहते हैं।

एतत्पूर्व मन्त्रत्रयी विद्या तथा अविद्या के समुच्चय को विषय बनाते हुए पढ़े गए। द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश मन्त्र विद्या तथा अविद्या के विषयों के समुच्चय के बारे में पठित हैं।

नवें मन्त्र तथा बारहवें मन्त्र में केवल इतना ही अन्तर है कि पूर्व मन्त्र के अविद्या पद स्थान पर असम्भूति पद तथा विद्या पद के स्थान पर सम्भूति पद का प्रयोग किया गया है।

वेदों में अनेकशः एक मन्त्र के ही विषय को समझाने के लिए शब्द परिवर्तन करके अन्य मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ भी ऐसा ही है। अविद्या का ही अर्थ असम्भूति है और विद्या का अर्थ सम्भूति है। अतः इस मन्त्र को नवें मन्त्र की व्याख्या में ही प्रयुक्त मानना चाहिए। कुछ टीकाकारों के अनुसार बारह, तेरह, चौदह मन्त्र, नवें, दसवें, और ग्यारहवें मन्त्रों के स्थान पर पढ़े गए हैं और बारह, तेरह, चौदह के स्थान पर नौ, दस और ग्यारह मन्त्र उल्लिखित हुए हैं। यह क्रम-भेद शाखा-भेद के अनुसार है। किन्तु इस बात की पुष्टि अवश्य करते हैं कि ये छओं मन्त्र परस्पर या तो एक-दूसरे के पूरक हैं जैसा कि कहा गया है, पहले के तीन में विद्या अविद्या का समुच्चय और बाद के तीन में विद्या अविद्या के विषयों का समुच्चय। अथवा जो भी पूर्ववर्ती मन्त्र त्रयी मानी जाये उनकी क्रमशः व्याख्या ही इतर मन्त्र त्रयी में मानना चाहिए। शंकराचार्य भगवान् ने अग्रिम मन्त्र में प्रयुक्त असम्भवन और सम्भवन पदों का प्रयोग भाष्य में असम्भूति और सम्भूति के अर्थ में क्रमशः किया है। तथा फिर उनका अर्थ अविद्या और विद्या किया है। अतः यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त मन्त्र परस्पर व्याख्या परक है। तदनुसार—

सम्भूति=सम्भवन याने जिसका जन्म होता है, उत्पत्ति जिसका धर्म है वह कार्य या कार्य ब्रह्म। असम्भूति उससे भिन्न, जिसका जन्म या उत्पत्ति नहीं होती हो वह प्रकृति कारण अथवा अव्याकृत कही जाने वाली अविद्या या कारण ब्रह्म। इस सम्भूति को ही अगले मन्त्र में विनाश कहा गया है क्योंकि यह कारणावस्था है इसी में कार्यावस्था का लय होता है अतः इसे विनाश कहा गया है। यह अज्ञानात्मिका या अदर्शनात्मिका अविद्या ही कामनाओं और कर्मों का बीज है। अतः अज्ञान के उपासक अज्ञान में ही लीन होंगे। यही अन्धतम है नियम ही है कि "यद् दृष्टं तन्नष्टम्", और "यज्जन्यं तदनित्यम्।" जो कुछ दृश्यमान है वह विनश्यमान है और जो कुछ उत्पद्यमान है वह सब अनित्य है। देखना यह है कि व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को कहाँ लगाए रहता है। क्योंकि यहाँ 'रताः' पद का प्रयोग है जिसका यही अर्थ होता है। यदि कारण ब्रह्म में लगाए रहता है तो अन्धतमः में प्रवेश करेगा। और कार्य-ब्रह्म में लगाए हुए है तो और भी घोरान्धतमः में डूबेगा। रत शब्द का अर्थ लगे रहना याने उपासना करना है, जानना या ज्ञान अर्थ नहीं है। असम्भूति से तात्पर्य कारण ब्रह्म का है। कार्य ब्रह्म देह और समग्र जगत् प्रपंच है। कारण ब्रह्म ईश्वर है क्योंकि देश काल एवं समग्र प्राणियों की सत्ता का समावेश परिसमाप्ति या लय ईश्वर में ही होता है। कार्य ब्रह्म अर्थात् देह जगत्, संसार में ही लिप्त रहना सम्भूति की उपासना है और यह घोरातिघोर अन्धतम है। कारण ब्रह्म असम्भूति= ईश्वरोपासना या देवोपासना है। वह भी परिच्छिन्न है। परिच्छिन्न सर्वजगत् को छोड़कर परिच्छिन्न कारण अविद्या की उपासना असम्भूति में लिप्त रहना या अन्धतम में रहना ही है। कार्य व्यष्टि होता है कारण समष्टि। इस दृष्टि से सम्भूति व्यष्टि है असम्भूति उसकी समष्टि है। कार्य ब्रह्मोपासना व्यक्त जगत् की उपासना कारण ब्रह्मोपासना अव्यक्त प्रकृति या अविद्या की उपासना है। ऐसे व्यक्ति मुक्त नहीं होंगे, कारण ब्रह्म में लीन होंगे। तात्पर्य हुआ कि स्वर्ग से लेकर ब्रह्म लोक तक कहीं भी पहुँचेंगे। और 'क्षीणं पुण्ये मर्त्यं लोकं विशन्ति।' के सिद्धान्तानुसार ईश्वरीय लोकों के भोग भोग कर पुनः जन्म लेंगे। अर्थात् 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्।" से छुटकारा नहीं मिलेगा। वे काल, देश, इन्द्रिय और

अव्यक्त से पृथक् नहीं हो पायेंगे । अतः यह भी अन्धतम ही हुआ ।माया विशिष्ट ब्रह्म या तत्तद्देव की उपासना भेद बुद्धि है, द्वैत ज्ञान है । यह अद्वय तत्व के बोध का बाधक है । इससे 'एकमेवाद्वितीयम्' का ज्ञान नहीं हो सकता अतः अन्धतम हुआ ।

असम्भूति कारण ब्रह्मोपासक से अधिक घोराज्ञाननिमग्न वे हैं जो कार्य ब्रह्म=सम्भूति में रत हैं । क्योंकि वे स्थूल में ही उलझे हुए हैं । स्थूल देह, स्थूल जगत्प्रपंच, स्थूल देहेन्द्रियादि तथा उनके शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि विषय । अतः जड़ में रत हैं एतावता परिणति भी जड़ता या घोरातिघोर अन्धतम में होगी । यद्यपि ये कारण ब्रह्म चेतन तत्त्व को मानते हैं फिर भी निमग्न जड़ में हैं, अतः जड़त्व को ही प्राप्त होंगे ।

त्रयोदश मन्त्र

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥13॥

मन्त्रानुवाद—दोनों प्रकार की उपासनाओं सम्भूति और असम्भूति के फल अलग-अलग है उन्हीं का वर्णन इस मन्त्र में है । यह मन्त्र दशम मन्त्र की ही व्याख्या प्रतीत होता है । क्योंकि विद्या अविद्या के स्थान पर सम्भव और असम्भव शब्दों का क्रमशः प्रयोग किया गया ।

शास्त्रों में, कार्यक्रम की उपासना से (सम्भवात्) भिन्न फल कारण ब्रह्म की उपासना का और कारण ब्रह्म (असम्भवात्) की उपासना से भिन्न फल कार्य ब्रह्म की उपासना का बतलाया गया है । वह धीर, विद्वान् तत्त्व साक्षात्कारी पुरुषों से सुनते आये हैं, और उन तत्त्वज्ञ पुरुषों ने ही हमें सम्भूति असम्भूति (तत्) की सम्यक व्याख्या करके बतलायी है ।

व्याख्या—इस मन्त्र के द्वारा पूर्व दशम मन्त्र के समान ही विद्या अविद्या के फल पृथक् पृथक् हैं । यह अनादि वेद शास्त्र परम्परानुसार प्रमाणित है; इस बात को बतलाना ही है । उसी प्रकार यहां भी सम्भूति असम्भूति की उपासना के फल सर्वथा भिन्न हैं । और यह सिद्धान्त अनादि वेद शास्त्र तथा शिष्ट धीर विद्वत्पुरुष परम्परा प्रमाणित है । यह बतलाना ही मन्त्र का उद्देश्य है ।

सम्भूति कार्य ब्रह्म की उपासना व्यक्त जड़ जगत् विषयक है । अतः उसकी उपासना का फल जड़ता प्राप्ति है । असम्भूति या कारण ब्रह्म की उपासना का फल भिन्न है । वह है स्वर्ग से लेकर ब्रह्म लोक तक की प्राप्ति या अव्यक्त प्रकृति में लीन होना या जिसे प्रकृतिलय कहा गया है वह । क्योंकि यह अव्याकृत प्रकृति की उपासना है । जबकि कार्य ब्रह्म की उपासना का फल अणिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, और यत्रकामावसायित्व इन आठ प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति बतलाया गया है ।

इस प्रकार व्याकृत अव्याकृत की उपासना के पृथक् फल शास्त्रानुमोदित और विद्वद् व्याख्यात हैं ।

चतुर्दश मन्त्र (14)

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

अनुवाद:—जो सम्भूति=कार्य ब्रह्म और विनाश=कारण ब्रह्म दोनों को साथ-साथ जानता है वह विनाश से मृत्यु को पार कर के सम्भूत्या कार्य ब्रह्म की उपासना द्वारा अमृतत्व का आस्वादन करता है अर्थात् अमृत पद अमर पद स्वर्गादि ब्रह्म लोक पर्यन्त पद को प्राप्त करता है ।

मन्त्र व्याख्या—यहाँ भाव यह है कि विनाश याने कारण लय के द्वारा मृत्युभय दूर हो जाता है । देहासक्ति छूट जाती है । क्योंकि देह की कारणावस्था का विचार करने पर नश्वरता सद्यः ही समझ में आ जाती है । देह नश्वर है

इसका इसके कारण में लय होना है। और मृत्यु के पश्चात् सम्भूति अर्थात् कार्य ब्रह्म = सुकृत द्वारा पुण्यलोकों की ओर गमन, शुद्ध उपासना मूलक है। इसके द्वारा ब्रह्म लोकादि पद प्राप्ति ही अमृतत्व प्राप्ति है। अथवा कारण ब्रह्म के ज्ञान के द्वारा -- देहादि पदार्थों में आसक्ति की निवृत्ति हो जाती है। यह हुआ 'मृत्युं तीर्त्वा' और जब आसक्ति ही नहीं रहेगी तो देहाभिमान अहंत्व ममत्व स्व पर की भावना भी जाती रहेगी तब कार्यब्रह्म— व्यक्त जगत् के क्रिया कलाप की उपासना, अथवा जगत् व्यवहार अनासक्त निष्काम हो जायेगा और उससे चित् शुद्धि एवं फलाभिसन्धि राहित्य लाभ होकर अमृत पद प्राप्ति की योग्यता आयेगी और तदननुसार परम्परा क्रम प्राप्त मोक्ष अमृत पद की ओर बढ़ जायेगा प्राणी। तब "कुर्वन्नेवेह कर्माणि और" न कर्म लिप्यते नरे" की भावनानुसार ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति और मुक्ति प्राप्त होगी यही रहस्य है, यही समन्वय है।

विशेष :— चतुर्दश मन्त्र एक जटिल समस्या उत्पन्न करता है। यहां प्रथम पद भी सम्भूति और अन्त में भी सम्भूत्या पद है। अतः समस्या होती है कि असम्भूति अर्थ किसका किया जाये? अथवा सम्भूति से अमृत प्राप्ति कैसे? ऊपर की पंक्ति में 'उभय-सह' पद को दृष्टि रखते हुए समाधान की चेष्टा की गयी है। एक और समाधान यहां यह भी है कि यद्यपि मन्त्र 9, 12, 10 / 13, 11, 14, मिलते जुलते हैं। किन्तु असंगति दूर करने के लिए 9, 10, 11 को उपासना विषयक और 12, 13, 14 को उपास्य विषयक मान कर व्याख्या की जाये।

भगवान् शंकराचार्य ने प्रथम पंक्ति में प्रथम सम्भूति पद को असम्भूति माना है और लिखा है कि "सम्भूति च विनाशचेत्यत्राऽवर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः "प्रकृति लय फल श्रुत्यनुरोधात।"

प्रकृतिलीनता रूप फल श्रुति के अनुरोध के कारण सम्भूति पद लुप्त आकार वाला असम्भूति पद मानकर अर्थ करना चाहिए। तथा तृतीयान्त अन्तिम पद को सम्भूत्या न समझकर असम्भूत्या ही कहना चाहिए। तदनुसार तात्पर्य यह हो जायेगा कि विनाश पद का अर्थ सम्भूति या कार्य ब्रह्म करना पड़ेगा। विनाश रूप धर्म है जिसमें वह कार्य ब्रह्म धर्मी है। धर्म वाचक पद से धर्मी कार्य ब्रह्म का बोध करना होगा। तब असम्भूति = कारण ब्रह्म और विनाश कार्य ब्रह्म का दोनों साथ-साथ जिसको ज्ञान है। वह विनाश अर्थात् कार्य ब्रह्म की उपासना द्वारा अनैश्वर्य अधर्म कामादि दोषोत्पन्न मृत्यु को पार कर लेता है। हिरण्यगर्भोपासना द्वारा जो अणिमादि फल प्राप्त होता है वह मृत्युतरण है : क्योंकि अधर्म अनैश्वर्य काम कर्मादि ही मृत्यु है। उसे पारकर असम्भूति = अव्याकृत अव्यक्त की उपासना से प्रकृति लीनता रूप अमृत पद को प्राप्त करता है।

'विनाशः = कारणलयः' के सिद्धान्तानुसार यदि विनाश को असम्भूति का पर्याय मानें तो कुछ लोगों को सम्भूति अमृतत्व प्राप्ति अटपटा लगता है। किन्तु ऐसी स्थिति में अमृतत्व प्राप्ति का तात्पर्य ब्रह्म लोकादि प्राप्ति ही किया जायेगा। क्योंकि प्रकृतिलीन प्राणी उन्हीं लोकों में रहते हैं यह योग शास्त्र और पौराणिकों का अभिमत है।

यदि इस मन्त्र का ग्यारहवें मन्त्र की छाया में व्याख्यान किया जाये तो सहज व्याख्या होगी। आचार्य शंकर ने भी पूर्व मन्त्रों में असम्भूति का अर्थ अविद्या किया है। तदनुसार विद्या सम्भूति पद का अर्थ होना चाहिए। सम्भूति सम्भवन या विद्या— देवतात्मज्ञान अथवा "द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापराच" के सिद्धान्तानुसार यहां सर्वत्र विद्या पदेन ब्रह्मविद्या अर्थ तो हो ही नहीं सकता और नहीं किसी ने ऐसा किया है। अतः उसे अपरा विद्या परक लेने में आपत्ति नहीं प्रतीत होती। अर्थात् वेदादि शास्त्र विद्या है और यह विद्या विशेषण कर्म परक है अतः विद्या से सुकृत सत्कर्म अथवा शास्त्रोक्त कर्म अर्थ लिया जा सकता है। और इस अपरा विद्या अथवा तत्र निर्दिष्ट कर्मों से ब्रह्मलोकादि गमन अमृत प्राप्ति— "अपाम सोम अमृता अभूम" के सिद्धान्तानुसार ठीक बैठती है। तथा अविद्या = असम्भूत्या = कारण ब्रह्म के ज्ञान से मृत्युभय की निवृत्ति का मृत्युतरण स्वाभाविक ही है। तब अविद्या का अर्थ जहां भी कर्म किया है वह न करके अव्यक्त प्रकृति, अव्याकृतात्मा कारण ब्रह्म या माया ही करना चाहिए तो सारल्येन सफल शास्त्रार्थ संगति बैठ जाती है। समन्वय दृष्टया, परम्परा अमृत ब्रह्म प्राप्ति परक भाव ऊपर की पंक्तियों में भावार्थ दृष्टया तात्पर्यार्थ अथवा फलितार्थ

के रूप में बहुशः पूर्व मन्त्रों में भी प्रस्तुत किया ही है। वही विद्या कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ शास्त्र प्रवर्त्तक है। अतः विद्या पद से सम्भूति सम्भवन कार्य ब्रह्म और अविद्या पद से असम्भूति = असम्भवन कारण ब्रह्म अर्थ करने से एक रूपता हो जाती है। क्योंकि शास्त्र निर्दिष्ट गोसुवर्णादिफल से प्रारम्भ कर प्रकृतिलय पर्यन्त फल मानुषी सम्पत् और दैवी सम्पत् के रूप में कहे गये हैं। और यहीं तक संसार गति है, समुच्चय या समन्वय है। तदुपरान्त तो 'विजानतः आत्मैवाभूत' की स्थिति विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति एवं इन दोनों के समुच्चय या समन्वय से ऊपर की अवस्था है।

पंचदश मन्त्र

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ 15 ॥

अनुवाद—हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। अतः हे पूषन्! सत्यधर्मा! मैं उसका साक्षात्कार कर सकूं, इसलिए उसे तुम हटा दो उद्घाटित कर दो। हिरण्मय याने ज्योतिर्मय, सत्य का अर्थ ब्रह्म है। अतः सूर्य मण्डलस्थ ज्योतिर्मय पात्र से ब्रह्म आच्छादित है। और पूषा देवता से उस ज्योतिर्मय पात्र को हटा लेने की प्रार्थना की गयी है, ताकि सत्यस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाये।

व्याख्या—पूर्व मन्त्रों में ब्रह्म का स्वरूप, लक्षण, सर्वात्मभाव और तदनन्तर कार्य ब्रह्म, एवं कारण ब्रह्म का ज्ञान नवम से चतुर्दश मन्त्र पर्यन्त बतलाया। साधक इन सबका ज्ञान या अनुभव होने के अनन्तर ब्रह्म साक्षात्कार की ओर बढ़ता है अज्ञान रूप आवरण जो माया है वह अत्यन्त भास्वर है स्वर्णवत् चमकीली है, वही माया अविद्या आवरण है उसके भंग की प्रार्थना इस मन्त्र में की गयी है।

सप्तम मन्त्र 'आत्मैवाऽभूद्विजानतः' के भाव के अनुसार सब इच्छाओं का त्याग और ज्ञाननिष्ठा का ही फल सर्वात्मभाव या 'ईशावास्य' दृष्टि है। इस प्रकार उपनिषदों में प्रवृत्ति निवृत्ति रूप दो प्रकार का वेदार्थ प्रतिपादित है। विधि निषेध रूप प्रवृत्ति लक्षण समग्र वेदार्थ प्रवर्ग्य पर्यन्त ब्राह्मण भाग प्रदर्शित है। तथा निवृत्ति लक्षण वेदार्थ इसके आगे बृहदारण्यक में प्रकाशित किया गया है।

जो गर्भाधान से मृत्यु पर्यन्त समग्र कर्म करते हुए जिजीविषा रखता है वह अपर ब्रह्मविषयक विद्या सहित ही जीना चाहता है। यह अर्थ "विद्यां चा विद्यां च यस्तद्वेदोऽभयं सह" मन्त्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृतपद की ओर प्रवृत्त होता है। वह अमृत पद की ओर बढ़ने का मार्ग-सा है? किस मार्ग से अमृत पद की ओर जाया जाता है। इस विषय में उपनिषदों में कहा गया है कि जो सत्य है वही आदित्य है। जो इस आदित्य मंण्डल में पुरुष है, तथा जो इस दक्षिण नेत्र में पुरुष है वे दोनों ही सत्य हैं। अतएव ब्रह्मोपासक और शास्त्रोक्त कर्म करने वाले पुरुष, अन्तकाल उपस्थित होने पर सत्यस्वरूप आत्मा से आत्मप्राप्ति की प्रार्थना 'हिरण्मयेन' मन्त्र द्वारा करते हैं। यह आचार्य शंकर का अभिमत उक्त मन्त्र पर है। यह इससे पूर्व मन्त्रों का जो अभिप्राय स्पष्ट किया गया है उससे संगत है और उसे पुष्ट भी करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण—शंकराचार्य भगवान् के अनुसार—हिरण्मयमिव हिरण्मयम् = ज्योतिर्मयमिति—जो स्वर्ण के जैसा देदीप्यमान ज्योतिर्मय हो इस ढक्कन के समान पात्र द्वारा आदित्य मण्डल में स्थित सत्य अर्थात् ब्रह्म का मुख (द्वार) ढका हुआ है, बन्द है। उसे उद्घाटित करने की प्रार्थना भी ब्रह्म से ही की गयी है क्योंकि पूषन् ब्रह्म है वह स्वयं-प्रकाश है। उसका ज्ञान अन्य के द्वारा नहीं किया जा सकता। "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।" किन्तु किसके लिए यह ज्योतिर्मय द्वार उद्घाटित होता है? इसकी योग्यता या पात्रता किसमें है? इसका उत्तर साधक स्वयं कहता है—सत्यधर्माय मम दृष्टये। सत्यव्रती = यथार्थ द्रष्टा, यथार्थ ही जिसका धर्म हो उसी के लिए तो अयथार्थ का आवरण भंग हुआ करता है। वही मुमुक्षु सर्वत्र आत्मदर्शी, अनात्म रूप आवरण के अपावरण का प्रार्थी है। यहां हिरण्मय पात्र का

एक और अभिप्राय है। आध्यात्मिक दृष्टि से पात्र वही होगा जिसमें संस्कार निहित होंगे। क्योंकि ये संस्कार अनादि अविद्या काम कर्मादि वासना के होते हैं। अतः इनसे प्रपूरित पात्र आपाततः चमकीला प्रतीत होता है। और यही आवरण है जिसको हटाना चाहिए। यह पात्र व्यष्टि गत नहीं समष्टि गत है। समष्टि संस्कार का पात्र है। अतः समष्टि आदित्य, समष्टि वासना एवं समष्टि अहंत्व की उत्पत्ति और लय का स्थान है। सबके कर्म, कर्म-वासना, अहंकार, अहंकार की वासना अहम् के संस्कार इस हिरणमय पात्र में निहित हैं। यही हिरण्यगर्भ है। यहीं अनादिकाल से कर्मवासना अहंकार आदि के बीज निहित हैं और ये सतत शाश्वत अनन्त कालपर्यंन्त रहेंगे भी। उसे हिरण्यमय इसलिए कहा गया कि उसमें अस्तित्व, भातित्व, प्रियत्व तीनों हैं। अक्षि पुरुष आदित्य पुरुष, अग्नि की भास्वरता, सब का तेज या प्रकाश उसी समष्टि हिरण्यगर्भ या हिरण्मय पात्र से प्राप्त हो रहा है। इसी प्रकार ब्रह्म से लेकर स्तम्बभ्त्र पर्यन्त बुद्धि प्रतिभा अहंत्व आदि का स्थान भी वही है। इसे ही महत्तत्व स्वयम्भू आदि नामों से कहा गया है।

अहंता दो तरह से होती है—अध्यास से तथा अध्यारोप से। अध्यास द्वारा देहेन्द्रिय प्राण आदि में अहंभाव—मैं देह से अभिन्न हूँ इत्यादि, मैं प्राण हूं। अध्यारोपित अहंता—अहं मनुष्यः ब्राह्मणः, एतद्देशीयः, अन्य देशीयः, वैदेशिकः आदि रूप से होती है। अध्यासकृत अहंभाव का कारण अनादि अविद्या वासना या अनादि अज्ञान है। अध्यारोपित अहंता अन्य के द्वारा, उपदेशादि के द्वारा आरोपित होती है। ये दोनों ही प्रकार के अहंभाव विवेक वैराग्य द्वारा अन्तःकरण शुद्धि होने पर और निष्काम भाव की जागृति एवं ब्रह्म भाव के अभिवर्धन द्वारा दूर होती है। आकृति, बुद्धि एवं रागद्वेषादि भाव ये तीनों समष्टि रूप से अपने-अपने बीज या संस्कार सहित हिरण्यगर्भ गर्भस्थ हैं क्योंकि वह सत् चित् आनन्द स्वरूप जगत् की उत्पत्ति का कारण है। समग्र की बीज समष्टि या संस्कार समष्टि रूप उपाधि से उपहित ब्रह्म ही वह हिरण्यगर्भ कहलाता है। यहां व्याकृत अवस्था अर्थात् नामरूप विविधाकार प्राप्त अवस्था हिरण्यगर्भ कही जायेगी क्योंकि वह चित् है। और अव्याकृत अवस्था की अभिधा ईश्वर होगी। और जड़त्व वि ार से जड़ दृष्टि से जड़ जगत् का हेतु विचार करने पर व्याकृतावस्था सांख्य का महत्तत्व और अव्याकृतावस्था प्रकृति या प्रधान कही जायेगी। हिरण्यगर्भ में ही कर्तृत्व तथा नियन्तृत्व है। वही सृष्टि अवस्था में हिरण्यगर्भ, तथा प्रलयावस्था में ईश्वर कहलायेगा। किन्तु निरुपाधिक ब्रह्म में बीज, सृष्टि, प्रलय, ईशित्व आदि असिद्ध हैं। वह निर्बीज है, वह अपरिच्छिन्न, एकरस निर्विशेष सत्ता मात्र है। और अध्यारोप करने से ही वह साक्षी कहलाता है। जैसा कि आचार्य गौड़पाद ने कहा कि उसे अज कहना भी एक काल्पनिक व्यवहार होगा। पारमार्थिक दृष्टि से तो उसे अज भी नहीं कह सकते।

"अजः कल्पित संवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।" यह केवल सत्य है, समस्त सत्यों का सत्य परमसत्य। उससे भिन्न सांवृतिक सत्य और व्यावहारिक सत्य दो अन्य सत्य के प्रकार जगद् व्यवहार जगत् प्रपंच के सत्य हैं।

आवरण अपावरण की प्रार्थना इन दोनों सत्यों से परे जो सत्य है उसके साक्षात्कार के लिए की गयी है। ये दोनों सत्य ही परम सत्य के आवरण हैं। जगत् का दैनन्दिन व्यवहार और तदुपयोगी द्रव्य व्यावहारिक सत्य की कोटि में आते है। तथा कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व आदि सांवृत्तिक सत्य की कोटि में आते हैं। इसीलिए आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

न विरोधी न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मोक्ष इत्येषा परमार्थता॥

यही परम सत्य है जो उपर्युक्त सांवृतिक और व्यावहारिक सत्य रूप हिरण्यमयपात्र से ढका हुआ है। इनसे ऊपर उठने पर आचार्य के अनुसार कर्तृत्व अकर्तृत्वादि कोई भाव नहीं रहेगा, केवल रहेगा शुद्ध सैर्व सांवृतिक भावातीत ब्रह्मभाव। इसीलिए उपनिषदों में ब्रह्म को बताने के लिए अव्रण, अकाय आदि नञ् समास निष्पन्न पदों का प्रयोग करते करते अन्त में 'नेति नेति' पदों का प्रयोग हुआ।

लौकिक दृष्टि से हिरण्मय पात्र का अर्थ लौकिक धन द्रव्यादि और उससे उत्पन्न अभिमान कर सकते हैं। क्योंकि इसी से चित्त कलुषित है, आच्छादित है। तब आत्मभाव या आत्मदर्शन हो कैसे ? अतः उस सत्य स्वरूप परमात्मा के दर्शन के लिए शम, दम, तितिक्षा, उपरति, विवेक, वैराग्य, सम्पत्ति षट्क और पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आवश्यक है। "सत्य धर्माय दृष्टये" में सत्यधर्मा पद से शमादिषटक् सम्पत्तिमान्, श्रवणमनन-निदिध्यासन में लगे हुए अधिकारी को ही जानना चाहिए। क्योंकि ये ही सत्य धर्म है। इसके भिन्न आसक्ति, रागद्वेष, अविद्या, काम-कर्मादि, विषय भोगलिप्ति आदि सत्य के आच्छादक समस्त असत् अनित्य संसार और उसके पदार्थ हैं वे प्रथम दृष्टि में दूर से सुहाने स्वर्णवत् आकर्षक प्रतीत होते हैं। उनमें आसक्ति को दूर करना है। अन्यत्र भी कहा है— "असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।" पूर्वमन्त्रों में सत्य का प्रतिपादन 'अनेजदेकम्' तदेजति, तन्नेजति, 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' आदि पदों के द्वारा किया गया है।

पूषन्—पुष्यति, पुष्णाति वा पोषकः पोष्टा। पुष् धातु से निष्पन्न यह शब्द सार्थक प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्म ही सबका परिपोषक है, ब्रह्म की सत्ता से सब सत्तावान् हैं, उसकी चेतना से सब चेतनावान् हैं उसके आनन्द से सब आनन्द-युक्त है। सर्वत्र सर्वव्यापक ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों --जिसके लिए सत्ता, चेतना, आनन्द या अस्ति, भाति, प्रिय समन्वित पद सच्चिदानन्द का प्रयोग किया गया है - का ही साम्राज्य है। इसके अलावा जो नाम रूप है वह नश्वर है अनित्य है जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, नश्यति इन षड्भाव विकारों से युक्त है। अतः पोषक सच्चिदानन्द ही है समग्र सृष्टि का वही पूषन् है उससे ही समग्र सृष्टि का पालन और पोषण होता है। उसी के अनुग्रह से सब कुछ अनुप्राणित है "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" इसीलिए श्रीमद्भागवत्कार ने पोषण शब्द का अर्थ भगवदनुग्रह किया है—'पोषणं तदनुग्रहः।' वेद में अन्यत्र कहा है, "स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।" जिसके ज्ञान से समग्र विश्व ज्ञानवान् है वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक परमात्मा ही पूषा है। वह समग्र ज्ञानराशि है, ज्ञानस्वरूप है, विज्ञाता है, "येन ज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति।" उसके ज्ञान से सब कुछ का ज्ञान हो जाता है।

'सत्यधर्माय' पद ब्रह्मज्ञान के अधिकारी जैसा पूर्व में कहा है, और प्रयोजन दोनों को बतलाता है। शमादि छः ड् युक्त अधिकारी सत्यस्वरूप ब्रह्म के लिए दृष्टि हो (सत्यधर्मायदृष्टये – सत्य एव धर्मः स्वरूपो स सत्य धर्मः स एव दृष्टिः) साक्षात्कार हो, तन्मयता हो, तल्लीनता हो। अथवा दृष्टये = दर्शनं दृष्टिज्ञानं वा। सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के लिए हे पूषन् ! उस हिरण्यमय आच्छादन आवरण का अपावरण करो।

षोडश मन्त्र

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याण तमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥16॥

अनुवाद—हे समग्र जगत् के पालक पूषादेव, एकाकी गमन करने वाले सूर्यदेव, सर्वनियमनकारी यमदेव, हे प्रजापति नन्दन ! अपनी किरणों को समेट लो, तेज का उपसंहार कर लो, ताकि मैं आपका जो कल्याणकारी रूप है, उसे देखूं क्योंकि जो आदित्य मण्डलस्थपुरुष है, वही मैं हूँ।

व्याख्या – शंकर के अनुसार समग्र संसार का पोषण करने के कारण पूषा कहलाते हैं 'जगतः पोषणात्पूषा'। वे ही एक एव ऋषति=गच्छति जाते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'एकर्षि' याने अकेले चलने वाले सूर्य हैं। वे ही सब का नियन्त्रक संयमन करने के कारण यम कहलाते हैं। और प्राण और रसों को स्वीकार करने के कारण सूर्य कहलाते हैं "रश्मीना प्रणानां रसानां च स्वीकरणात् सूर्यः"—किरण। प्रजापतिपुत्र होने के कारण प्राजापत्य भी उन्हें ही कहते हैं। इस प्रकार के विशेषण विशिष्ट पूषा देवता सूर्य से प्रार्थना की जा रही है कि वे अपने तेज या सन्तापक तीव्र ज्योति को तथा अपनी किरणों को समेट लें। ताकि उनके सर्वकल्याणकारी परम सुन्दर स्वरूप का दर्शन उनकी कृपा से या स्वयं

की कृपा से (तत् ते=तव आत्मनः प्रसादात्) हो सके क्योंकि कहा गया है—"सूर्यं आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (सूर्य ही समग्र जगत् का आत्मा है)। इसीलिए आचार्य के अनुसार यह कोई याचना नहीं है। क्योंकि यह जो व्याकृति रूप अवयवों वाला आदित्यमण्डल में स्थित पुरुष है, जिसने प्राण और बुद्धि रूप से समस्त जगत् को पूर्ण किया हुआ है, तथा पुरुषाकार या शरीर रूप पुर में रहने के कारण (पुरि शयनाद्वा) पुरुष कहलाता है वह प्रार्थी (मैं) स्वयं ही है। वस्तुतः समष्टि-आत्मा सूर्य और व्यष्टि-आत्मा स्वयं का अभेद है। अन्यत्र उपनिषद् में कहा गया है कि जब वामदेव ऋषि को ब्रह्मज्ञान हुआ तो वे बोल उठे, "मैं ही मनु था और मैं ही सूर्य (तद्धैतद्ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च)।"

व्याहृतियां—तस्य भूरितिशिरः, भुव इति बाहुः

सुवरिति प्रतिष्ठा (भूः भुवः स्वः क्रमशः शिर, बाहु एवं चरण)

विमर्श—पूर्वमन्त्र के पूषादेवता से सत्य के हिरण्यमय आवरण के अपावरण की प्रार्थना है। यहां हिरण्यमय पात्र का स्वरूप और उसका अपावरण वर्णित है। सब प्राणियों के देहेन्द्रिय प्राण आदि के पोषक तथा अन्नादि के द्वारा भी समग्र सृष्टि के पोषक, सविता सूर्य ही पूषा है। यम, सूर्य, पूषा एक ही देव ब्रह्म कीं भिन्न-भिन्न आख्यात या नाम अथवा संज्ञाएं हैं।

एकर्षे=वह एक ही है। वही केवल मात्र गतिशील है, अकेला चलने वाला है। सबका पोषक है, सबके अन्तर में स्थित है तभी तो यम है, संयमन करता है अन्तर्यामी है इस रूप में 'तन्नैजति' और समस्त प्राणी इसी के द्वारा अनुप्राणित हैं, गतिशील है 'तदेजति'। वही सबका आत्मा है। इस तरह यहां इस पद के द्वारा हिरण्यमगर्भ, प्रपंच और ब्रह्म का एकत्व प्रदर्शित किया गया है। वह अद्वितीय है (द्वितीयो नास्ति) दूसरा है ही नहीं वही एकमात्र अपनी सत्ता से सर्वत्र व्याप्त है और उसी की सत्ता से सर्वत्र सत्ता का भान हो रहा है। वही अपनी सत्ता से सर्वत्र प्रसृत, व्याप्त, सर्वगत, सर्वग है। अन्यत्र भी "हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।" इस मन्त्र में भी 'एक' पद का प्रयोग है। समस्त प्राणिजात का वह एकमात्र स्वामी हिरण्यगर्भ है। सृष्टि से पूर्व वह एक ही था। उसी से सारे भूतजात प्रकट हुए हैं। सृष्टि से पूर्व एक और सृष्टिकाल में वही अनेक होता है, "एकोऽहं बहु स्याम् प्रजायेय।" तथा "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।" वही नाम-रूपात्मक व्याकृत अवस्था अनेकत्व है, और सृष्टि-कालीन स्थिति है। जब वह नाम रूप के बीजों की समष्टि अपने में समेट लेता है, तब प्रलयकाल में वह एक है और प्रपंच रूप में अनेक। अतः सृष्टिकाल में 'अनेकीकृत एकत्व' कहा जाता है और प्रलय में 'एकीकृत एकत्व'। यह एकत्व हिरण्यगर्भ में है और 'अनेकीकृत एकत्व' प्रपंच में है। यहां एक पद का मुख्यार्थ ईश्वर और लक्ष्यार्थ वही ब्रह्म है। गमनार्थक ऋष् धातु से ऋषि पद बना है अतः "ये ये गत्यर्थास्तेते ज्ञानार्था अपि।" के पाणिनीय सिद्धांत के अनुसार ऋषे पद का अर्थ ज्ञानस्वरूप भी होगा। सूर्य प्रकाशक है अतः ज्ञानस्वरूप भी है। इसीलिए सभी की बुद्धि का प्रेरक सूर्य को माना गया है। तदनुसार ही प्रार्थना है—"धियो यो नः प्रचोदयात्।" यही हिरण्यगर्भ (हिरण्य ज्योति जिसके गर्भ में हो) हिरण्यमय ज्योति है और इसी कारण से समष्टि अन्तःकरण का प्रकाशक भी है।

ऊपर कहा गया है कि नाम रूप समष्टि को अपने में समेट लेता है। जब नाम रूप समष्टि का लय होगा तभी ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप प्रकट होगा। यह नाम रूप समष्टि या इस मन्त्र में उल्लिखित रश्मियां ही हिरण्यमय विधान है, माया जो पुरुरूप (बहुरूप नाम आदि) को फैला रही है। उसके समेटे जाने पर ब्रह्म एक मात्र अद्वितीय, अपरिच्छिन्न स्वात्मा से एकाकार होगा="योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" अथवा समष्टि अन्तःकरण की समष्टि वासना ही रश्मियां है। उसके कारण चराचर जगत् के आत्मा सूर्य का आत्मस्वरूप ढका हुआ है। उनका निराकरण होने पर आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होगा। इसी भाव से प्रार्थना है—"व्यूह रश्मीन्समूह।" एक और भाव है—समग्र जगत् में समग्र अन्तःकरणों में प्रसृत व्याप्त समग्र नाम रूपों को स्पन्दित अनुप्राणित करती हुई अस्ति, भाति, प्रियम् रूप अनादि चिदाभास रूप रश्मियां है। और उनके कारण दृश्य प्रपंच में अहंत्व ममत्व का आभास हो रहा है और यही बन्धन है। और जब

चिदाभास रूप रश्मियां (जिसका संयमन करने के कारण सूर्य है) समेट ली जायें तो अनेकत्व की निवृत्ति होकर एकत्व या पारमार्थिक स्वरूप प्रकट होगा तब 'सोऽहमस्मि' या 'अहं ब्रह्मास्मि' भाव का उदय होगा। क्योंकि एक चिद्घन सूर्य ही समग्र चिदाभास का मूल स्रोत है। और ये चिदाभास, अग्नि के स्फुलिंगों के समान उसके प्रतीयमान अंश हैं। इसी को समझाने के लिए वेदान्त तथा उपनिषदों में लूता तन्तु का उदाहरण दिया है। मकड़ा जाला समेट लेता है क्योंकि वह उसी का फैलाव है। उसी प्रकार यहां रश्मियों का समूहन करने की प्रार्थना है। अन्य शब्दों में कहें तो अविद्या, वासना ही चिदाभास रश्मियां हैं। वही प्राणी को जकड़ लेती है, बांध लेती है। अतः बन्धन का कारण है। क्योंकि ये ही तो अन्तःकरण का निर्माण करती हैं—"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।" ज्ञान, कर्म और पूर्व प्रज्ञा, ये तीन तत्त्व अन्तःकरण के निर्माता हैं। ज्ञान या जानकारी के अनुसार कर्म, कर्म से संस्कार और उसके साथ पूर्वजन्म के संस्कार भी अन्तःकरण के निर्माण में समन्वित रहते हैं, अनादि अविद्या के कारण ही कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि के संस्कार अलग-अलग अन्तःकरण में अलग-अलग होते हैं। यही अलग-अलग चिदाभास रश्मियां यद्यपि जड़ हैं किन्तु सूर्य जगदात्मा चैतन्य के बिम्ब का आभास पाकर चैतन्यमान हैं इसीलिए इन्हें चिदाभास कहा गया है। प्रत्येक अन्तःकरण में अहंत्व, ममत्व की वासना इस चिदाभास प्रकाश के कारण ही बीजरूप में निहित है।

इसीलिए चिदाभास समष्टि हिरण्यगर्भ ही एक ऋषि है। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' वही मन्त्र द्रष्टा है और उसी के निःश्वास स्वरूप स्वतः आविर्भूत वेद राशि अनादि अपौरुषेय है, "यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।"

यम—पद से तात्पर्य अन्तर्यामी, सबके हृदय में स्थित रहकर, प्राणियों पर से नियन्त्रण करने वाला या शासन करने वाला है। वही सृष्टि कर्ता नाम रूप का निर्वाहक सविता भी है।

सूर्य—व्युत्पत्ति है, सूरिभिर्गम्यते=ज्ञायते इति सूर्यः=परमात्मा। जिसे जानने के लिए विद्वान् प्रयत्नशील रहते हैं, वह परमात्मा।

प्राजापत्य=प्राजापत्य अर्थात् प्रजापतिनन्दन=प्रजापति को आनन्दित करने वाला प्रजापति प्रिय। इस जगदात्मा परमात्मा ने ही प्रजापति को वेद का ज्ञान प्रदान किया अतः प्रजापति के प्रिय हैं। 'प्रजापतेरयं प्राजापत्यः'। जैसा कि कहा गया है, जिसने सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया और उन्हें वेद का ज्ञान प्रदान किया उस आत्मज्ञान के प्रकाशक देव की शरण में मैं मुमुक्षु भाव से जाता हूं।

"यो वे ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिं प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥"

व्यूह रश्मीन् समूह—तात्पर्य हुआ, चिदाभास से भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में चित् के नानात्व का भ्रम हो रहा है। अन्तःकरण भेद के कारण यह अन्तःकरण उपाधि है। किन्तु वह वस्तुतः एक है। जिस प्रकार दर्पण भेद से एक ही बिम्ब अनेक रूप में प्रकाशित होता है, जलपात्र भेद से एक ही चन्द्र के अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरण नानात्व से चिदाभास नाना रूप में आभासित होता है और यहां इस अन्तःकरणादि भेद रूप अज्ञानात्मक नाना रश्मियों की निवृत्ति की ही प्रार्थना की गयी है।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।—

ते दो बार आया है। अतः एक का अर्थ है आपका और दूसरे का अर्थ है आपकी कृपा से (तव प्रसादात्) अर्थात् रश्मिसमूह भूत हिरण्मय पात्र स्वरूप विधान या आवरण आपकी कृपा से दूर हो जाने पर आपका वह तेजोमय सर्वकल्याणकारी, सर्वान्तकरणस्थ एक रूप जिसमें रश्मि रूप नहीं है, जो सर्वावभासक है, उसे=उस ब्रह्मस्वरूप स्वात्माऽभिन्न रूप को मैं देखूं।

क्रतो पद भी दो बार आया है। उसका अभिप्राय है सूर्य मण्डलस्थ पुरुष या हिरण्यगर्भ 'वह मैं हूं'। पर दो बार आने से—प्रत्येक नाम रूप में भासमान जो सर्व व्यापक है वही मैं हूं। "योऽसावादित्ये पुरुषः, योऽसौ दक्षिणेऽक्षिणि पुरुषः सोऽहमस्मि।" का भाव स्पष्ट है। यह सायुज्यभाव है। प्रधानता 'सोऽहमस्मि' की है। जो सर्वत्र भासमान पुरुष है, जिसे अनेक रूपों में या विभिन्न चिदाभास रूप में देखता समझता जानता था वह एक है और वही मैं हूं "अहं मनुरभवं सूर्यश्च।" व्यूहरश्मिसमूहन से, शुद्ध चैतन्य स्वरूप जो सर्वावभासक, "चक्षुषश्चक्षुः", "प्राणस्य प्राणः" है परम प्रकाशक है उस परमात्मा पर ब्रह्म को ही स्वात्माऽभिन्न रूप में देख रहा हूं, यह तात्पर्य है।

सप्तदश मन्त्र

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर॥17॥

अनुवाद - यह प्राण वायु से उपलक्षित लिंग शरीर वायुरूप सूत्रात्मा से एक होकर अमृतत्व को प्राप्त हो। और यह स्थूल शरीर भस्म होकर अपने उपादान कारण पंच महाभूतों में मिल जाये। हे संकल्पात्मक मन! स्मरणीय का=(कृतम्) स्मरण कर अथवा कृत याने किए गए कर्मों का स्मरण कर। पुनः प्रयाण काल में स्वानुष्ठित श्रेष्ठ कर्मों का अथवा स्मरणीय परमात्मा का स्मरण कर।

व्याख्या—भगवत्पाद आचार्य शंकर के अनुसार यह मन्त्र मरणोन्मुख उपासक की प्रयाण कालीन प्रार्थना है। वह प्रार्थना करता है कि उसके प्राण वायु अध्यात्म परिच्छेद को छोड़कर अधिदेवात्मक सर्वात्मा वायुरूप अमृत सूत्रात्मा को प्राप्त हों। अर्थात् व्यष्टि प्राणों का समष्टि प्राण में लय हो जाये। कहा गया है—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते।" ब्रह्म ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते यहीं अमृत सूत्रात्मा को प्राप्त हो जाते हैं।

और ज्ञान कर्म के संस्कारों से युक्त यह लिंग शरीर उत्क्रमण करे। क्योंकि मार्ग की याचना की गयी है, तथा गति लिंग शरीर ही शास्त्रों में वर्णित है।

यह स्थूल शरीर भस्म होकर अपने कारण पंच महाभूतों से आ मिले। ओं, (ओम्) उपासना के अनुसार सत्य स्वरूप अग्निसंज्ञक ब्रह्म का प्रतीक है। अतः उसके द्वारा ब्रह्म स्मरण ही अभिहित है। प्रणव और ब्रह्म अभिन्न है। हे संकल्पात्मक मन! इस समय जो स्मरणीय है उसका स्मरण कर। उसी के स्मरण का समय है। इसलिए पुनः पुनः स्मरण कर (आदरार्थ पद की पुनरावृत्ति की गयी है।)

विमर्श—इससे पूर्व मन्त्र पर्यन्त, शुद्ध ज्ञान, धर्म, अर्थ काममोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय, ज्ञान में उपयोगी निष्काम कर्म आदि का वर्णन करते हुए ब्रह्मज्ञान से रहित व्यक्ति आत्मघाती होता है, यह बतलाया गया। ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य स्वरूप लक्षण, जीवन्मुक्त की विलक्षण अवस्था, ब्रह्मज्ञानी की महिमा, ब्रह्मज्ञान के लिए अन्तःकरण शुद्धि उसके हेतु अनासक्त कर्म, उपासना, उपास्य, कार्य ब्रह्म, कारण ब्रह्म, इनका समुच्चय तथा निन्दा समुच्चय ही अभिहित है। तत्पश्चात् इन्द्रिय संयमपूर्वक ब्रह्म की ओर ही जाना है यह बतलाते हुए उसके आवरण भंग की प्रार्थना की गयी है। आवरण भंग होने से मुक्ति और जिनका आवरण भंग नहीं होता उनकी कर्म उपासना कार्य ब्रह्म कारण-ब्रह्म आदि के ज्ञान के अनुसार गति होती है। उसी मरणोपरान्त गति और उसके लिए कर्तव्य का निरूपण सत्रहवें मन्त्र में किया गया है।

ब्रह्मज्ञान के द्वारा मूलाविद्या की निवृत्ति होती है। तदनन्तर लिंग शरीर का स्वकारण में लय होता है। किन्तु मूलाविद्या निवृत्त न होने की स्थिति में लिंग शरीर का लय नहीं होता। वह लिंग शरीर ही कर्म, ज्ञान और उपासना एवं इनके संस्कारों का वाहक माना गया है। और इन्हीं संस्कारों के अनुसार शरीरान्त के पश्चात् भिन्न-भिन्न गतियां प्राप्त

होती हैं। इस मन्त्र में जिस अमृत का प्रार्थना की गयी है, एक मतानुसार वह अमृत कर्मोपासना साध्य अमृत पद है, सिद्ध ब्रह्म सायुज्यामृत नहीं। अतएव यह प्रकृति लीनता की स्थिति को बतलाता है। और ऐसे प्राणियों को महाप्रलय के अनन्तर पुनः जन्म-मरण रूप संसार चक्र में आना पड़ जाता है। अविद्या निवृत्त हो जाये तब तो कृतम् या स्मरणीय के स्मरण का प्रश्न नहीं उठता। गीता में लिखा ही है कि प्रयाण काल में जिस भाव का स्मरण करते हुए देहपात होगा तदनुसार ही अग्रिम जन्म ग्रहण होगा।

"यं यं स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥'

इसी कारण से मृत्यु काल में स्मृति परिशुद्धि अत्यन्त आवश्यक मानी गयी है। यदि विस्मरण हुआ तो जड़ता की ओर जाना होगा। अतः स्मरणीय का स्मरण होना चाहिए, और यह स्मरणीय परमात्मा ही है। उसके अतिरिक्त स्मरणीय और कुछ नहीं हो सकता। "अथ काममयः पुरुषः" के सिद्धांतानुसार यह पुरुष संकल्पमय या संकल्प प्रधान है। अतः उसकी क्रिया, ज्ञान और गति भी संकल्पानुसारिणी ही होती है, जैसा कि उपर्युक्त गीता के श्लोक द्वारा बतलाया गया है। इसलिए परमात्मा परब्रह्म का स्मरण और उसके वाचक नाम प्रणव का ध्यान स्मरण करना प्रयाण काल में भी सर्वोत्तम सर्वोपरि माना गया है। इस दृष्टि से मन्त्र के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में प्रणव का पाठ हुआ है। जैसा कि कहा है —"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।" प्रणव, गीता के अनुसार एकाक्षर ब्रह्म है। प्रणव के ध्यान स्मरण से प्रपंचाकार-वृत्ति निवृत्त होने से जड़ता की भी निवृत्ति हो जाती है। यही नहीं, स्थूल देह से मोह भी समाप्त हो जाता है, क्योंकि प्रणव ध्यान और स्मरण के कारण अन्तर्मुखी वृत्ति हो जाती है। और मोह दूर होने से मृत्यु भय समाप्त हो जाता है। साथ ही प्रणव का उच्चारण, स्मरण, सूक्ष्म लिंग शरीर की उत्तम गति एवं जीवात्मा को कारणावस्था भी प्राप्त कर देता है। इस प्रकार प्रणव (ओं) का स्मरण मनुष्य को उत्तम गति प्राप्त कराता है। मन्त्र के अनुसार यह भी ज्ञातव्य है कि स्थूलशरीर की परिणति भस्म मात्र है, राख का ढेर है केवल। अतः स्थूल पांच भौतिक देह में ममत्व नहीं होना चाहिए। एवं प्रणव के उच्चारण ध्यान स्मरण द्वारा सूक्ष्म शरीर को सूत्रात्मा कारण अवस्था की ओर अग्रसर हुआ जाये, यही उत्तम मार्ग है।

अष्टादश मन्त्र

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्य जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

मन्त्रानुवाद— हे अग्ने, हे समस्त ज्ञान एवं कर्म को जानने वाले देव! हमें कर्मफलों के भोग के लिए शोभन मार्ग से ले चलें। तथा हमारे कुटिल वंचनात्मक पाप को विनष्ट करें। तब हम शुद्ध होकर अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेंगे। इस कारण से हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं।

व्याख्या —भगवान् शंकराचार्य के अनुसार "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" मन्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्तानुसार जो व्यक्ति अपरब्रह्म विषयक विद्या के साथ (जैसा कि—"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" तथा "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" मन्त्रों में बतलाया गया है), अविद्या=कर्म की उपासनापूर्वक जीवित रहना चाहता है वह किस मार्ग से अमृत पद प्राप्त करे यही विषय 15, 16, 17, 18 मन्त्रों का है। और इनमें देवयान मार्ग की याचना की गयी है।

प्रस्तुत मन्त्र में द्योतनात्मक देव अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि हे अग्निदेव! हमें आवागमन चक्र में फंसाने वाले दक्षिण मार्ग से न ले चल, अपितु सुन्दर उत्तरायण मार्ग से ले चल। सुपथा पद ही यह बतलाता है कि यहाँ दक्षिण मार्ग से भिन्न श्रेष्ठ उत्तरायण मार्ग की प्रार्थना की जा रही है।

प्रार्थना का कारण क्या है, और वह अग्निदेव से ही क्यों की गयी। उत्तर में आचार्य शंकर कहते हैं कि— अग्निदेव ही सम्पूर्ण कर्म, कर्मफल भोग और प्रज्ञान के ज्ञाता हैं। तथा जो यहां याचक हैं वे कर्म करते हुए जीवन की इच्छा वाले, कर्म और कर्मफल विशिष्ट हैं। अतः कर्मफल भोग के लिए अग्निदेव से शुभ मार्ग द्वारा ले जाने की प्रार्थना की गयी है। शुभ मार्ग से तभी जा पायेंगे जब पाप या अशुभ नष्ट हो। अतः पाप या अशुभ नाश की भी प्रार्थना की गयी है, कि हे अग्ने! आप हमें वंचनात्मक कुटिल (जुहुराणम्) पाप से छुटकारा दिलवा दें।

या हमारे उन पापों को नष्ट कर दें क्योंकि ऐसा होने पर ही हम अभीष्ट उत्तम गति को पा सकते हैं। किन्तु यह प्रयाणकाल है अतः समय है नहीं इसलिए हे अग्ने! हम आपकी विशेष सेवा परिचर्या नहीं कर सकते। इस कारण केवल बार-बार नमस्कार ही कर सकते हैं और वह नमस्कार भी केवल वचनमात्र से।

विमर्श — पूर्व मन्त्र में प्रणव पाठ के द्वारा मृत्यु के समय प्रणव के स्मरण का विधान किया। और इस मन्त्र में अग्निदेव से उत्तम उत्तरायण गति की प्रार्थना की गयी है। वेदों में अग्नि को ही ईश्वर का प्रतीक प्रकाशक दाहक अग्रणी माना गया है। अन्य देवों को, हवि पहुंचाकर अग्निदेव ही पुष्ट करते हैं अतः वे अग्रणी पुरोहित हैं जैसा कि ऋग्वेद के प्रारम्भ में ही "अग्नि मीळे पुरो हितम्" मन्त्र अग्नि की महत्ता को प्रकट करता है। देव का अर्थ ही प्रकाशक है। उपनिषदों में धूप मार्ग और अर्चि मार्ग बतलाये गये हैं। अर्चि द्योतमान मार्ग है अतः देव अर्थात् प्रकाश स्वरूप अग्नि देव ही उस मार्ग का प्रकाश कर सकते हैं। इसीलिए ऋग्वेद के प्रारम्भ में अग्नि स्तुति और यजुर्वेद माध्यन्दिनी तथा काण्व दोनों शाखाओं के अन्त में आया हुआ उपर्युक्त अग्नि से प्रार्थना परक मन्त्र वेदों में अग्निदेव के सर्वातिशायी महत्त्व को प्रकट करता है। यहाँ भी अग्नि देव से ही अर्चिमार्ग और उत्तरायण गति की प्रार्थना की गयी है। अग्नि और देव दोनों पद ईश्वर वाचक भी हैं अतः कर्माध्यक्ष, कर्मसाक्षी, तेजस्वी अग्निदेव कुटिल कर्मों को भस्म करने की सामर्थ्य रखते हैं। प्रवंचकता कुटिलता कभी परमात्मपद नहीं प्राप्त करा सकती। केवल ऋजुता, सरलता, निरभिमानता ही परमात्मपद प्रदान करा सकती है। इस उद्देश्य से, कुटिल प्रवंचकता नष्ट करने की प्रार्थना और सरलता निरभिमानता का द्योतक अग्निदेव को बार-बार नमस्कार किया गया है। भाव यह है कि उत्तम सद्गति एवं परमात्मा की प्राप्ति बिना शास्त्रोक्त सन्मार्ग का आचरण किये बिना नहीं हो सकती अतः कुटिल प्रवंचक पाप दूर रहकर सर्वदा सन्मार्ग का आश्रय लिया जाये। यही देव से प्रार्थना है ताकि देव सद्बुद्धि प्रदान करें और हम सन्मार्ग का अवलम्बन किये रहें। वैष्णवों के अनुसार यहां अपनी असामर्थ्य प्रकट करते हुए बार-बार नमस्कार ईश्वर के प्रति सर्वथा शरणागति का द्योतक है।

आचार्य शंकर के अनुसार ग्रन्थ का उपसंहार—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतनुते, (म० 11) विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते (म० 14) इन मन्त्रों को सुनकर यदि संदेह उत्पन्न हो जाये कि यहां विद्या शब्द से मुख्य परमात्मा विद्या या परमार्थ विद्या तथा अमृत पद से अमृतत्व अर्थ ही क्यों न लिया जाये? इस सन्देह का निराकरण आवश्यक है। सन्देह निराकरण के लिए आचार्य पूर्व में ही कह चुके हैं कि, परमात्माविद्या और कर्म का विरोध है इस कारण दोनों में समुच्चय नहीं हो सकता। किन्तु विरोध है कहां! क्योंकि विरोध का निर्धारण भी शास्त्र से ही होता है। और शास्त्र विद्या का भी विधान कर रहा है अविद्या का भी। जैसे शास्त्र कहता है—'मा हिंस्या : सर्वाभूतानि' उसी प्रकार उसके बाध का विधान भी करता है— 'अध्वरे पशुं हिंस्यात्'। कुछ इसी प्रकार का समुच्चय, विद्या अविद्या या विद्या और कर्म का भी सम्भव है यहां विरोध है या नहीं इसका निर्णय भी शास्त्र ही करेगा अतः देखना यह है कि अन्यत्र शास्त्र इस विषय में क्या निर्णय देता है। क्योंकि शास्त्र सर्वत्र एक रूप ही हुआ है।

कठोपनिषद् कहता है—'दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या।' इन दोनों की गति भिन्न है अतः दोनों विद्या अविद्या सर्वथा विपरीत हैं विरुद्ध है। यदि यह आशंका की जाये कि प्रस्तुत ग्रन्थ में समुच्चय विधान है अतः विरोध नहीं मानना चाहिए। तो उसका उत्तर होगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ में ही विद्या अविद्या के हेतु, स्वरूप और फल में

भेद है, विरोध है । अब प्रश्न यह है कि विद्या तथा इनका विकल्प नहीं हो पकता, इसलिए समुच्चय मानना चाहिए। क्योंकि विद्या अविद्या और उनका विरोध अविरोध ये सिद्ध पदार्थ हैं साध्य नहीं । सिद्ध पदार्थ पुरुषाधीन नहीं होते । और विकल्प पुरुषाधीन साध्य कोटि के पदार्थों या विषयों में ही होता है । जैसे 'उदिते जुहोति 'अनुदिते जुहोति,' यहां सूर्योदय के पश्चात् या पूर्व में से एक विकल्प संभव है । किन्तु सूर्य है, अग्नि उष्ण है, प्रकाशक है । ये सिद्ध कोटि के उदाहरण हैं। यहां विकल्प कथमपि नहीं हो सकता । अतः यदि विद्या अविद्या एक साथ नहीं रह सकती तो क्रमशः एक ही आश्रय में तो रह ही सकती है, यह भी एक आशंका है और इसके उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि दोनों का आश्रय एक नहीं हो सकता क्योंकि विद्या के प्रकट होते ही अविद्या तिरोहित हो जायेगी । और जहां अविद्या है वहां विद्या नहीं रह सकती। कारण यह है कि दो विरोधी ज्ञान, एक आश्रय में एक साथ कभी नहीं रह सकते। जैसे अग्नि उष्ण है, और शीतल है दोनों एकाश्रय में कैसे संभव हैं । जो उष्ण है वह शीतल नहीं हो सकता । उष्णता ज्ञान उत्पन्न होते ही शीतत्व ज्ञान को निरस्त कर देगा । इस प्रकार एक ही चित्तरूप आश्रय में दो विपरीत ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते और न ही ऐसे स्थल पर सन्देह या भ्रम की कोई गुंजाइश है ।

जब 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।' तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।" (म० 7) श्रुति के अनुसार शोक मोह आदि असम्भव हैं तब अविद्या कैसे रहेगी । क्योंकि यही तो अविद्या है । और यह विद्या उत्पन्न होने पर उपर्युक्त श्रुति के अनुसार अविद्या (शोक, मोह आदि) को नहीं रहने दे सकती । और जब अविद्या ही सम्भव नहीं, जो कि कर्म का उपादान कारण है तो तदाश्रित कर्म कैसे सम्भव हो सकते हैं ।

यहां 'अमृतमश्नुते' पद में अमृत को आपेक्षिक अमृत मानना चाहिए। विद्या शब्द का परमात्मविद्या अर्थ इसलिए भी नहीं लिया जा सकता कि 'हिरण्मयेन' आदि मन्त्रों के द्वारा अर्चि मार्ग आदि की याचना की गयी है जो परमात्म विद्या प्राप्ति के लिए अनावश्यक है, व्यर्थ है, निरर्थक है । परमात्म विद्यावित् के लिए उत्तम मार्ग याचना सर्वथा असम्भव है । अतः इस समग्र ग्रन्थ में उपासना के साथ ही कर्म का समुच्चय मानना चाहिए । परमात्मविज्ञान के साथ तो समुच्चय असम्भव ही है और शास्त्र विरुद्ध भी । अतः कर्मोपासना समुच्चय दृष्टया ही मन्त्र संगति और व्याख्या किया जाना समीचीन है ।

एम० ए० (पूर्वार्द्ध) | संस्कृत | प्रश्न-पत्र-६

छात्र-प्रश्न-पत्र

पाठ १

अनुक्रमांक.........................

प्राप्तांक...................%

प्राध्यापक के हस्ताक्षर.....................

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें :—

मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय,
५, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-११०००७

नाम..

पता..

....

पिन कोड..

शिक्षा-सत्र 2011-2012

१. 'यास्क एक बड़े भाषाशास्त्री थे' सिद्ध कीजिए।

2. शब्द के नित्यानित्यत्व के सम्बन्ध में निरुक्तानुसार विवेचना कीजिये

3. यास्क द्वारा उल्लिखित पूर्ववर्ती आचार्यों पर टिप्पणी लिखिये

एम० ए० (पूर्वार्द्ध) | संस्कृत | प्रश्न-पत्र-६

छात्र-प्रश्न-पत्र

पाठ 2

अनुक्रमांक...............

प्राप्तांक...........%

प्राध्यापक के हस्ताक्षर...............

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें—

मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय,
५, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-११०००७

नाम...............................

पता...............................

....

पिन कोड...............................

शिक्षा-सत्र

---

१. निरुक्त और निघण्टु पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

२. निरुक्त के प्रथम अध्याय में चर्चित विषयों पर—एक लेख लिखिए।

३. 'समाम्नायः समाम्नातः' इसकी व्याख्या कीजिए।

4. 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' इस विषय पर ऊहापोह पूर्वक विचार कीजिये।

5. 'निरुक्ताध्ययन की उपयोगिता' अथवा निरुक्त के प्रयोजन बतलाइये।

एम० ए० (पूर्वार्द्ध) संस्कृत प्रश्न-पत्र-६

छात्र-प्रश्न-पत्र

पाठ 3

अनुक्रमांक.............. प्राप्तांक..............%

प्राध्यापक के हस्ताक्षर..................

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें :—

मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय,

५, कैवेलरी लाइन्स,

दिल्ली-११०००७

नाम....................................
पता....................................
....
पिन कोड....................................

शिक्षा-सत्र

1. 'यास्क एक बड़े भाषाशास्त्री थे', सिद्ध कीजिये ।
2. 'निरुक्त व्याकरण का पूरक' विवेचन कीजिये ।

एम० ए० (पूर्वार्द्ध) **संस्कृत** **प्रश्न-पत्र-६**

छात्र-प्रश्न-पत्र

पाठ 4

प्राप्तांक……………

अनुक्रमांक…………… प्राध्यापक के हस्ताक्षर……………………

इस प्रश्न-पत्र के साथ अपना उत्तर-पत्र नत्थी करके निम्नलिखित पते पर लौटा दें—

मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय,
५, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-११०००७

नाम……………………………
पता……………………………
……………………………
……………………………
पिन कोड……………

शिक्षा-सत्र 2011-2012

१. 'अनर्थका हि मन्त्राः' इस उक्ति का विवेचन कीजिए।

२. 'मन्त्रों की अर्थवत्ता' के सम्बन्ध में 'कौत्स' का पूर्वपक्ष लिखकर—यास्क का सिद्धान्त बतलाइए।

३. 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' इसकी युक्तियुक्त विवेचना कीजिए।

४. 'मन्त्र सार्थक होते हैं' दोनों पक्षों की युक्तियाँ लिखिए।

एम० ए० (पूर्वार्द्ध)

संस्कृत

छात्र-उत्तर-पत्र —६ पेपर—१

प्राप्तांक………………%

अनुक्रमांक………… प्राध्यापक के हस्ताक्षर………………

इस प्रश्न-पत्र के साथ अपना उत्तर-पत्र नत्थी करके
निम्नलिखित पते पर लौटा दें—

मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय,
५, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-११०००७.

नाम	……………………………………
पता	……………………………………
	……………………………………
	……………………………………
पिन कोड	………………

शिक्षा-सत्र 2011-2012

१. 'नामानि आख्यातजानि' इस उक्ति का युक्तियुक्त विवेचन कीजिए।

२. 'सभी नाम आख्यातज नहीं होते हैं' गार्ग्य के इस मत का विस्तार से खण्डन कीजिए।

३. 'सभी शब्द व्युत्पत्तिजन्य होते हैं' सिद्ध कीजिए।

४. 'नाम क्रिया के आधार पर पड़ते हैं' इस सन्दर्भ में यास्क की अवधारणा लिखिए।

५. यास्क का सिद्धांत है—कि जिस 'नाम' में जिस किसी धातु से 'स्वर, संस्कार तथा अर्थ' का साम्य हो—उस धातु से निष्पन्न समझना चाहिए।

(तद् यत्र स्वर संस्कारो समर्थौ, प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितो स्याताम्। सर्वं प्रादेशिकम्' इसकी विवेचना कीजिए।)

एम० ए० (पूर्वार्द्ध) संस्कृत प्रश्न-पत्र-६

छात्र-प्रश्न-पत्र

पाठ ६

प्राप्तांक……………%

अनुक्रमांक……………

प्राध्यापक के हस्ताक्षर……………

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें—

मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय,

५, कैवेलरी लाइन्स,

दिल्ली-११०००७

नाम……………

पता……………

……………

पिन कोड……………

शिक्षा-सत्र: 2

१. 'उपसर्ग' किसे कहते हैं ? तथा वे कितने होते हैं ? सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।

२. 'उच्चावचा: पदार्था भवन्तीति गार्ग्य' इसकी व्याख्या कीजिए।

३. 'उपसर्ग द्योतक होते हैं' युक्तियुक्त विवेचना कीजिए।

४. उपसर्गों के सम्बन्ध में 'शाकटायन' एवं 'गार्ग्य' का मत बतलाते हुए यास्क की मान्यता लिखिए।

एम० ए० (पूर्वार्द्ध) | संस्कृत

छात्र-उत्तर-पत्र — ७

पेपर—६

प्राप्तांक..............%

अनुक्रमांक............

प्राध्यापक के हस्ताक्षर..................

इस प्रश्न-पत्र के साथ अपना उत्तर-पत्र नत्थी करके निम्नलिखित पते पर लौटा दें—

मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय,

५, कैवेलरी लाइन्स,

दिल्ली-११०००७.

नाम..................................

पता..................................

....

....

पिनकोड..................

शिक्षा-सत्र

१. निपात क्या होते हैं—तथा उनकी संख्या बतलाइए ।

२. यास्क के अनुसार निपातों के विभिन्न अर्थ लिखिए ।

३. 'कर्मोपसंग्रह' निपात कौन से होते हैं-विशद विवेचन कीजिए ।

४. निपातों का निर्वचन बतलाकर-निपातों के प्रयोग दिखलाइए ।

एम॰ ए॰ (पूर्वार्द्ध) — संस्कृत

छात्र-उत्तर-पत्र—४

पेपर—१

प्राप्तांक.................%

अनुक्रमांक............

प्राध्यापक के हस्ताक्षर.............

इस प्रश्न-पत्र के साथ अपना उत्तर-पत्र नत्थी करके निम्नलिखित पते पर लौटा दें—

मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय,
५, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-११०००७.

नाम..............................

पता..............................

....

पिनकोड......................

शिक्षा-सत्र 2011-2012

१ 'यास्क की निर्वचन-प्रक्रिया' पर एक टिप्पणी लिखिए।

२. द्वितीय अध्याय (निरुक्त के) में वर्णित 'निर्वचन' के सिद्धान्त बतलाइए।

३. यास्क द्वारा किये गये निर्वचनों की समीक्षा कीजिए।

४. निर्वचन करते हुए 'अर्थ की प्रधानता' (अर्थनित्यः परीक्षेत्) का विवेचन कीजिए।

५. 'निरुक्ति विज्ञान' (Etynology) के परिप्रेक्ष्य में 'निरुक्त शास्त्र' का महत्व प्रतिपादित कीजिए।

एम० ए० (पूर्वार्द्ध)

संस्कृत

छात्र-उत्तर-पत्र-9

पेपर—१

प्राप्तांक............%

अनुक्रमांक............

प्राध्यापक के हस्ताक्षर...............

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें—

मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय,
५, कैवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-११०००७.

नाम ....

पता ....

....

....

पिनकोड ....

शिक्षा-सत्र 2011-2012

१. 'वैदिक—देवता' से यास्क क्या मानते हैं —सारगर्भित टिप्पणी लिखिए।

२. 'मन्त्रों में देवता-परीक्षा' का प्रकार बतलाइए।

३. यास्क का मत बतलाते हुए —'देवताओं के आकार पर' एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए।

४. 'देवताओं की संख्या' या 'देवताओं का वर्गीकरण' के विषय में यास्क का मन्तव्य लिखिए।

एम० ए० (पूर्वार्द्ध)

संस्कृत

छात्र-उत्तर-पत्र-१०

पेपर—६

प्राप्तांक...........%

अनुक्रमांक.....................

प्राध्यापक के हस्ताक्षर..................

उत्तर-पत्र पूरा हो जाने पर निम्नलिखित पते पर लौटा दें—

मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय,
५, कवेलरी लाइन्स,
दिल्ली-११०००७.

नाम..

पता..

....

....

पिनकोड...................

शिक्षा-सत्र

१. 'अग्नि' देवता का विस्तार से विवेचन कीजिए।

२. 'जातवेदस्' शब्द यास्क के अनुसार किस देवता के लिए प्रयुक्त हुआ है—विस्तार से लिखिए।

३. 'वैश्वानर' का विशद विवेचन कीजिए।

४. अग्नि, जातवेदस् एवं वैश्वानर—'तीनों पार्थिव अग्नि हैं', समीक्षा कीजिए।